DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DTATE	SIGNATURE

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस

सौन्दर्य-विधान का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० जगदीश शर्मा

भारतीय शोध-संस्थान
गांधी शिक्षण-समिति, गुलाबपुरा (राज०)

ग्रन्थ

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस

सौन्दर्य विधान का तुलनात्मक अध्ययन

लेखक
डॉ० जगदीश शर्मा

©

प्रकाशक
भारतीय शोध-संस्थान
गांधी शिक्षण समिति
गुलाबपुरा

मुद्रक :
नवयुग प्रेस, जोधपुर

आवरण-शिल्पी
श्री हरगोविन्द सोमाणी

प्रतियां
११००

मूल्य :
पचीस रुपये

वश-परम्परागत सस्कृत-पांडित्य के धारक
मातुलश्री
पं० वासुदेव शर्मा 'चैनपुरिया'
की सेवा मे
सादर समर्पित

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस भारतीय साहित्य के दो बहुमूल्य रत्न हैं। दोनो के रचना काल मे सहस्राधिक वर्षों का व्यवधान है तथापि आदि कवि ने जिस भव्य काव्य-परम्परा का श्रीगणेश किया उसे मानसकार ने एक नूतन उत्कर्ष प्रदान किया है। मानस के कवि ने पूर्ववर्ती साहित्य का आभार स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है और वाल्मीकि के प्रति विशेष रूप से सम्मान व्यक्त किया है इसके साथ ही मानस मे पूर्व परम्परा से उसकी भिन्नता की ओर भी स्पष्ट सकेत मिलता है। रामचरितमानस को पूर्ववर्ती रामकाव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में रख कर देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मानस का कवि वाल्मीकि रामायण के प्रति सर्वाधिक सवेदनशील रहा है। मानस की कथा-विवृति, चरित्र प्रस्तुति, सावेगिक उद्दीप्ति और शिल्प विधि मे उसके अध्येता को कभी सादृश्य-रूप मे तो कभी प्रतिक्रिया रूप मे वाल्मीकि रामायण की झलक व्यापक रूप से मिलती है—कही वह वाल्मीकि की अनुसृष्टि प्रतीत होती है तो कही प्रतिसृष्टि, फिर भी समग्रत उसकी छाप रामायण से बहुत भिन्न और स्वतन्त्र रूप मे अंकित होती है।

रामायण के प्रति मानस के कवि की इस सवेदनशीलता, साथ ही स्वतन्त्र काव्य सर्जना को देखते हुए दोनो काव्यो का तुलनात्मक अध्ययन अपरिहार्य हो जाता है। यह तुलना एक ओर प्रसग-ग्रहण, भाव-ग्रहण, शब्द-ग्रहण आदि के रूप मे काव्य के ऊपरी स्तर पर हो सकती है तो दूसरी ओर काव्य-सृष्टि के अन्तर मे पैठकर कवियो के रचना-कौशल की तुलना से उनकी सौन्दर्य-विधान-प्रक्रिया और उनके काव्यो की प्रभाव-शक्ति के स्रोतो की गवेषणा की जा सकती है। काव्य-सौन्दर्य के सम्यक् मूल्यांकन के लिये द्वितीय प्रकार की तुलना ही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है और इसी दृष्टि से मैंने प्रस्तुत शोध-कार्य किया है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के तुलनात्मक अनुशीलन पर प्रस्तुत शोध-प्रबध से पूर्व दो ग्रन्थ प्रकाश मे आये हैं एक है डा० विद्या मिश्र का शोध प्रबन्ध–"वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस" तथा दूसरा है डा० रामप्रकाश अग्रवाल का अनुसधान-ग्रन्थ–''वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन''। प्रथम ग्रन्थ मे तुलना का आधार प्रायः साहित्य-सौन्दर्येतर रहा है। लेखिका ने अपने शोध प्रबध के

६३१ मुद्रित पृष्ठों मे से केवल २१ पृष्ठ "काव्य-कला" की तुलना को दिये हैं। कथा और चरित्रो की तुलना उन्होने विस्तारपूर्वक की है, किन्तु कथा की तुलना करते समय उनकी दृष्टि स्थूल विवरणो पर टिकी रही है और चरित्र-चित्रण की तुलना करते समय उन्होने चरित्रो को प्रसगानुसार खड-रूप मे उपस्थित किया है जिससे चरित्र अपनी समग्रता मे तुलना के विषय नही बन सके हैं। डा० रामप्रकाश अग्रवाल की दृष्टि कही अधिक सतुलित रही है। उन्होंने कथा और चरित्रो की तुलना के साथ रस, वर्णन और शैली को भी उचित मान दिया है, किन्तु उनकी कथा-तुलना भी स्थूल कथा-विवरणो तक सीमित रही है और उन्होने भी चरित्र-विम्बो को उनकी समग्रता मे ग्रहण न कर उनकी एक-एक विशेषता की तुलना की है जिससे तुलनीय चरित्रो का व्यक्तित्व बोध उभर नही सका है। इसके साथ ही वे अधिकाशतः काव्यशास्त्रीय लक्षणो का विनियोग खोजने मे व्यस्त रहे हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबध मे मेरा प्रयोजन एव पथ डा० मिश्र और डा० अग्रवाल से भिन्न रहा है। सौन्दर्य-विधान की तुलना के दो प्रमुख आधार होते हैं—१ सौन्दर्य-दृष्टि और २ सौन्दर्य सयोजन। कवि जिस रूप मे अपने काव्य-विषय का साक्षात्कार करता है वह उसके काव्य की कथा मे व्यक्त चेतना-व्यापार एव चरित्र-विधान का मूलाधार होता है और जिस रूप मे वह अपने कथ्य को समायोजित करता है—कथा को वह जिस ढग से सगुम्फित करता है, चरित्र-बिम्ब को जिस प्रकार उभारता है, सावेगिक पीठिका को वह जैसे पुष्ट करता है, जिस भाव व्यजना-कौशल का परिचय देता है, वर्णनों मे वर्ण्य को जिस प्रक्रिया से सम्मूर्तित करता है, शब्द-प्रयोग मे जो चमत्कार और भाषा पर जो अधिकार प्रकट करता है, अर्थोन्मीलन मे जिस नैपुण्य की अभिव्यक्ति करता है तथा लक्षित और उपलक्षित बिम्बो की सृष्टि मे कल्पना-शक्ति का जो वैभव व्यक्त करता है—वह सब उस रचना प्रक्रिया का अग है जो काव्य-सर्जना के अतर मे गतिशील रहती है। इसलिये सौन्दर्य विधान की तुलना स्थूल विवरणो के स्थान पर मुख्य रूप से कवि-कल्पना के विभिन्न व्यापारो के अध्ययन को अपना विषय बनाती है। काव्यशास्त्रीय अनुशीलन से काव्य-विषयक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की भिन्नता प्रधानतः इस तथ्य मे निहित है कि जहाँ काव्यशास्त्र लक्षण निर्धारण-रूढियो और वर्गीकरण के स्थैर्य को अगीकार करता है वहाँ सौन्दर्यशास्त्र एक समग्र और गतिशील प्रक्रिया के रूप मे कला-सौन्दर्य का विश्लेषण करता है। कथा, चरित्र, रस, वर्णन, सम्मूर्तन सम्प्रेषणादि सौन्दर्य विधान के विभिन्न पक्ष हैं, घटक-तत्त्व नहीं। प्रस्तुत शोध-प्रबध मे रामायण और मानस की तुलना उक्त प्रक्रिया को ध्यान मे रख कर की गई है। फलत उसमे विवेचन और निष्कर्षों की नूतनता देखी जा सकती है :

कथा विन्यास की तुलना मे दोनो काव्यो मे चित्रित मानव-व्यवहार मे अतर्निहित चेतना-व्यापार के निरूपण—परिवेश, प्रत्यक्षीकरण, प्रेरणा, प्रयोजन,

मूल्य-बोध, उत्तेजना, प्रतिक्रिया आदि की अन्त.क्रिया—और उसके माध्यम मे कवि के यथार्थ बोध तथा उसकी कथा की विश्वसनीयता का विश्लेषण करते हुए कथा की प्रभाव शक्ति के घटक तत्वों—प्रसग-कल्पना, मानसिक तनाव, उदात्तता आदि—की समीक्षा की गई है। इसके साथ ही प्रसग-सग्रथन-कौशल का विश्लेषण करते हुए पूर्वपीठिका-सृष्टि, विस्तार-सयोजन, अन्विति, वेग और अवान्तर कथा-समायोजन-पद्धति की तुलना भी की गई है।

चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत चरित्र-व्यजक स्थलो अथवा चरित्रगत विशेषताओ की तुलना न करके पात्रो के व्यक्तित्व अपनी समग्रता मे उपस्थित किये गये हैं और इस प्रकार समग्र चरित्र बिम्बो की तुलना करते हुए चरित्रविधानगत सौन्दर्य के अन्तर्गत पात्रों के व्यक्तित्व की स्वायत्तता, यथार्थता, शीलाभिव्यजना, उदात्तता और चरित्र की मूर्तता का विश्लेषण किया गया है।

रस-योजना की तुलना करते समय मैं न तो काव्यशास्त्र की रूढियों को मान कर चला हूँ और न मैंने उनकी अवहेलना ही की है। विभावानुभाव व्यभिचारी के परिगणन अथवा उल्लेख को मैं पर्याप्त नही मानता। इसलिये मैंने परिस्थिति की समग्रता मे रस-व्यजना खोजने का प्रयास किया है और उसी के अनुसार आलम्बनधर्मिता, आश्रयत्व और सावेगिक योजना का विवेचन किया है। परिस्थितिगत समग्रता को रस-योजना का आधार मानकर चलने पर वाल्मीकि रामायण मे मुझे कुछ ऐसी रस-स्थितियो का पता चला जो काव्यशास्त्र समर्थित नही हैं। मदाकिनी-शोभा-दर्शन के प्रसग मे शान्त और शृगार जैसे विरोधी रसों का सम्मिलन काव्यशास्त्रीय रूढियो के लिये अचिन्त्य है। इसी प्रकार सीता-निर्वासन के अवसर पर राम की आत्मग्लानि मे आश्रय और आलम्बन का अद्वैत काव्यशास्त्रीय दृष्टि से कदाचित् असमाधेय है। रामचरितमानस मे भरत के दिव्य चारित्रिक उत्कर्ष के प्रति कवि की विस्मयाभिभूति से लौकिक स्तर पर अद्भुत रस की जो व्यजना हुई है वह विलक्षण है। परिस्थिति और कवि-दृष्टि के सन्निकर्ष से रसाभास आदि रस-स्तरो की गवेषणा भी प्रस्तुत शोध प्रबध मे की गई है।

अगी रस और प्रधान रस की भिन्नता के प्रति मैं जागरूक रहा हूँ और इस लिये वाल्मीकि रामायण मे अगी रस की अनुपस्थिति स्वीकार करते हुए प्रधान रस की सत्ता मानी गई है। मानस के अगी रस के रूप मे भक्ति रस की बहुरूपी अभिव्यक्ति उद्घाटित की गई है।

वर्णन-सौन्दर्य की तुलना के अन्तर्गत परिदृश्य चित्रण की यथार्थता, सूक्ष्मता और व्यापकता का विश्लेषण करते हुए दृश्य-दर्शन के सदर्भ मे द्रष्टा की चेतना के उन्मीलन का विचार केवल उद्दीपन-रूप मे सीमित नही रहा है,

बल्कि प्रकृति सवेदन, प्रक्षेपण, उत्प्रेक्षण और साहचर्य-बोध का विश्लेषण भी किया गया है। वस्तुगत सौन्दर्य के साथ कवि के वर्णन नैपुण्य का विवेचन भी सम्बन्धित प्रकरण मे किया गया है। सम्प्रेषण एव सम्मूर्तन-व्यापार की तुलना करते समय काव्य-ग्रहण-प्रक्रिया ध्यान मे रखी गई है। वर्णध्वनि, शब्दार्थ, अर्थ सयोजन, बिम्ब विधान, भाव व्यजना और समग्र प्रबध-विधान के सौन्दर्य को जिस क्रम से (भले ही वह असलक्ष्यक्रम हो) सहृदय ग्रहण करता है तदनुसार दोनो काव्यो के शिल्प विधान की तुलना की गई है। इसलिये अलकारो का विचार एक स्थान पर न करके ग्रहणक्रमानुसार वर्णध्वनि, शब्द प्रयोग, अर्थोन्मीलन और बिम्ब-योजना के उपकारक तत्वो के रूप मे यथास्थान उनका विवेचन किया गया है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के काव्य सौन्दर्य के विभिन्न पक्षो की तुलना करते हुए मैं अतत इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि दोनों काव्यो मे जो व्यापक अन्तर दिखलाई देता है उसका मूल कवियो के व्यक्तित्व और फलत सौन्दर्यबोध-निर्भर रचना प्रक्रिया की भिन्नता मे निहित है। वाल्मीकि का व्यक्तित्व सम्प्रतीत्यात्मक(इट्यूटिव) था और तदनुसार उनके काव्य का सौन्दर्य दृष्टिनिर्भर है जिसमे चित्रण की अनासक्तता, यथार्थता, सूक्ष्मता और व्यापकता अगभूत है। इसके विपरीत तुलसीदास का व्यक्तित्व भावप्रवण (इमोशनल) था जिसकी परिणति भक्ति की एकाग्रता और नैतिकता के प्रति प्रबल आग्रह के रूप मे हुई है। इस प्रकार भक्ति भी मानसकार के सौन्दर्यबोध का अग रही है और उस रूप मे उसने मानस मे काव्य-सौन्दर्य को प्रभावित किया है। मानसकार के सौन्दर्यबोध मे भक्ति और नीति की एकाग्रता के साथ ही प्रबल सयोजन क्षमता भी सम्मिलित है। मानस के काव्य-सौन्दर्य मे सयोजन-क्षमता और भक्तिजनित एकाग्रता की मुख्य भूमिका रही है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबध मे दोनों काव्यों के सौन्दर्य विधान के मूल मे अन्तर्निहित उनके स्रष्टाओ के सौन्दर्यबोध की भिन्नता उद्घाटित की गई है।

हिन्दी मे सौन्दर्यानुशीलन का कार्य अभी सैद्धातिक और व्यावहारिक दोनो रूपो मे प्रारभिक अवस्था मे है। अतएव काव्यकृतियो के सौन्दर्य-विधान की तुलना से पूर्व तुलना के आधार का स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बध मे मेरा विनम्र मत यह है कि भारत मे स्वतत्र रूप से सौन्दर्यशास्त्र का अस्तित्व न होने पर भी भारतीय काव्यशास्त्र मे सौन्दर्य चिन्तन के विभिन्न तत्त्व व्यापक रूप से अतर्भूत हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायो मे सौन्दर्य-वाचक शब्दावली का समावेश होने के साथ सभी सम्प्रदायो की काव्यदृष्टि सौन्दर्यमूलक रही है। 'काव्य सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र' पुस्तक मे मैंने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की है। विषय-प्रवेश मे

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों की सौन्दर्यवाचक शब्दावली और सौन्दर्य-दृष्टि के साथ पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की उपलब्धियों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए भारतीय एवं *पाश्चात्य काव्य-सौन्दर्य-चिन्तन के सादृश्य और विभेद का विचार भी किया गया है।* उक्त विवेचन के प्रकाश में वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के सौन्दर्य विधान के विश्लेषण के लिये यथासंभव समन्वित मार्ग ग्रहण करने की मेरी चेष्टा रही है। इसलिये प्रत्येक अध्याय के आरंभ में समन्वय-दृष्टि से निर्धारित प्रतिमानों की भी संक्षिप्त चर्चा कर दी गई है। इस प्रकार उक्त काव्यों की तुलना करने के साथ-साथ *प्रतिमान-निर्धारण का कार्य भी प्रस्तुत शोध-कार्य का एक अंग रहा है—विद्वान् चाहे* तो इसे उपलब्धि भी कह सकते हैं।

शोध-प्रबंध के अध्यायों का विभाजन मैंने प्रबंध-काव्य के विभिन्न पक्षों को दृष्टि में रखकर किया है। कलाओं के अंतस्संबंध और उनकी मूलभूत एकता को तो मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु माध्यम-भेद से प्रत्येक कला के वैशिष्ट्य पर भी बल *देना चाहता हूँ। इसलिये मैंने सौन्दर्य, कल्पना, प्रतीक, बिम्ब आदि सामान्य कला-*तत्त्वों के आधार पर समीक्ष्य काव्यों का विश्लेषण न कर प्रबंध-काव्य-सौन्दर्य के विभिन्न पक्षों को दृष्टि में रखते हुए रामायण और मानस के सौन्दर्य-विधान का तुलनात्मक अनुशीलन किया है। तत्त्वों के आधार पर सौन्दर्य-विधान का अनुशीलन मुझे युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। सौन्दर्य विधान एक संघटनात्मक प्रक्रिया है जिसके विविध पक्षों का विश्लेषण तो किया जा सकता है, किन्तु पृथक्-पृथक् तत्त्वों के विवेचन से उसकी गतिशील समग्रता खंडित हो जाने की पूरी आशंका रहती है।

सैद्धांतिक विश्लेषण के लिये मैं भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों की उपलब्धियों का आभारी हूँ किन्तु उभयपक्षीय विचारणा में सामंजस्य स्थापित करते हुए मैंने जो समन्वित मार्ग खोजा है वह मेरा मौलिक प्रयास है। समन्वित सिद्धांतों के निर्धारण के उपरांत उनके प्रकाश में जो विषय-प्रतिपादन किया गया है वह पूर्णतया मौलिक है। पूर्वस्थापित मान्यताओं की पुनरावृत्ति अथवा उद्धरण संग्रह की चेष्टा मैंने कहीं नहीं की है। विद्वानों के मत अधिकांशत वहीं उद्धृत किये गये हैं जहाँ उन्हें निरस्त करना अभीष्ट रहा है। अपनी स्थापनाओं या मान्यताओं के समर्थन के लिये *अत्यल्प मात्रा में ही अन्य समीक्षकों के मतों का उपयोग किया गया है।*

सैद्धान्तिक स्तर पर पूर्वी एवं पाश्चात्य काव्यचिन्तन और सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धांतों के सामंजस्य से जो समन्वित मार्गान्वेषण किया गया है तथा उसका अनुसरण करते हुए वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के विभिन्न पक्षों की तुलना में जो निष्कर्ष निकाला गया है उससे विद्वानों को यदि संतोष हुआ तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

अपना यह शोध-प्रबध प्रस्तुत करते समय श्रद्धेय गुरुवर डा० सरनामसिंहजी शर्मा के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझता हू। चरम निराशा और शैथिल्य के क्षणो मे उनके आशीर्वाद से मेरे भीतर स्फूर्ति का सचार हुआ है और उनकी कृपा से मुझे बल मिला है। उनके विद्वत्तापूर्ण दिशा-निर्देश के सम्बध मे गोस्वामीजी की निम्नलिखित पक्तियाँ चरितार्थ होती हैं—

श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती ।।
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू ।।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दु ख भव रजनी के ।।
सूझहि रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहं जो जेहि खानिक ।।

साहित्यानुरागी सुहृद्वर श्री रामभरोसेलाल अग्रवाल के साथ समय-समय पर जो विचार-विमर्श हुआ उसके प्रति धन्यवादार्पण मे अनरग आत्मीयता के कारण मुझे सकोच होता है। वाणिज्य-विभाग मे प्राध्यापक होते हुए भी साहित्य मे उनकी जो अनुरक्ति और गति है वह वस्तुत उत्साह-वर्द्धक और प्रेरणाप्रद है। उन जैसे मित्रो का सान्निध्य मानस की सत्सग-महिमा को मूर्त रूप देता है।

१५ अगस्त १९६६ जगदीश शर्मा

प्राचीन भारतीय काव्य-चिन्तन की सौन्दर्य-दृष्टि

दो प्रमुख खेमे ७

रूपवादी सिद्धान्त-समुदाय ९

अलंकार-९ अलंकार और सर्जनात्मक कल्पना-९ 'रूप' की भूमिका-११, वक्रोक्ति-१२, *परकीयावत्-१२, वक्रोक्ति और मानसिक अन्तराल-१४, अर्थशास्त्रीय* विश्लेषण-१५, रीति-१६, द्विविध सौन्दर्य-१६, पद-संघटन-सौन्दर्य-१७, शैलीगत सौन्दर्य के प्रमुख रूप-१८

आस्वादनवादी सिद्धान्त-समुदाय १८

ध्वनि-सिद्धान्त-१९, स्फोट-सिद्धान्त और गेस्टाल्ट मनोविज्ञान १९ समग्रता के विविध स्तर-२१, *रस सिद्धान्त-२२, आस्वादन की अनेककल्पना-२२*, रस-प्रक्रिया-२३, साधारणीकरण और तादात्म्य आधुनिक दृष्टि-२३, सत्त्वोद्रेक और मानसिक अंतराल-२४, अभिव्यंजना अभिनवगुप्त और जार्ज सतायना-२६, करुणरस की समस्या अभिनवगुप्त रिचर्ड्स, सतायना और बुलो-२७, साधारणीकरण-विषयक आपत्तियाँ व्यक्तिपरक आस्वाद-सिद्धान्त और व्यक्ति-वैचित्र्य-३०

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की उपलब्धियाँ ३३

सौन्दर्य-बोध-३२, उदात्त तत्त्व-३३, कला-सृष्टि-३४, कलास्वादन-३६, त्रासदी-जन्य आनन्द की समस्या-३६, कला-सौन्दर्य की अभिव्यंजना-३७,

भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्य दृष्टि : सादृश्य और विभेद ३८

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के सौन्दर्य विधान की तुलना का आधार ३९

मानस में सौन्दर्य-दृष्टि और धार्मिक प्रयोजन का सन्तुलन-४०, पूर्ववर्ती राम-काव्य से भिन्नता की ओर संकेत-४२, वैविध्यमय रामकाव्य के समाहार की समस्या-४३, सौन्दर्य विधान विषयक तुलना की आवश्यकता-४४।

२. कथा-विन्यास

४५-१२३

कथा-सौन्दर्य के प्रतिमान ४५

यथार्थमूलक विश्वसनीयता ४७

विश्वामित्र की याचना-४९, अहल्योद्धार-५०, मिथिला प्रकरण-५२, अयोध्या-काण्ड स्थूल साम्य और सूक्ष्म विभेद-५९, दशरथ-परिवार की आतरिक स्थिति परिवेशगत भिन्नता-५९, मंथरा की पिशुनता के प्रति कैकेयी की प्रतिक्रिया-६५, मथरा की योजना और कैकेयी का हठ-६६, निर्वासन की प्रतिक्रियाएँ-६७, राम की प्रतिक्रिया-६८, कौसल्या की प्रतिक्रिया-६९, लक्ष्मण की प्रतिक्रिया-७० दशरथ की प्राणातक व्यथा और उनके प्रति कौसल्या का व्यवहार-७१, भरत की प्रतिक्रिया-७३, चित्रकूट-प्रकरण-७६, दिशान्तरण-७९, सघर्ष का प्रारम्भ-८०, सीताहरण की प्रेरणा-८१, सुग्रीव से भेंट-८२, राम की धर्मपरायणता को वाली की चुनौती और अतत आत्मसमर्पण-८६, सुग्रीव के प्रति लक्ष्मण का क्रोध और तारा द्वारा उसका शमन-८९, सुग्रीव के प्रति अगद का विद्रोह-९१, सीता की खोज ९२, सीता का क्लेश ९३, सीता की वेदना-९४, अशोकवन-विध्वस और लङ्का-दहन-९४, विभीषण का आचरण-९५, युद्ध-प्रकरण-९६ अगद-रावण-सवाद-९६, वाल्मीकि रामायण मे सीता और राम का मनोबल तोडने के प्रयत्न-९७, मानस मे रावण के मनोबल का क्रमिक ह्रास-९७, राम का भ्रातृ-शोक और रावण का पुत्र शोक-१००, विभीषण का शोक-१०२, अग्नि-परीक्षा-१०२, अयोध्या-प्रत्यावर्तन-१०३, दो सुत सुन्दर सीता जाए-१०४

प्रसग-कल्पना और मानसिक तनाव १०५

उदात्त-प्रसग १०९

प्रसग-सप्रथन-कौशल और अन्विति-सयोजन १११

पूर्वपीठिका-सृष्टि-११२, सूक्ष्म विस्तार-सयोजन-११४, अन्विति और वेग-११५, आरोह-अवरोह-११८, पूर्वसकेत-११९, अवातर कथाओ का समायोजन-११९

निष्कर्ष १२२।

३. चरित्रविधानगत सौन्दर्य

१२५-१९९

दृष्टि-बोध १२५

पात्र का स्वतत्र व्यक्तित्व-१२५, चरित्र की यथार्थता और मनोविज्ञान-१२६, उदात्तता-१२६ चरित्र-बिम्ब-१२७, सगति-१२७, अन्विति-१२८, तुलना-पद्धति-१२८, वर्गीकरण का प्रश्न-१२९

समग्र व्यक्तित्व-समीक्षा १३०

राम : वाल्मीकि के राम-१३०, तुलसीदास के राम-१३५, लक्ष्मण : वाल्मीकि रामायण के लक्ष्मण १४०, मानस के लक्ष्मण-१४३, भरत रामायण के भरत-१४६, मानस के भरत-१४७, सीता वाल्मीकि की सीता-१५०, मानस की सीता-१५२, दशरथ वाल्मीकि के दशरथ-१५५ तुलसीदास के दशरथ-१५७, कौसल्या वाल्मीकि की कौसल्या-१६१, मानस की कौसल्या-१६२, कैकेयी : वाल्मीकि की कैकेयी-१६४, मानस की कैकेयी-१६७, मथरा वाल्मीकि की मथरा १७०, तुलसीदासजी की मथरा १७०, सुग्रीव रामायण का सुग्रीव-१७२ मानस का सुग्रीव-१७३ वाली रामायण का वाली १७४ मानस का वाली-१७५, अगद वाल्मीकि का अगद-१७६, मानस का अगद-१७७; हनुमान : रामायण के हनुमान-१७९, मानस के हनुमान-१८०, सूर्पणखा वाल्मीकि की शूर्पणखा-१८२ मानस की शूर्पणखा-१८३, विभीषण वाल्मीकि का विभीषण-१८४, मानस का विभीषण-१८५, रावण : वाल्मीकि का रावण-१८६, मानस का रावण-१८८,

चरित्र-दृष्टि एव सर्जन-कौशल १९३

पात्रो की स्वायत्तता-१९४, चारित्रिक यथार्थता-१९५, शीलाभिव्यजना-१९६, उदात्तता-१९६, चरित्र बिम्ब सगति और अन्विति-१९७;

निष्कर्ष १९७।

४ रस-योजना एवं सावेगिक सौन्दर्य
२०१-२५८

सैद्धान्तिक पीठिका २०१

रस-दृष्टि की व्यापकता-२०१, रस-योजना रस का वस्तुगत आधार-२०३, रस-योजना और सौन्दर्य-व्यजना-२०३, रसानुभूति के विविध स्तर-२०५, रस के सम्बध मे मानसकार का विशिष्ट दृष्टिकोण-२०७;

भक्ति रस २०८

मानस मे बहुरगी भक्ति रस-२०९, अद्भुतमूलक भक्ति रस-२०९ अनुरक्तिमूलक भक्ति रस-२१०, वात्सल्यमूलक भक्ति रस-२१० दास्यमूलक भक्ति रस-२११, भयमूलक भक्ति रस-२१३,

शृंगार रस २१३

रामायण मे अत्यत सीमित सयोग शृगार-२१४, मध्यवर्ती रामकाव्य की देन-२१५, मानस मे अयोग (पूर्वराग) शृगार-२१६, सयोग शृगार-२१८, वियोग शृगार-२१८ शृगार रसाभास-२२५,

वीर रस २२५

राम के पराक्रम की प्रथमाभिव्यक्ति-२२५, राम के पराक्रम की सार्वजनिक अभिव्यक्ति-२२६, वीर-शृगार-मैत्री-२२७, वाल्मीकि रामायण मे उभय पक्षीय वीरता-२२८, वाल्मीकि रामायण मे नायकेतर पात्रो की वीरता-२२६, मानस मे प्रतिपक्ष की हीनता-२२६, एक शास्त्रीय प्रश्न-२३०, वीर रसाभास-२३०;

करुण रस २३०

निर्वासन प्रसग मे करुण रस-२३१, लक्ष्मण मूर्च्छा और करुण रस-२३४, सीता-परित्याग की करुण परिणति-२३६, भावस्तर पर शोकाभिव्यक्ति-२३७,

वात्सल्य रस २३७

वाल्मीकि रामायण मे वाली का वात्सल्य-२३८, मानस मे वात्सल्य के विविध रूप-२३६

अद्भुत रस २४१

हास्य रस २४२

वाल्मीकि रामायण मे अस्थान पर हास्य रस का प्रयोग-२४२, उपयुक्त स्थान पर हास्य रस २४३, शूर्पणखा-प्रसग मे हास्य रस की भिन्न प्रकृति-२४३, व्यग्यमिश्रित हास्य-रस २४४, मानस का केवट-प्रसग और हास्य रस-२४५;

रौद्र रस २४५

मथरा के प्रति शत्रुघ्न का रोष २४६, सुग्रीव के प्रति राम-लक्ष्मण का रोष-२४७, सागर-बधन-प्रसग मे रौद्र-रस २४८ रौद्र रसाभास-२४८

बीभत्स रस २४६

रूढ अर्थ मे बीभत्स रस-२४६, व्यापक अर्थ मे बीभत्स रस-२४६;

भयकर रस २५०

शांत रस २५०

अगी रस और प्रधान रस का प्रश्न २५१

निष्कर्ष २५३।

५. वर्णन-सौन्दर्य

२५६—३००

निकष २५६

द्विधा-सौन्दर्य-२५६, वर्ण्य-सौन्दर्य-२६०, निरीक्षण-शक्ति-२६० चयन-कौशल-२६१, समग्राकृति (गेस्टाल्ट)-सर्जना-२६१ अन्विति और यथार्थ-बोध-२६२, दृश्य और द्रष्टा-२६२, उद्दीपन-रूप-२६२, दोहरी गति-२६२, काव्य की समग्रता मे वर्णन-सौन्दर्य-२६३;

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस में प्रकृति-वर्णन २६३
परिदृश्य २६४
    रमणीय दृश्य-२६८, कृषि-चेतना-२६९, प्रकृति-परिवर्तन-२७०, सामयिक प्रभाव-२७२,
प्रकृति-संवेदन
    साहचर्य २७६, उद्दीपन शक्ति-२७७, उत्प्रेक्षण, प्रक्षेपण और भावारोप-२८०, प्रकृति पर प्रकृति का आरोप-२८३;
प्रकृति और चेतना-प्रवाह की टकराहट २८३
प्रकृति-वर्णन पद्धति २८४
अन्य वर्णन २८५
    रूप-वर्णन-२८५, यात्रा-वर्णन-२९१, समारोह वर्णन-२९४, युद्ध वर्णन-२९७, नगर वर्णन-२९८;
प्रबंध-शृंखला में वर्णनों की स्थिति २९९
निष्कर्ष ३००

६. सम्प्रेषण एवं सम्मूर्तन
३०१-३६२

विभिन्न पक्ष ३०२
    काव्य-भाषा-३०२, भाषा का इन्द्रियगोचर पक्ष-३०२, अर्थोन्मीलन और शब्द-शक्तियाँ-३०२, बिम्ब-विधान-३०५, प्रतिबिम्बात्मक या लक्षित बिम्ब-३०५, उपलक्षित बिम्ब-३०५, लक्षणा का योग-३०६, बिम्ब-योजना के विभिन्न-रूप-३०६, छंद-योजना और संगीत-तत्त्व-३०६, रूपातिशयी काव्य-सौन्दर्य-३०७;
भाषा-सौन्दर्य ३०७
    भाषा का इन्द्रियगोचर पक्ष-३०८, आवृत्तिमूलक वर्णध्वनि-सौन्दर्य · अनुप्रास की छटा-३०८, अनुरणनात्मक प्रभाव की सृष्टि-३१५, भाषा-संगठन और गुण-सम्पन्नता-३१६, पद-संघटन-चमत्कार-३२०, अर्थव्यक्ति, परिकर और परिकरांकुर-३२२, बल (Stress) और प्रभाव-साधनत-३२५;
भाव-व्यंजना-पद्धति ३२६
    अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से भाव-व्यंजना-३२८, प्रस्तुत-अप्रस्तुत-संश्लेषण के माध्यम से भाव-व्यंजना-३२८, उक्तियों के माध्यम से भाव-व्यंजना-३२९, मानस का वैशिष्ट्य-३३०;
बिम्ब-विधान ३३१
    लक्षित बिम्ब-३३२, उपलक्षित बिम्ब और अप्रस्तुत-योजना-३३४, वैपरीत्य-योजना-३४०, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता-३४२, बिम्ब-संप्रथन-३४५, छंद-योजना

का योगदान-३४७,
प्रबंध-कल्पना ३४८
अन्विति-३४९, विस्तार और गति-३५०, मार्मिक स्थलो का उपयोग-३५०, स्थानीय रग-३५१ सवाद-सौष्ठव ३५१, धर्म और नीति का अन्तर्भाव-३५२, शैलीगत उदात्तता-३५८,
निष्कर्ष ३५९

७. उपसंहार
३६३-३७२

दो स्वतत्र सौन्दर्य-सृष्टियाँ ३६४
काव्य-शिल्प की भिन्नता ३६५
सौन्दर्य-बोध एव रचना-प्रक्रिया-विषयक अतर ३६७
निष्कर्ष ३७१

संदर्भ-ग्रन्थ
३७३-३७६

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस

सौन्दर्य-विधान का तुलनात्मक अध्ययन

१

विषय-प्रवेश

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में गोस्वामी तुलसीदासजी ने काव्य-सौन्दर्य विषयक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र उपस्थित करते हुए उसके साथ काव्य-सौन्दर्य के आस्वादन पक्ष को संलग्न कर दिया है। यहाँ मानसकार ने काव्यास्वादन के लिये 'रस' जैसे किसी पारिभाषिक शब्द का प्रयोग न कर 'छबि' शब्द का प्रयोग किया है जो सौन्दर्य का पर्याय है और 'रस' जैसे किसी भी पारिभाषिक शब्द से कहीं अधिक व्यापक अर्थ को अपने में समाहित किये है। ध्यान देने की बात है कि मानस के कवि ने काव्य-सौन्दर्य को अन्य सुन्दर वस्तुओं के परिपार्श्व में उपस्थित किया है जिससे यह संकेत मिलता है कि उसकी दृष्टि में काव्य सौन्दर्य भी मूलतः व्यापक सौन्दर्य-चेतना का ही एक अंग है। सौन्दर्य की सार्थकता आस्वादन में है[2] और इसलिये काव्य सौन्दर्य का सम्बन्ध भी आस्वादन से है। 'रस,' जो काव्य स्वादन का सर्वाधिक भास्वर रूप है, सामाजिक में ही अभिव्यंजित माना गया है।[3] इसी प्रकार काव्य सौन्दर्य के अन्य सभी सम्भव रूप आस्वादक निर्भर हैं। कवि को यदि काव्य-सर्जना के क्षणों में आनन्दानुभूति होती है तो वह या तो रचना मूलप्रवृत्ति की चरितार्थता से उद्भूत होगी,[4] जिसके सम्बन्ध में मानसकार ने कहा है—

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।[5]

---

[1] रामचरितमानस, बालकाण्ड, १०/१ २

[2] 'रूप रिझावनहार वे एन नैना रिझवार' बिहारी रत्नाकर, दोहा सं० ६८२

[3] *धनिक और धनंजय ने रस सहृदय निष्ठ है, इस मत की अत्यन्त स्पष्ट स्थापना* की है। डॉ० रामअवध द्विवेदी, साहित्य सिद्धान्त, पृ० ३९

[4] द्रष्टव्य डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ० ८

[5] मानस, बालकाण्ड, ९/९

अथवा यह सृष्ट काव्य के आस्वादन का आनन्द होगा। उस स्थिति मे कवि आस्वादक की भूमिका मे उतर आयेगा। ऐसी स्थिति मे कवि आस्वादक बन जाएगा। इसलिए उसका सौन्दर्यास्वादन आस्वादन-निर्भर ही माना जाएगा।[1] इससे 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहिं' वाली मान्यता असिद्ध नहीं होती।

बहुत सक्षेप मे मानसकार ने काव्य-सौन्दर्य के तीन पक्षो की ओर सकेत कर दिया है। ये पक्ष हैं—(१) काव्य सर्जना, (२) कृति और (३) काव्यास्वादन। 'उपजहिं अनत' का सम्बन्ध काव्य-रचना-प्रक्रिया से है, 'सुकबिकबित' आस्वाद्य कृति है और 'अनत छबि लहहीं' मे आस्वादन-पक्ष सकेतित है।

सौन्दर्यशास्त्र-विषयक आधुनिक विचारणा भी सौन्दर्य के उक्त तीन पक्षो का विचार करती है—सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रधानत: तीन प्रकार के सौन्दर्य पर विचार किया जाता है-ऐन्द्रिय सौन्दर्य, विधानगत सौन्दर्य और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य।[2] काव्य-विश्लेषण की दृष्टि से ऐन्द्रिय सौन्दर्य का सम्बन्ध सौन्दर्य-भावन से है जो कला-सर्जना तथा काव्य-रचना की प्रक्रिया का एक अग है। विधानगत सौन्दर्य रूप-सृष्टि, कलाकृति मे सौन्दर्य का रूपायन अथवा काव्य-कृति मे सौन्दर्य का मूर्तीकरण ही है और इस प्रकार वह सौन्दर्य का कृतित्व-पक्ष है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य का सम्बन्ध काव्यानन्द के सम्प्रेषण से है[3] जिसका अन्तर्भाव आस्वादन मे होता है। इस प्रकार गोस्वामीजी की उपर्युक्त पक्तियो मे सौन्दर्य विषयक जो सूत्र उपस्थित किया गया है वह आधुनिक सौन्दर्य दृष्टि से भी समर्थित है।

फिर भी, मानसकार का सौन्दर्य-विषयक यह सकेत सौन्दर्य-बोध की जटिल प्रक्रिया के सम्बन्ध मे सकेत मात्र ही है। इससे इस सम्बन्ध मे विस्तृत प्रकाश नही मिलता। इसके आधार पर केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक युग से पूर्व भी काव्य-विषयक भारतीय विचारणा मे सौन्दर्य-दृष्टि का अस्तित्व था, जिसका सूत्र अभिनव गुप्त के 'चारुत्व प्रतीति' - विषयक उल्लेख[4] से ही नही जुडा है, वैदिक सोम रस की कल्पना मे भी उसका मूल खोजा जा सकता है।[5]

---

[1] —द्रष्टव्य, एफ०एल०लूकस, लिटरेचर एण्ड साइकॉलॉजी, पृ० २०४/५

[2] —डॉ० कुमार विमल सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृ० ४

[3] —द्रष्टव्य - जार्ज सतायना, द सेंस आफ ब्यूटी, पृ० १०५

[4] —श्री के०ए० रामस्वामी ने 'इण्डियन एस्थेटिक्स' शीर्षक पुस्तक में यह प्रतिपादित किया है कि भारतवर्ष में सौन्दर्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा है। उन्होंने इस परम्परा का निर्देश करते हुए उसका सम्बन्ध रस-सिद्धान्त और चारुत्व प्रतीति से जोड़ा है। इस सम्बन्ध में डॉ० कुमार विमल की पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' पृ० ९ द्रष्टव्य है।

[5] —द्रष्टव्य, डॉ० फतहसिंह, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ३५

प्राचीन भारतीय काव्य-चिन्तन की सौन्दर्य-दृष्टि

सौंदर्य-विषयक प्राचीन भारतीय दृष्टि के सम्बन्ध मे हाल ही मे जो शोध-कार्य हुआ है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि भारतीय काव्य-चिन्तन में सौन्दर्य-तत्त्व का अस्तित्व उतना ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद - "ऋग्वेद के अनुसार काव्य मे प्रियता, मधुर मादकता तथा चारुता मुख्य होती है।"[1] आगे चलकर नाट्यशास्त्र मे 'मृदु-ललित' तथा 'जनपदसुखभोग्य' पदार्थ को रसनीय बनाकर प्रेक्षकों के लिये नाटक के रूप मे उपस्थित करने की बात दृश्यकाव्य के सम्बन्ध से कही गई है—

> मृदुललितपदार्थं गूढ शब्दार्थहीन
> जनपदसुखभोग्य युक्तिमन्नृत्तयोज्यम् ।
> बहुकृत रसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्त
> भवति जगतियोग्य नाटक प्रेक्षकाणाम ।।[2]

नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त उद्धरण मे काव्य-सौन्दर्य-विषयक उल्लेख अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम नाटक मे गृहीत पदार्थ की सुन्दरता की बात कही गई है। नाट्यशास्त्रकार के अनुसार नाटक जिस पदार्थ, कच्चे माल या रॉ मेटिरीयल को अपने उपयोग के लिये ग्रहण करता है वह मूलतः मृदुललित और जनसाधारण के सुख भोग के लिये उपयुक्त होता है। तदुपरान्त नाटक मे वह अनेक प्रकार के रसनीय बनाया जाता है। कच्चे माल का रमनीय बनाया जाना रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। जब नाटककार अपने कृतित्व से उसे रसनीय बना देता है—रस के अनेक मार्ग तैयार कर देता है—तब वह प्रेक्षको को आनन्दित कर सकता है। प्रेक्षको का आनन्दित होना काव्य-सौन्दर्य का तृतीय पक्ष है। नाट्यशास्त्र के इस उल्लेख मे 'मृदुललित,' शब्द तो सौन्दर्य का वाचक है ही, 'जनपदसुखभोग्य' भी परोक्षत सौन्दर्य-सूचक है क्योकि सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उसे सुख या आनन्द (प्लेजर) का पदार्थीकरण कहा गया है।[3]

काव्य चिन्तन का और विकास होने पर काव्य के आधारभूत तत्त्व के प्रश्न को लेकर आचार्यों मे आग्रह बढने लगा। अलकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति औचित्य और रस को लेकर भिन्न-भिन्न काव्य-सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ जिनमें से प्रत्येक

१—द्रष्टव्य डॉ० फतहसिंह, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ७३

२—भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्रम्' १६/१२८, सम्पादक—एम० रामकृष्ण कवि

3—*Beauty is constituted by the objectification of pleasure. It is pleasure objectified*

—George Santayna *The Sense of Beauty*, *p* 93

ने अपने तत्त्व को अगी और शेष को अग सिद्ध करने की चेष्टा की, किन्तु सभी सम्प्रदायो मे 'सौन्दर्य' समान रूप से समादृत हुआ है। विभिन्न काव्य सम्प्रदायो के चिन्तन मे ही सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष नही मिलता, उनकी शब्दावली मे भी सौन्दर्य-वाचक शब्दो का स्पष्ट समावेश देखने को मिलता है।

विभिन्न काव्य-सम्प्रदायो मे सौन्दर्यवाचक शब्दावली का समावेश

ऐतिहासिक दृष्टि से अलकार-सम्प्रदाय सर्वप्रथम उल्लेख्य है। अलकारवादी आचार्य दण्डी ने अलकार की जो परिभाषा दी है उसमे 'शोभा' को आधार मानते हुए काव्यशोभाकर धर्मों को अलकार की सज्ञा दी गई है—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते ।[1]

आचार्य वामन (जो अलकारवादी नही, रीतिवादी थे) ने अलकार की परिभाषा मे सौन्दर्य को और भी अधिक स्पष्ट शब्दो मे प्रतिष्ठित किया है। उनके अनुसार सौन्दर्य ही अलकार है।

सौन्दर्यमलकार ।[2]

वामन ने सौन्दर्य मात्र को अलकार कहा है जबकि दण्डी ने काव्य के शोभाकर तत्त्वों को अलकार की सज्ञा दी है। इस प्रकार दोनों ही परिभाषाओ मे सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की गई है क्योकि 'शोभाकर धर्म' सौन्दर्य का ही पर्याय है। रुद्रट ने काव्य को 'ज्वलदुज्ज्वलवाक्' कहा है—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसर सरस कुर्वन् महाकवि काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पनल्प प्रतनोति यश परस्यापि ।।[3]

'ज्वलदुज्ज्वल' पर्याय से सौन्दर्य का ही वाचक है और इस प्रकार अलकार-सम्प्रदाय के आचार्य सौन्दर्यनिष्ठ सिद्ध होते हैं।

रीति-सम्प्रदाय मे सौन्दर्य तत्त्व की चर्चा इतने स्पष्ट शब्दों मे नही मिलती। रीति की जो परिभाषा की गई है उसमे सौन्दर्य का सीधा उल्लेख नही मिलता, किन्तु विभिन्न रीतियो का जो स्वरूप निरूपित किया गया है उसमे सौन्दर्यवाचक शब्दों का उल्लेख स्पष्ट रूप मे मिलता है। गौडी रीति 'कान्तिमती' मानी गई है—

ओज कान्तिमती गौडीया ।[4]

---

[1] १—काव्यादर्श, २/१

[2] २—काव्यालकारसूत्र, १/१/२

[3] ३—काव्यालकार, १/४

[4] ४—काव्यालकार सूत्र, १/२/११ (वामन)

इसी प्रकार पाचाली का उल्लेख 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना' के रूप मे हुआ है—

'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाचाली ।'[1]

वैदर्भी मे सभी गुणो का समाहार माना गया है—

समग्रगुणा वैदर्भी ।[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि काति, माधुर्य, सौकुमार्य जैसे सौन्दर्य-द्योतक शब्द वैदर्भी से भी सम्बन्धित हैं।

रीति सिद्धान्त गुणो पर आधृत है।[3] गुणो की चर्चा करते हुए वामन ने उन्हें 'काव्यशोभाकर्ता धर्म कहा है —

काव्यशोभाया कर्तारोधर्मा गुणाः ।[4]

अत गुण भी उसी प्रकार सौन्दर्य-निर्भर हैं जिस प्रकार दण्डी की परिभाषा के अनुसार अलकार। गुणो की सख्या के सम्बन्ध मे मतभेद है और विभिन्न आचार्यों द्वारा उनकी जो परिगणना हुई है[5] उसके अनुसार सभी गुण सौन्दर्य के वाचक नही माने जा सकते, किन्तु उनमे 'कान्ति' स्पष्टत सौन्दर्य का समानार्थक है। प्रेयस और माधुर्य भी सौन्दर्य के निकटवर्ती हैं। समता सौन्दर्य का ही एक तत्व है।[6] इसी प्रकार 'गति' भी सौन्दर्य का एक उपादान है।[7]

ध्वनि-सम्प्रदाय मे आनन्दवर्धन ने काव्य के समग्र प्रभाव को लावण्य के सादृश्य के साथ उपस्थित किया है—

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥[8]

१—काव्यालकार सूत्र, १/२/१३

२—वही

३—द्रष्टव्य, डॉ० गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन पृ० ३९

४—काव्यालकारसूत्र, ३/१/१

५—'भरतमुनि ने गुणों की संख्या दस मानी है। उनके द्वारा प्रतिपादित दस गुण हैं—श्लेष, समता, समाधि माधुर्य, ओज, पद, सौकुमार्य अर्थव्यक्ति, उदारता और कांति।—पूर्वकथित दस भेदों के अतिरिक्त भोज के नये चौदह भेद हैं—उदाहरण, ओजत्व, प्रेयस, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, सक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति प्रौढि।'
—हिन्दी साहित्य कोश पृ० २६९

६—डा० हरद्वारीलाल, सौन्दर्यशास्त्र, पृ० ७२

७—वही, पृ० ८५

८—ध्वन्यालोक, १/४

मम्मट ने कवि-सृष्टि—कवि भारती की निर्मिति—को नवरसरुचिरा कह कर काव्य की सौन्दर्यात्मकता का निर्देश किया है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥[1]

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अंतर्गत सौंदर्य कवि वाणी का आधार-तत्त्व माना गया है। कुन्तक के अनुसार कवि-वाणी कथा मात्र के आधार पर जीवित नहीं रहती, उसके जीवन का आधार होता है 'रसोद्गारगर्भ सौन्दर्य'—

निरन्तर रसोद्गारगर्भसौन्दर्यनिर्भरा
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता. ॥[2]

वक्रोक्ति की जो परिभाषा कुन्तक ने दी है उसमे भी परोक्षत. सौन्दर्यवाचकता का समावेश है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को कौशलपूर्ण उक्ति-भगिमा कहा है

वक्रोक्ति वैदग्ध्यभगीभणितिरुच्यते ।[3]

भगिमा (अदा) शब्द सौन्दर्य का पर्याय न होते हुए भी सौन्दर्यमूलक ही है और इस दृष्टि से उक्ति सौन्दर्य को ही वक्रोक्ति की अभिधा दी गई है। डॉ॰ गुलाबराय ने प्रस्तुत प्रसग मे 'भगी' शब्द का अर्थ 'ढग'[4] किया है जो बहुत सही नही है। उसका अर्थ है प्रभावकारी एव सौन्दर्यव्यजक ढग। उर्दू का 'अदा' शब्द उसका समकक्ष है। भगिमा मे अनोखेपन या अपूर्वता का भाव भी आ जाता है, किन्तु इसका आशय 'अनोखापन' या 'अपूर्वता' स कही अधिक व्यापक है। 'भगिमा' से सौन्दर्य की गतिमय मूर्तता का आशय व्यक्त होता है। इसके साथ सलग्न 'वैदग्ध्य' शब्द भी इसी आशय की पुष्टि करता है क्योकि उसका अभिप्राय है चातुर्य या कौशल। इसलिए 'वैदग्ध्य-भगीभणिति' का अर्थ चातुर्यपूर्ण या कौशलपूर्ण उक्ति-सौन्दर्य समझना अधिक संगत प्रतीत होता है। 'वैदग्ध्य भगीभणिति' को विदग्ध लोगो के कहने का विशेष ढग समझना उचित प्रतीत नही होता।

औचित्य-सम्प्रदाय किसी एक काव्य-तत्त्व को आधार मानकर नही चलता। वह सर्वतोभावेन औचित्य का पक्षधर है। इसलिये यहाँ किसी एक तत्त्व के सम्बन्ध से काव्य-सौन्दर्य की चर्चा न होकर उसे समस्त औचित्यानुसारी माना गया है। इस सम्प्रदाय मे प्रासगिक रूप से एक स्थान पर चारु चर्वणा की बात आई है, जो सौन्दर्य

---

[1] काव्यप्रकाश १/१

[2] —वक्रोक्तिजीवितम्, उन्मेष ४

[3] —वही १/११

[4] —द्रष्टव्य—डॉ० गुलाबराय सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १२

स्वादन के बहुत निकट है। चारु शब्द सुन्दर का वाचक है और चर्वणा शब्द आस्वादन का—

औचित्यस्य चमत्कारिणश्चारुचर्वणे ।[1]

रस-सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता भरत मुनि ने 'मृदुललित' जैसे सौन्दर्य-बोधक शब्दो का प्रयोग काव्य-वस्तु के लिये किया है।[२] शताब्दियो बाद रससिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठा करने वाले आचार्यों मे विश्वनाथ ने रस की आनन्दमयता पर विशेष बल दिया है क्योकि उनकी दृष्टि आस्वादन पर टिकी थी। उनकी दृष्टि मे रस की आनदरूपता मुख्यतः उल्लेख्य रही है–

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मय. ।
वेद्यांतरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः केश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारादभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।[3]

आनन्दास्वादन भी सौन्दर्य-बोध के अन्तर्गत आता है क्योकि सौन्दर्य मूलतः आनंदानुभूति है जिसे हम किसी पदार्थ की विशेषता के रूप मे ग्रहण करते हैं।[४] यह उसका आस्वादन-पक्ष है उत्तेजन-पक्ष नही। रसगगाधर के लेखक पंडितराज जगन्नाथ ने अपनी काव्य-परिभाषा मे उसके उत्तेजक पक्ष का निर्देश किया है–

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥[५]

विश्वनाथ ने काव्य की जो परिभाषा दी है[६] उसमे भी वाक्य मे काव्य की उपस्थिति के कारण सौन्दर्य का उत्तेजक पक्ष खोजा जा सकता है, किन्तु उसमे काव्य-रूप वाक्य के साथ सौन्दर्य-वाचक विशेषण नही आता। 'रसात्मक' विशेषण का प्रयोग 'वाक्य' में भी आस्वाद्यता का प्रक्षेपण करता है और इस प्रकार इस परिभाषा मे सौन्दर्य का उत्तेजना-पक्ष पीछे छूट जाता है।

दो प्रमुख खेमे

काव्य का मध्यम भाषा है। वह भाषा के माध्यम से सम्प्रेषित होता है। सम्प्रेषण के दो पक्ष हैं—(१) रूप-सृष्टि और सौन्दर्यानुभूति या आनन्दानुभूति।

१—औचित्य विचार चर्चा

२—द्रष्टव्य - पिछले पृष्ठों में नाट्यशास्त्र-विषयक चर्चा

३—साहित्य-दर्पण, ३/२-३

४—*Beauty is pleasure regarded as the quality of a thing.*
—George Santayna *The sense of Beauty, p. 49*

५—रसगगाधर, १/१

६—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, साहित्य-दर्पण, पृ० १/३

डॉ० नगेन्द्र ने इन्हें ही क्रमश मूर्तन प्रक्रिया और सम्प्रेष्य तत्त्व कहा है।[1] वस्तुत ये दो तत्त्व नहीं हैं, सौन्दर्य-बोध-प्रक्रिया के दो पक्ष हैं जिन्हें प्राचीन शब्दावली मे विभावन व्यापार और व्यंजना-प्रक्रिया कहा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे यही उत्तेजना-व्यापार (स्टीमुलेशन) और प्रतिक्रिया (रेसपोन्स) है। कवि का कथ्य रूप मे ही आकार धारण करता है, इसलिए वह रूपाश्रित है। इसी आधार पर प्रोफेसर ए०सी० ब्रेडले कथ्य और रूप को अभिन्न मानते हैं।[2] भाषा शब्द और अर्थ के बल पर रूप-सृष्टि करती है। शब्द या वर्ण-ध्वनि की बिम्बात्मकता के रूप मे काव्य संगीत-तत्त्व का अपने लिये उपयोग करता है जिसमे छन्दान्वित लय भी कवित्व की उपकारी बन जाती है। अर्थ के साथ अनेक आकृतियो की सृष्टि और उनका संगुम्फन काव्य मे होता है। इन्हीं आकृतियो में कवि का कथ्य मूर्त होकर सम्प्रेष्य बनता है। ये अर्थाश्रित बिम्ब प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो रूपो मे सहृदय तक कवि कथ्य का सम्प्रेषण करते हैं। इसी आधार पर दण्डी ने स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के रूप मे अलंकार-भेद की परिकल्पना की है। आचार्य दण्डी की इस व्यापक अलंकार-परिकल्पना से यह प्रकट होता है कि उनकी दृष्टि मे अलंकार रूप सर्जना का वाचक है। अलंकारवादी, वक्रोक्तिवादी और रीतिवादी एक ही खेमे के काव्य-चिन्तक हैं क्योंकि ये सभी रूपवादी हैं। भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार का अन्तरंग तत्त्व कहकर[3] दोनो की समान प्रवृत्ति का प्रमाण दिया है। इसी प्रकार दण्डी ने 'गुणो को विशेष महत्ता दी'[4] जैसाकि डॉ० गुलाबराय का विचार है। 'दण्डी के सूत्र को लेकर वामन आगे बढ़े,[5] रीति विशिष्ट पद रचना है—विशिष्टपदरचना रीति।[6] पद रचना की विशिष्टता वर्णध्वनि और अर्थाभिव्यंजना दोनो प्रकार से रूप सृष्टि का का अंग है। दूसरी ओर रसवादी और ध्वनिवादी अनुभूतिवादी हैं। इन दोनो सम्प्रदायो का बल सहृदय की सौन्दर्यानुभूति या आनन्दानुभूति पर है। ध्वनिसिद्धान्त सम्प्रेषित काव्य-सौन्दर्य की आस्वादन-प्रक्रिया पर विशेष बल देता है जबकि रस-सिद्धान्त उस प्रक्रिया से निष्पन्न आनन्द को विशेष महत्त्व देता है। ये दोनो सिद्धान्त एक ही प्रक्रिया के दो अंग हैं और इसीलिये इतने घनिष्ट हैं कि ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को प्रधानता दी है और रसवादी विश्वनाथ ने रस को व्यंग्य माना

१—काव्य के क्षेत्र में एक तो उसका संवेद्य तत्त्व है और दूसरी ओर उसकी मूर्तन प्रक्रिया।'
—काव्य बिम्ब, पृ० ३९

२—प्रो० ए०सी० ब्रेडले, आक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री, पृ० १५

३—कोऽलंकारोऽनया विना काव्यालंकार, २/८५

४—डॉ० गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन पृ० ६

५—वही पृ० ८

६—वामन का काव्यालंकारसूत्र, १/२/६

है। इस प्रकार अलकार-वक्रोक्ति रीति सिद्धान्त रूपवादी समुदाय के हैं तो रस और ध्वनि आस्वादन-समुदाय के काव्य सिद्धान्त हैं। औचित्य सिद्धान्त किसी एक पक्ष का समर्थन न कर सभी पक्षो मे सौंदर्य के विशेष तत्व स गति[1] पर बल देता है।[2] इसलिये सस्कृत काव्यशास्त्र प्रमुखत दो खेमो—रूप और आस्वादन मे—बँटा हुआ है और ये दोनो खेमे सौन्दर्यशास्त्र के दो प्रमुख पक्षो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

रूपवादी सिद्धान्त-समुदाय

भारतीय काव्य सिद्धात के रूपवादी समुदाय म अलकार, वक्रोक्ति और रीति सिद्धान्तो का अन्तर्भाव हो जाता है। उक्त तीनो सम्प्रदायो मे रूप दृष्टि की समानता के बावजूद क्षेत्र और आधार की दृष्टि से अन्तर है। अलकार-सिद्धात व्यापक रूप से 'रूप' की समस्या को लेता है, वक्रोक्ति वक्रता पर विशेष बल देती है तथा रीति का बल पदावली के गुणो पर है।

अलकार

'अलकार' शब्द पूर्णता का वाचक है–अलकरोतीति अलकार।[3] इस मान्यता के अनुसार कवि मानस की अनुभूति—अकथित कथ्य—को पूर्णता देना सौन्दर्य-सम्पन्न बनाना ही अलकार है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' ने सभी प्रकार के सौन्दर्य साधनो को अलकार के अन्तर्गत माना है।[4] आचार्य दण्डी ने अलकार के अन्तर्गत स्वभावोक्ति और अन्योक्ति दोनो का अन्तर्भाव कर[5] लक्षित और उपलक्षित दोनो प्रकार के बिम्ब विधान[6] को अलकार के अन्तर्गत ले लिया है। इस प्रकार अर्थ-बिम्ब, जो सौन्दर्य-सृष्टि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण है, अलकार-सिद्धात का विषय ठहरता है।

अलकार और सर्जनात्मक कल्पना

अपने व्यापक रूप मे अलकार सर्जनात्मक कल्पना की उपज है। वह रूप-सृष्टि का एक महत्वपूर्ण अग है। कॉलरिज द्वारा निर्दिष्ट उत्तरजात कल्पना से इसका जन्म होता है। कॉलरिज के सर्जनात्मक कल्पना-सम्बन्धी विचारो की व्याख्या

१–द्रष्टव्य–डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, सौन्दर्यशास्त्र, पृ० ८५

२–उचित प्राहुराचार्याः सदृश यस्य यत्
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्य प्रचक्षते—क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा।

३–द्रष्टव्य · काव्यशास्त्र (प्रधान स० डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी) में डॉ० रामशकर शुक्ल 'रसाल' का लेख 'अलकार की परिभाषा' पृ० १११

४–वही, पृ० ११४

५–द्रष्टव्य · काव्यदर्श।

६–द्रष्टव्य · डॉ० नगेन्द्र, काव्य बिम्ब, पृ० ४१

करते हुए डा० रामअवध द्विवेदी ने लिखा है—'उत्तरजात कल्पना तथ्यों और पदार्थों के प्रत्यक्ष और दृष्टिगोचर रूप को नये साँचो मे तो ढालती है, साथ ही अपना कार्य उनके अतराल मे प्रवेश कर भी कर सकती है ।'[१] नये साचो मे ढालने की क्रिया अलकार को जन्म देती है। केवल काव्य मे ही नही, सभी ललित कलाओं मे यह उत्तरजात कल्पना दृश्य- श्रव्य बिम्बो तथा अन्य इन्द्रियग्राह्य सवेदनाओ के द्वारा रूप-सृष्टि करती है, जिसके अभाव मे कविता या कला का कोई अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। इसलिये सभी ललित कलाएँ बाह्य जगत्—रूप जगत्—की वस्तुएँ हैं ।[२] रूप-जगत् के प्रति कालरिज के इस आग्रह से भली भाँति यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काव्य मे इस रूप-सृष्टि की दृष्टि से अलकारो की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है। यदि रूप-सृष्टि के अभाव मे कला का अस्तित्व नही माना जा सकता तो अलकार, जो अपने व्यापक अर्थ मे लक्षित और उपलक्षित बिम्बो के अतर्भाव के कारण रूप-सृष्टि के सब से महत्त्वपूर्ण अग हैं—काव्य के अस्थिर धर्म कैसे हो सकते हैं ? कल्पना द्वारा निर्मित रूप विधान पदार्थों पर बाहर से आरोपित नहीं होता, वरन् अन्त प्रेरणा से उद्भूत होता है ।[3]

भारतीय काव्यशास्त्र मे सर्जनात्मक कल्पना प्रतिभा का अंग है। प्रतिभा की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा है—

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।[४]

नवनवोन्मेष में प्रतिक्षण नया-नया-दिखलाई देने वाले सौन्दर्य[५] के साथ नित्य नवीन रूप-विधान का समाहार भी हो जाता है। अभिनव गुप्त ने स्पष्ट शब्दो मे प्रतिभा को निर्मित का श्रेय दिया है—'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा ।'[६] नव-नव निर्मिति—रूप-सृष्टि की आधारभूत क्षमता के कारण ही प्रतिभा को शक्ति भी कहा गया है ।[७] निश्चय ही, प्रतिभा प्रसूत 'रूप,' जो काव्यशक्ति का उन्मेष है, काव्य का अस्थिर धर्म नहीं, स्थिर धर्म है। इसलिये अपने व्यापक रूप मे अलकार-

---

१—डा० रामअवध द्विवेदी, साहित्य सिद्धान्त, पृ० १०४

२—वही, पृ० १०५

3—वही, पृ० १०७

४—भट्ट तौत, यहाँ कुमारविमल कृत सौन्दर्यशास्त्र से उद्धृत, पृ० १३०

५—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतायाः । —डॉ० गुलाबराय, सिद्धन्त और अध्ययन, पृ० १०० से उद्धृत

६—ध्वन्यालोक - लोचन, चौखम्बा सस्कृत सिरीज, पृ० ९२

७—'मम्मट ने काव्य हेतु में 'शक्ति' का उल्लेख किया है किन्तु यह शक्ति प्रतिभा से बहुत भिन्न नहीं है।' —डॉ० कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र, पृ० १२९

विधान, जो 'रूप' का प्रधान अंग है—लगभग पर्याय ही है—काव्य का अस्थिर धर्म नही माना जा सकता । जैसा कि जार्ज संतायना का मत है, रूप की अस्थिरता कला के लिये कभी हितकारिणी नही हो सकती ।[१] उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि साहित्य मे रूप की अनिश्चितता घातक होती है क्योंकि वहाँ सम्प्रेषण का माध्यम भाषा होती है । भाषा की संवेदन शक्ति अपक्षया अल्प होती है ।[२] भाषा का प्रभाव मुख्यतः अर्थाभिव्यंजना मे निहित रहता है, किन्तु कोई भी अभिव्यंजना उपस्थापना-निरपेक्ष नही हो सकती और उपस्थापना रूपाश्रित होती है ।[3] अभिव्यंजना का साधनभूत 'रूप' स्वयं भी प्रभावकारी होता है ।[४] रूप पर ही कथ्य का प्रत्यक्षीकरण निर्भर रहता है । जिस प्रकार की रूप-सृष्टि होगी कथ्य का प्रत्यक्षीकरण उसके अनुसार हो सकेगा ।[५]

'रूप' की भूमिका

सौन्दर्य बोध मे रूप के महत्त्व को पहिचान कर ही क्रोचे ने कहा है कि रूप और केवल रूप, सुन्दर है ।[६] रूप की आधारभूत सामग्री रूपान्तरण योग्य होती है, किन्तु जब तक रूपान्तरण नहीं हो जाता वह रूपहीन ही रहती है ।[७] इसलिये क्रोचे ने अलंकार को अभिव्यक्ति का अंतरंग अंग मानने पर बल दिया है क्योंकि अलंकार रूप से विलग नही रह सकते ।[८] रसाग्रही डॉ० नगेन्द्र ने भी लक्षित और उपलक्षित

---

[1] *Instability of the form can be no advantage to a work of art.*
—George Santayna *The Sense of Beauty, p 146.*

[2] *In literature, however, where the sensuous value of the words is comparatively small, indeterminateness of form is fatal to beauty, and, if extreme even to expressiveness.—Ibid, p. 143.*

[3] *The main effect of language consists in its meaning, in the ideas which it expresses But no expression is possible without a presentation and this presentation must have a form —Ibid, p 168*

[4] *This form of the instrument of expression is itself an element of effect —Ibid, p 168.*

[5] *Ibid p 168*

[6] *The aesthetic fact, therefore is form and nothing but form quoted from Siddhart Aur Adhyayan by* Dr Gulabrai *p 273*

[7] *It is true that the Content is that which is convertible into form but it has no determinable qualities until this transformations take place —Quoted from Siddhant Aur Adhyayan by* Dr Gulabrai *p 273*

[8] *Ibid p. 273*

बिम्बों के अंतर्गुम्फन से समग्र बिम्ब की सृष्टि स्वीकार की है[1] जिससे यह सिद्ध होता है कि बिम्ब में प्रस्तुत (लक्षित बिम्ब) और अप्रस्तुत (उपलक्षित बिम्ब) इस प्रकार एक दूसरे के साथ घुल मिल जाते हैं कि उनका प्रत्यक्षीकरण स्वतंत्र रूप से न होकर समग्र आकृति के रूप में होता है। उत्कृष्ट काव्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत अलंकार्य और अलंकार–के व्यवधान का तिरोभाव हो जाता है और दोनों के एक-दूसरे में विलीन होजाने से एक समग्र आकृति की सृष्टि होती है। यही आकृति सम्प्रेष्यता के बल पर काव्य सृष्टि में रूप ग्रहण करती है। सम्भवत रूप-सृष्टि और अलंकार की इस अंतरंगता का विचार कर ही वामन ने कहा है–

काव्यं ग्राह्यं अलंकारात्।[2]

मम्मट,[3] विश्वनाथ[4] आदि ने अलंकार को काव्य का अस्थिर धर्म संभवतः इसलिये कहा है कि उन्होंने उसे व्यापक रूप में– रूप' के अर्थ में—ग्रहण नहीं किया है क्योंकि उनकी दृष्टि मुख्यतया आस्वादनपरक रही है।

वक्रोक्ति

दण्डी ने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति दोनों को अलंकार के अंतर्गत मानते हुए भी स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के समान मान नहीं दिया[5] इसका कारण संभवत यह है कि वक्रोक्ति में जो आकर्षण होता है वह स्वभावोक्ति में प्रायः नहीं होता, अपवादों की बात अलग है। वक्रोक्ति में एक प्रकार का चातुर्य और कौशल रहता है जो सहृदय को प्रभावित करता है। कथन-भंगिमा रूप को रमणीयता प्रदान करती है, उसमें बाँकपन भर देती है जिसके परिणामस्वरूप काव्य हृदयहारी हो जाता है।

परकीयावत्

वक्रोक्ति की सौन्दर्यगर्भता का दूसरा कारण यह है कि वह एक साथ ही अर्थ को खोलकर नहीं रख देती।[6] उसके द्वारा अर्थाभिव्यक्ति एक क्रमिक गति से होती है। वह परकीया के समान मन्थर गति से सौन्दर्य को अनावृत करती है। दिनकर ने उर्वशी में लिखा है कि स्वकीया का आकर्षण इस कारण से शीघ्र ही

---

[1] —द्रष्टव्य—डॉ० नगेन्द्र, 'काव्य बिम्ब,' पृ० ४१

[2] —काव्यालंकार सूत्र, १/१/१

[3] —अनलंकृती पुन क्वापि, काव्यप्रकाश, १/४

[4] —शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः रसादीमनुकुर्वन्तोऽलंकारास्ते अंगदादिवत्।
—साहित्यदर्पण, १०/१

[5] —द्रष्टव्य—हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६९६ (सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा)

[6] —'रिचर्ड्स महोदय ने एम्बिगिवटी अर्थात् अस्पष्टता को भाषा का अनिवार्य गुण माना है।' —डॉ० रामअवध द्विवेदी, साहित्य सिद्धान्त, पृ० ४९

समाप्त हो जाता है कि वह एक ही बार मे सर्वस्व समर्पण करके अपने आपको पुरुष के समक्ष पूरी तरह खोल कर रख देती है—

गृहिणी जाती हार दाँव सर्वस्व समर्पण करके[1]

इसके विपरीत अप्सरा (परकीया रमणी) इसलिए विजयिनी बनी रहती है कि वह एक ही बार मे अपने आपको पुरुष को पूरी तरह नही दे डालती, वह उसके निकट जाकर भी उसकी पकड से बची रहती है। इससे पुरुष की अतृप्ति निरतर बनी रहती है और वह उसका वशवर्ती बना रहता है—

क्षण क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर फिर जो चुम्बन लेकर,
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षुधित अंक मे देकर,
जो सपने के सदृश बाहु मे उडी-उडी आती हो,
और लहर सी लौट तिमिर में डूब-डूब जाती हो,
प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
पुरुष बडे सुख से रहता है उस प्रमदा के बस में।[2]

दिनकर की ये पक्तियां इस दृष्टि से बहुत अर्थपूर्ण हैं कि जिस उर्वशी को लक्ष्य कर ये कही गई हैं, वह रमणीत्व की प्रतीक होने के साथ रमणीयता या सौन्दर्य-तत्त्व की प्रतीक भी है। स्वय उर्वशी का कथन इस प्रतीकार्थ पर प्रकाश डालता है-

प्रसरित करती निर्वसन, शुभ्र हेमाभ काति
कल्पना लोक से उतर भूमि पर आती हूँ,[3]

× × ×

मैं कला-चेतना का मधुमय प्रच्छन्न स्रोत,
रेखाओं मे अकित कर अगो के उभार,
भगिमा, तरगित वर्तुलता, वीचियां, लहर,
तन की प्रशाति रगों मे लिये उतरती हूँ।
पाषाणों के अनगढ अगो को काट छांट,
मैं ही निविडस्तना, मुष्टिमध्यमा,
मदिरलोचना, कामललिता नारी
प्रस्तरावरण कर भग
तोड तम को उन्मत्त उभरती हूँ।

१—रामधारीसिंह 'दिनकर', उर्वशी, पृ० ३५
२—वही
३—उर्वशी, पृ० ९२

भूतल का सब सगीत नाद मेरे निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता जयगान एक मेरी त्रैलोक विजय का है।
प्रिय मुझे प्रखर कामना कलित सतप्त, व्यग्र चंचल चुंबन,
प्रिय मुझे रसोदधि मे निमग्न उच्छल, हिल्लोल निरत यौवन।[1]

इसलिये जो कारण उर्वशी के आकर्षण का है, वही कलाओ (जिनमें कविता भी सम्मिलित है) के आकर्षण का भी है। सौन्दर्य-तत्त्व अतृप्ति की रक्षा करके ही सौन्दर्य-लालसा को निरतर बनाये रखता है—

जयिनी रहती बनी अप्सरा ललक पुरुष मे भरके।[2]

और काव्य मे यह कार्य करती है उक्ति वक्रता जो अर्थ को एक साथ न खोलकर उसको धीरे-धीरे खोलती है—उसका क्रमिक उन्मीलन करती है।

वक्रोक्ति और मानसिक अन्तराल

एडवर्ड बूलो का 'मानसिक अन्तराल' (साइकिकल डिस्टेंस) का सिद्धात भी सौन्दर्य सृष्टि मे वक्रोक्ति या उक्ति वक्रता की भूमिका स्पष्ट करने मे सहायक हो सकता है।[3] कला नित्यप्रति के व्यवहार और वस्तुओ के समान सहज प्रत्यक्षीकरण की वस्तु नही होती। उसमे एक ऐसी दूरी रहती है जो सौन्दर्यास्वादक और कलाकृति के मध्य थोडा मानसिक अन्तराल बनाये रखती है। काव्य मे, अन्य बातो के अतिरिक्त, उक्ति-वक्रता भी इस दूरी की चेतना मे योग देती है। डॉ० रसाल ने अलकारप्रियता की विभिन्न प्रवृत्तियो की व्याख्या करते हुए 'क्लिष्टता, जटिलता तथा उलझन' मे आनद लेने की जिस प्रवृत्ति का उल्लेख किया है वह उक्ति वक्रता पर निर्भर अलकारो के सम्बन्ध मे ही लागू हो सकता है। 'क्लिष्टता, जटिलता तथा उलझन' का आनन्द वस्तुत इस मानसिक अन्तराल के कारण ही सभव है। डॉ० रसाल के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है—'यह मनोवृत्ति क्लिष्टता, जटिलता तथा उलझन मे आनन्द पाती है और उसकी ओर आकृष्ट हो मन को जिज्ञासु बनाकर समुत्सुकता एव उत्कठा के साथ उसकी ओर लगा देती है। यह सीधे मार्ग पर चलना न पसद कर, वक्र मार्ग मे अभिरुचि के साथ बढती चलती है। इसी के कारण भाषा मे वक्रता तथा

१—उर्वशी, पृ० ९२

२—वही, पृ० ३५

३—*The form of presentation sometimes endangers the maintenance of Distance, but it more frequently acts as a Considerable support.*
—Edward Bullongh, '*Psychical Distance*' *etc incorporated in A Modern Book of Esthetics, edited by* Melvin Reader, *p. 408*

घुमाव-फिराव के साथ किसी बात के कहने की रीति या शैली का प्रादुर्भाव होता है।'[1] *मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रवृत्ति* कौतूहल और युयुत्सा (काठिन्य के विरुद्ध संघर्षपूर्ण चेष्टा) की मिश्रित परिणति है। तृप्ति-अतृप्ति की समन्वित अनुभूति काठिन्य के साथ *मिलकर मानसिक अन्तराल को जन्म देती है।*

अर्थशास्त्रीय विश्लेषण

जार्ज सन्तायना ने अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो के माध्यम से कला सौन्दर्य के अन्तराल को दुर्लभता के आधार पर समझाया है। जार्ज सन्तायना के अनुसार दुर्लभ श्रमसाध्य तथा दूरागत वस्तु अधिक मूल्यवान होती है।[2] वक्र उक्तियो का अर्थ-सौन्दर्य दुर्लभ श्रमसाध्य और दूरागत होता है। हर कोई ऐसी उक्तियो का आनन्द-लाभ नहीं कर सकता, ऐसी उक्तियों के आनन्द-लाभ के लिये श्रम अपेक्षित है, उनकी वक्रता का अन्तराल पार कर ही सहृदय उनके सौन्दर्य लाभ तक पहुँच सकता है। इस प्रकार उक्ति-वक्रता काव्य को अर्थशास्त्रीय दृष्टि से भी अधिक मूल्यवान बना देती है।

काव्य-सौन्दर्य की इस विशिष्टता के कारण उसमे एक प्रकार की असाधारणता-अतिशयता आ जाती है। काव्यशास्त्र मे वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति भी कदाचित् इसी कारण कहा गया है। भामह ने वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति का एक ही अर्थ मे प्रयोग किया है[3] तथा दण्डी ने भी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को समस्त अलकारो के मूल मे स्वीकार किया है। यहाँ भी दोनो पर्याय हैं और उनका मुख्यार्थ भी समान है—लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा' अर्थात् वस्तु के लोकोत्तर वर्णन की इच्छा।[4] अलकार-वादियो ने ही नहीं, ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने भी 'अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति को पर्याय माना है और सभी अलकारो को अतिशयोक्ति-गर्भित स्वीकार किया है। महाकवियो द्वारा व्यक्त यह अतिशय गर्भिता काव्य मे अनिर्वचनीय शोभा *का कारण होती है। इसी से अलकारो को शोभातिशयता प्राप्त होती है।*'[5] इस अतिशयता की वृद्धि मे लक्षणा शब्द शक्ति से भी प्रभूत योग मिलता है क्योंकि 'लक्षणा मे मूर्तविधान की स्वाभाविक क्षमता निहित है।[6]

काव्य सौन्दर्य मे वक्रोक्ति अथवा उक्तिवक्रता के इस महत्त्वपूर्ण योगदान को दृष्टिगत रखकर ही डॉ॰ नगेन्द्र ने लिखा है कि 'भारत के देहवादी अथवा रूपवादी

१—काव्यशास्त्र, प्रधान सम्पादक—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११३
२—George Santayna, *The Senese of Beauty, p 213*
३—हिन्दी साहित्य कोश, प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६९६
४—वही पृ० ६९६
५—वही, पृ० ६९७
६—डॉ० नगेन्द्र, काव्य बिम्ब, पृ० ४१

काव्य-सम्प्रदायो मे कुतक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त के माध्यम से कवि-व्यापार का अत्यत सूक्ष्म-गम्भीर वर्णन किया है।'[1]

रीति

रूप सर्जना मे पद-रचना' का भी विशेष महत्त्व होता है। भारतीय काव्य-शास्त्र म पद-रचना की विशिष्टता को रीति की सज्ञा दी गई है—

विशिष्टपदरचना रीति. ।[2]

द्विविध सौन्दर्य

पद-रचना का वैशिष्ट्य दो बातो पर निर्भर करता है—(१) विशेष प्रकार के शब्द चयन और उक्ति के अन्तर्गत उनकी विशेष सरचना या सघटना (स्ट्रक्चर) पर। विश्वनाथ ने रीति को केवल दूसरे अर्थ मे ग्रहण किया है—

पदसघटना रीतिरगसस्थाविशेषवत् ।[3]

रीति-सिद्धान्त गुण-कल्पना पर आधारित है।[4] गुणो की सूची देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका सम्बन्ध शब्द चयन पर निर्भर वर्णध्वनि सौन्दर्य और पद सरचना दोनो से है।[5] यो तो गुणो की सख्या और उनके लक्षणो के सम्बन्ध मे संस्कृत काव्य-शास्त्र मे बडा झमेला है, फिर भी भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट सख्या को इस प्रकार सूचीबद्ध किया गया है—

श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्ति समाधय ॥

उपर्युक्त गुणो म से माधुर्य और सुकुमारता का सौन्दर्य मूलत वर्णध्वनि पर आश्रित है। माधुर्य श्रुतिमधुरता पर आश्रित रहता है[6] और सुकुमारता कोमल वर्णध्वनि पर निर्भर रहती है।[7] ओज गुण उभयाश्रीय है क्योकि एक ओर 'अक्षर-विन्यास, का सश्लिष्टत्व, सयुक्ताक्षरो का सयोग, ओज गुण के लिये आवश्यक होता है'[8] तो दूसरी ओर 'दण्डी के विचार से समासयुक्त पदों की बहुलता से ओज सम्पन्न होता है।'[9]

१—डा० नगेन्द्र, काव्य बिम्ब पृ० ४१
२—वामन, काव्यालकार सूत्र, १/२/७
३—विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण, ९/१
४—'यह विशिष्टता गुणों में है।'—डॉ० गुलाबराय, सिद्धात और अध्ययन, पृ० ३९
५—द्रष्टव्य—डा० रामअवध द्विवेदी, साहित्य सिद्धात, पृ० ४८ ४९ (रिचर्ड्स का मत)
६—डॉ० गुलाबराय, सिद्धात और अध्ययन, पृ० २४० से उद्धृत
७—'भरत ने *श्रुतिमधुरता* को (माधुर्य) माना है।'—हिन्दी साहित्य कोश, पृ० २७०
८—'अपरुष अक्षरों की योजना से सुकुमार गुण आता।' —वही, पृ० २७२
९—वही, पृ० २७०

इस प्रकार विशेष प्रकार का शब्द-चयन वर्णध्वनियो के आधार पर सौन्दर्य की सृष्टि करता है जिसे पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र ने भी स्वीकार किया है।[१]

पद-सघटन-सौन्दर्य

पद-संरचना या पद-सघटना का सौन्दर्य भी द्विमुखी होता है। वह एक ओर विशेष प्रकार के पदों के अन्तर्गुम्फन पर निर्भर करता है तो दूसरी ओर विशेष प्रकार के अर्थोत्कर्ष पर। वामन ने काव्यालकारसूत्र के तृतीय खण्ड के प्रथम अध्याय मे शब्द की दृष्टि से गुण विवेचन किया है और उसी खण्ड के द्वितीय अध्याय मे अर्थ-दृष्टि से गुणों का विचार किया है। इसी प्रकार भोज ने भी बाह्य और आभ्यतर विभागो के रूप मे शब्द-गुण और अर्थगुण दोनों का विचार कर[२] काव्य-सौन्दर्य को शब्द-ध्वनि और अर्थोत्कर्ष दोनों पर निर्भर माना है। पद-रचना मे विशेष ढंग से पदो का अन्तर्गुम्फन शब्द-ध्वनि (साउण्ड)-निर्भर सौन्दर्य का ही अग है। विभिन्न गुणों का लक्षण इसका साक्षी है। श्लेष 'शब्दों, अर्थों या वर्णों का एक मे सघटन'[३] है। 'गाढबन्धता अर्थात् रचना का सघन सघटन श्लेष है।[४] दूसरे शब्दो मे सफल समग्र आकृति (गेस्टाल्ट) के रूप मे पदान्तर्गुम्फन श्लेष है। इसी प्रकार आद्यन्त एक जैसी पद सघटना का निर्वाह समता है।[५] आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार यह समानुरूपता या सिमेट्री का निर्वाह है। निश्चित क्रम के साथ आरोहावरोह योजना समाधि गुण कहलाती है[६] आरोह-अवरोह शब्द-ध्वनि (साउण्ड) और अर्थ दोनो का हो सकता है। इसलिये यह गुण उभयनिष्ठ माना जा सकता है। प्रसाद का सम्बन्ध मूलत शब्द चयन और पदों के अन्तर्गुम्फन से है क्योंकि यह गुण अर्थ की सरल और सहज अभिव्यक्ति पर आश्रित है।[७] अर्थ की सरल अभिव्यक्ति सरल शब्दो और उनके सुस्पष्ट तथा आडम्बरहीन अन्तर्गुम्फन पर निर्भर करती है। अर्थाभिव्यक्ति की निश्चितता अर्थव्यक्ति है[८] और यह भी इस बात पर निर्भर करता है कि निश्चित

१—*Sounds are also measurable in their catagory They have comparable pitches and durations, and definite and recognizable combinations of those sensuous elements are as truly objects as chairs and tables.*
—George Santayna, *The Sense of Beauty*, *p* 93

२—हिन्दी-साहित्य कोश, पृ० २६९

३—वही, पृ० २७१

४—वही, पृ० २७१

५—मार्गाभेदः समता। —वामन, काव्यालंकार-सूत्र ३/१/१२

६—आरोहावरोहक्रम. समाधि वही, ३/१/१३

७—हिन्दी साहित्य-कोश, पृ० २७१

८—'अर्थ उद्दिष्ट अभिप्राय से अन्यत्र न जा सके, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है।'
—हिन्दी सहित्य-कोश, पृ० २७२

अर्थ देने वाले शब्दों का चयन हो और उन्हें इस ढंग से अन्तर्गुम्फित किया जाए कि वे अभिप्रेत अर्थ से इतर अर्थ अभिव्यक्त न करें। वर्ण्य का यथातथ्य, किन्तु प्रभावशाली चित्रण कान्तिगुण का लक्षण है। कान्ति गुण में 'लौकिक अर्थ का अतिक्रमण नहीं किया जाता और ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया जाता है कि कांत जगत् की कमनीयता व्यक्त हो, वहाँ कान्ति गुण होता है—कांत सर्वजगत् कांत लौकिकार्थानतिक्रमात्। तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते।'[1] आधुनिक शब्दावली में यह प्रतिबिम्बात्मक बिम्ब (फोटोग्राफिक इमेज) का समानार्थक है। कान्ति एक मात्र ऐसा गुण है जो विशेषप्रकार के शब्द-चयन या शब्द-संघटन पर निर्भर न होकर अर्थ-संघटन पर निर्भर है।

शैलीगत सौन्दर्य के प्रमुख रूप

विभिन्न गुणों के मिश्रण और अनुपात के भेद से कितनी ही शैलियाँ—रीतियाँ—हो सकती हैं, किन्तु कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों के आधार पर तीन प्रमुख रीतियाँ मानी गई हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। वैदर्भी दसों गुणों से युक्त, दोषरहित और माधुर्यपूर्ण होती है।[2] इसके विपरीत गौडी उग्र और समास-बहुल होती है। इसमें ओज गुण का प्राधान्य होता है।[3] पाञ्चाली सुकुमार, अगठित, भावशिथिल और छायायुक्त होती है।[4] वस्तुत: पाञ्चाली कोमल-ललित शैली है जबकि गौडी परुष और उग्र। पाश्चात्य दृष्टि से यह उदात्त के निकट पड़ती है, और वैदर्भी सुन्दर के। पाञ्चाली भी सुन्दर की श्रेणी में ही रखी जा सकती है, किन्तु उसमें शैथिल्य के कारण गरिमा और गाम्भीर्य का अभाव रहता है इसलिये उसमें सौन्दर्य की पूर्णता नहीं रहती। कुछ आचार्यों ने लाटी का उल्लेख भी किया है, किन्तु डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दों में लाटी रीति की कोई अलग विशेषता लक्षित नहीं होती।[5]

आस्वादनवादी सिद्धान्त-समुदाय

अलंकार, वक्रोक्ति और रीति सिद्धान्त काव्य की मूर्तन-प्रक्रिया पर बल देते हैं जिससे काव्य मूर्त रूप प्राप्त कर सहृदय-ग्राह्य हो जाता है। तब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मूर्त रूप के सन्निकर्ष से सहृदय में काव्यगत सौन्दर्य का संक्रमण कैसे होता है और सहृदय उसका आस्वादन किस प्रक्रिया से करता है। भारतीय काव्य-चिन्तन में इस प्रश्न को बहुत महत्व दिया गया है। ध्वनि और रस-विषयक विचारणा प्रधानत: इसी प्रश्न से सम्बन्धित है।

---

[1] १—हिन्दी-साहित्य कोश, पृ० २७२

[2] २—वही, पृ० ६६०

[3] ३—वही, पृ० ६६०

[4] ४—वही, पृ० ६६०

[5] ५—वही, पृ० ६६०

ध्वनि-सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त मे काव्य सौन्दर्य के सहृदय संक्रमण का विचार बडी गहराई से किया गया है। काव्य-सौन्दर्य का माध्यम शब्द-ध्वनि है जो श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण की जाती है। इसलिये सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से गृहीत शब्द ध्वनि से अर्थ बोध कैसे होता है। इस समस्या का बहुत ही समीचीन समाधान स्फोट-सिद्धान्त ने दिया है। इस सिद्धांत का आधार मनोवैज्ञानिक है। शब्द ध्वनियो के समाहार से बनता है। प्रत्येक उच्चरित ध्वनि उच्चारण के अगले क्षण विलुप्त होजाती है। ऐसी स्थिति मे शब्द के अन्तर्गत उनका समाहार कैसे होता है? इसीसे सम्बन्धित प्रश्न यह है कि प्रत्येक शब्द अगले शब्द के साथ जुडकर समग्र वाक्य के रूप मे कैसे प्रत्यक्षीकृत होता है क्योकि दूसरे शब्द के उच्चारण तक प्रथम शब्द का उच्चारण, फलत उसका श्रवण, समाप्त हो चुका होता है। यही प्रश्न समग्र प्रसंग और तदुपरान्त समग्र कृति के सम्बन्ध मे हो सकता है। वाक्यो का क्रम पूर्वापर होता है, तब वे परस्पर सग्रथित होकर एक समग्र प्रसंग को कैसे आकार देते हैं? इसी प्रकार पूर्वापरक्रम से प्रस्तुत प्रसंग कृति की समग्रता का बोध कैसे कराते हैं? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह गत्यात्मक समग्र के प्रत्यक्षीकरण की समस्या है जिसका उत्तर हमारे यहां स्फोट-सिद्धान्त द्वारा दिया गया है।

स्फोट-सिद्धांत और गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान

स्फोट सिद्धांत के अनुसार 'शब्दो का अर्थ, जो प्रकट होता है वह न तो वर्णों से होता है और न इन वर्णों से बने हुए शब्दों से होता है, प्रत्युत इन वर्णों से बने हुए शब्दो मे सन्निहित शक्ति के कारण अभिव्यक्त होता है। इस शक्ति को स्फोट की संज्ञा दी गई है।'[1] डॉ० गुलाबराय ने इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वैयाकरण व्यक्त शब्द, जो हमको सुनाई पडता है और अर्थ के बीच एक स्फोट की और कल्पना करते हैं जिसका अर्थ के साथ सम्बन्ध रहता है। यह एक साथ प्रस्फुटित होता है, इसलिये 'स्फोट' कहलाता है।[2] अभिप्राय यह है कि वर्णध्वनियो के क्रमिक उच्चारण और श्रवण के बावजूद उनका प्रत्यक्षीकरण एक समग्र आकृति के रूप मे होता है और फिर इसी समग्रता के प्रत्यक्षीकरण पर अर्थबोध निर्भर करता है। यह समग्रता पहले शब्द-रूप मे, फिर वाक्य-रूप में, तदुपरान्त प्रसंग-रूप मे और अन्तत कृति रूप मे व्यक्त होती है। गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान के अनुसार दृष्ट 'गति' एक गत्यात्मक समग्र के अन्तर्गत प्रत्याक्षीकृत होती है जिसमे घटक अंगो का

१—हिन्दी-साहित्य कोश, पृ० ८७०

२—डॉ० गुलाबराय, सिद्धांत और अध्ययन, पृ० २६६

समाहार हो जाता है।[1] घटक अ गो का पृथक पृथक् प्रत्यक्षीकरण न होकर घटित समग्र का प्रत्यक्षीकरण होता है और ऐसी स्थिति मे यदि घटको के मध्य थोडा व्यवधान होता है तो घटको का सामीप्य या सादृश्य उसका बोध नही होने देता और उन व्यवहित घटको के नैकट्य या सादृश्य के परिणाम-स्वरूप एक समग्र आकृति ही उभर कर सामने आती है।[2] इस प्रकार व्यवधान लुप्त हो जाते है और असम्बद्ध, किन्तु निकट या सदृश अ गो से एक समग्र की प्रतीति होती है।[3] शब्द के अर्थ ग्रहण मे भी क्षणो का व्यवधान लुप्त हो जाता है और निकटता के आधार पर वर्णध्वनियो के समाहार मे एक शब्द की समग्रता का बोध होता है। इसी प्रकार विभिन्न शब्दो का परस्पर व्यवधान वाक्य की समग्रता मे विलीन हो जाता है तथा वाक्यो का व्यवधान प्रस ग की समग्रता मे और प्रस गो का व्यवधान कृति की समग्रता मे विलीन हो जाता है। यह एक ऐसी गतिशील प्रक्रिया है जिसमे पीछे छूटती हुई गति समग्र मे अन्तर्ग्रथित होकर प्रत्यक्षीकृत होती है। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया म इ द्रियबोध स्वत अन्तर्गुम्फित हो जाते हैं और समग्र के रूप मे आकार ग्रहण करते हैं।[4] स्फोट सिद्धात मे 'अर्थ का एक साथ प्रस्फुटन' समग्र के प्रत्यक्षीकरण का ही परिणाम है।

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम।
यत तत प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवागनासु।[5]

स्पष्टत यह अ गो का नहीं, अ गी का सौन्दर्य है। ध्वनि मे अ ग-रूप शब्दार्थ का समाहार समग्र या प्रतीयमान अर्थ मे हो जाता है, फलत सहृदय को जो सौन्दर्य प्रभावित करता है वह समग्र (प्रस ग या कृति) का अर्थात अ गी का सौन्दर्य होता है जिसमे अ ग रूप शब्दार्थ का विलय हो जाता है, उसकी स्वतन्त्र प्रतीति समाप्त हो जाती है—

यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित ॥[6]

---

[1] —*Seen movement was important to Gestalt Psychologists as a clear example of the dynamic whole, the whole that dominates its parts*
—R S Woodworth, *Contemporary Schools of Psychology p 124*

[2] —*Ibid p 128*

[3] —*Ibid, p 130*

[4] —*Sensations are self organizing or the sensory field as a whole is self-organizing—that is what our Gestalt Psychologists mean.* -*Ibid p 127*

—ध्वन्यालोक, १/४

[6] —वही, १/३

समग्रता के विविध स्तर

काव्य मे समग्रता के कई स्तर हो सकते है। उक्ति-विशेष अपने-आप मे 'समग्र' हो सकती है, प्रसंग विशेष समग्राकृति के रूप मे व्यक्त होता ही है और कृति विशेष की भी अपनी समग्रता होती है। फलत प्रतीयमान अर्थ के भी अनेक स्तर संभव हैं। उक्ति विशेष का अपना प्रतीयमान अर्थ हो सकता है और सम्पूर्ण कृति का भी अपना एक समग्र प्रतीयमान अर्थ हो सकता है, किन्तु उक्ति-विशेष के प्रतीयमान मे अव्याप्ति होती है और सम्पूर्ण कृति के प्रतीयमान अर्थ मे अतिव्याप्ति। इसलिये जहाँ उक्ति-विशेष के प्रतीयमान अर्थ मे प्राय स्वायत्तता नही रहती, वहीं सम्पूर्ण कृति के प्रतीयमान मे फैलाव अधिक होने से घनत्व कम होता है। अतएव प्रभाव की दृष्टि से प्रसंग-विशेष के प्रतीयमान का सम्यक् प्रस्फुटन हो पाता है।

प्रकरण का महत्त्व

सम्भवत: इसीलिये भारतीय तथा पश्चिमी विचारको ने अर्थ-व्यंजना मे प्रसंग या प्रकरण को बहुत महत्त्व दिया है। 'भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे शब्द का अर्थबोध कराने वाले जिन चौदह या पन्द्रह उपकरणो का उल्लेख किया है, प्रकरण उनमें मुख्य स्थान रखता है। ऐसे ही व्यंजना के निरूपण मे प्रकरण को विशेष महत्त्व दिया गया है। वक्ता कौन है, किससे कहा जा रहा है, किस परिस्थिति मे कौन बात कह रहा है, जब सहृदय को इन बातो का ज्ञान हो जाता है तभी व्यंग्यार्थ की सम्यक् प्रतीति संभव होती है।'[1] ब्लूमफील्ड नामक पाश्चात्य विद्वान ने भी लगभग ऐसी ही बात कही है।[2] एम्पसन और रिचर्डस ने भी अर्थ-बोध की दृष्टि से परिस्थितियो के ज्ञान को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है।[3] परिस्थितियो के ज्ञान का महत्त्व समग्र-बोध के द्वारा प्रतीयमान की व्यंजना के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धांत से काव्य मे निहित अर्थ-सौन्दर्य के संक्रमण या सम्प्रेषण की समस्या हल हो जाती है। अलंकार, वक्रोक्ति और रीति विभिन्न दृष्टियो से काव्य मे कवि-चेतना के रूपायन का विचार कर कृति की सौन्दर्य सम्प्रेषणीयता को महत्त्व देते हैं। ध्वनि रचनागत सौन्दर्य के सहृदय मे संक्रमित होने की प्रक्रिया की व्याख्या कर देती है।[4] तब प्रश्न यह रहता है कि सहृदय कृति के संक्रमित

---

[1] —डॉ० रामअवध द्विवेदी, साहित्य-सिद्धान्त, पृ० ४८

[2] —*If we had an exect knowledge of every speaker's situation and of every hearer's response—we could simply register those two facts as the meaning of any given speechutterance*
Quoted from Sahitya Siddhant Dr. Ram Avadh Dwivedi, *p. 48*

[3] —*Ibid, p. 47*

[4] —'व्यंजना, ध्वनि अथवा प्रतीयमान भाषा का स्थूल तत्त्व नहीं, अपितु अत्यन्त अमूर्त एवं सूक्ष्म व्यापार है।—वही, पृ० ५४

सौन्दर्य का आस्वादन कैसे करता है ? क्या ध्वनि-प्रक्रिया से सहृदय संक्रमित सौन्दर्य स्वयं आनन्द का कारण होता है अथवा उसमें सहृदय की भी अपनी कोई भूमिका होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देता है रस सिद्धान्त—ध्वनि सिद्धान्त के सहयोग से।

रस-सिद्धान्त

कवि अपनी रचना मे सर्जनात्मक कल्पना के बल पर जिस रूप विधान की सृष्टि करता है उसके सन्निकर्ष से सहृदय के अन्तर मे काव्य का ग्रहण एक गतिशील समग्र के रूप मे होता है। सहृदय मे काव्य-सौन्दर्य का बोध श्रवणेन्द्रिय (या पढने की स्थिति मे दृष्टि) के माध्यम से होता है, किन्तु ये इन्द्रिय-संवेदन मन की संगठन-व्यवस्था के अन्तर्गत स्वतः संग्रथित होकर 'समग्र' के अवयव बन जाते हैं। काव्य-शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र मे सौन्दर्य ग्रहण की इस प्रक्रिया को कल्पना-शक्ति का व्यापार माना गया है[1] और कला-सौन्दर्य अथवा काव्य-सौन्दर्य को ग्रहण करने वाली कल्पना को ग्राहक कल्पना की संज्ञा दी गई है।[2]

आस्वादन की अनेकरूपता

ग्राहक कल्पना के द्वारा काव्यगत सौन्दर्य का आस्वादन किसी एक ही प्रक्रिया पर निर्भर हो या उस सौन्दर्यास्वादन का कोई एक निश्चित रूप हो—ऐसी मान्यता संकुचित दृष्टि की ही परिचायक हो सकती है। सहृदय काव्य के रूप विधान पर रीझ सकता है कवि की सूक्ष्म दृष्टि या दृष्टि-विस्तार पर मुग्ध हो सकता है, कवि की जीवनरहस्योन्मूलिनी दृष्टि की प्रशंसा कर सकता है और काव्यगत संवेगों के सन्निकर्ष से उस विशिष्ट कोटि के आनन्द मे निमज्जित हो सकता है जिसे 'रस' की संज्ञा दी गई है। इससे स्पष्ट है कि 'रस' काव्यानन्द का प्रकार विशेष है, एकमात्र काव्यानन्द नही।

लेकिन भारतीय काव्य मे रस की ऐसी प्रधानता रही है कि भारतीय काव्य-शास्त्र मे रस व्यापक चर्चा का विषय बन गया है। वह भारतीय मनीषा की एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप मे स्वीकृत हुआ है।[3] आज भी उसके सम्बन्ध मे निरन्तर ऊहापोह चल रही है। इसलिये रसास्वादन की प्रक्रिया का अध्ययन काव्य सौन्दर्य के विश्लेषण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय काव्यशास्त्र मे रसास्वादन की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे बहुत मतभेद रहा है। भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त ने अपने अपने ढंग से

१—द्रष्टव्य—पं० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि भाग १ पृ० २३९

२—वही, पृ० १६१-१६२

३—द्रष्टव्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, उपसंहार

इस प्रक्रिया की व्याख्या की है जिससे काव्य जगत् का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है। अतएव उनके मतभेदो का पुनराख्यान न कर प्रक्रिया का विचार करना अधिक समीचीन होगा।

रस प्रक्रिया

काव्य एक गतिशील समग्र के रूप मे प्रत्यक्षीकृत होता है। अपनी गतिशील समग्रता मे वह अनेक बार सवेगो को वहन करता है। फलत गतिशील समग्र के प्रत्यक्षीकरण से सहृदय के अन्तर मे वे सवेग सक्रमित होते हैं और उनके सक्रमण के परिणामस्वरूप सहृदय के तदनुसारी सवेग समानुभूति (एम्पैथी) की प्रक्रिया से उद्बुद्ध हो उठते हैं। उन सवेगो के उद्बुद्ध हो जाने से सहृदय आनन्द का अनुभव करता हैं क्योकि सवेग 'स्व' और 'पर' की चेतना से मुक्त होते हैं।

सस्कृत काव्यशास्त्र मे इस प्रक्रिया पर विचार किया गया है और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे 'रस' जैसे पारिभाषिक शब्द के अभाव मे भी सौन्दर्यबोध के सम्बन्ध से इस प्रक्रिया को बहुत महत्त्व दिया गया है। दोनो के तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रसास्वादन की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे दोनो मे बहुत समानता है।

साधारणीकरण और तादात्म्य : आधुनिक दृष्टि

सस्कृत काव्यशास्त्र मे रस सिद्धान्त साधारणीकरण सिद्धान्त पर निर्भर है। साधारणीकरण सिद्धान्त का मेरुदण्ड है—तादात्म्य और समानुभूति का सिद्धात। इस सम्बन्ध म प्रभूत विवाद रहा है कि काव्य पढ़ते समय अथवा नाटक देखते समय सहृदय का तादात्म्य किसके साथ होता है। सामान्यतया आश्रय के साथ तादात्म्य की बात कही जाती है लेकिन कई बार आश्रय के साथ तादात्म्य नही भी होता है और 'आश्रय' शब्द तो बहुत ही अनिश्चित है क्योकि इस समय जो आश्रय है थोडी देर बाद ही वह आलम्बन बन सकता है। समस्या को हल करते हुए शुक्ल जी ने स्पष्ट किया कि 'तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप सघटित करता है। जो स्वरूप कवि कल्पना मे लाता है, उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अत पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्राय हो जाता है।'[1] इस प्रकार कवि का आलम्बन सभी सहृदयो के वैसे ही भाव का विषय बनता है

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० २३२।

जैसा वह कवि के भाव का विषय रहा होता है।[1] इस प्रकार अन्तत कवि के साथ तादात्म्य तथा कवि के आलम्बन एव उसके भाव का साधारणीकरण होता है। अभिनव गुप्त ने इस तादात्म्य को तन्मयीभवन कहा है।

सत्वोद्रेक और मानसिक अंतराल

तब प्रश्न यह है कि कवि के साथ तादात्म्य हो जाने से रसानुभूति कैसे होती है ? हमारे मन मे काव्य के सन्निकर्ष से आनन्द की अनुभूति क्यों होती है ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक प्रकार से दिया गया है। भट्टनायक और अभिनव गुप्त ने सत्वोद्रेक को आनन्द का कारण माना है। काव्य पढते समय अथवा नाटक देखते समय रजोगुण और तमोगुण का का नाश होकर, जो दुःख और मोह का कारण होते है, शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होने लगता है और चित्तवृत्तियो के शात हो जाने से वही आनन्द का कारण बन जाता है।[२] भट्टनायक के समान 'सतोगुण के प्रभाव को अभिनव गुप्त ने भी माना है'[3] रस निष्पत्ति की यह दार्शनिक व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। इससे कोई वैज्ञानिक समाधान नही मिलता, लेकिन अभिनव गुप्त की इस व्याख्या से रसास्वादन की प्रक्रिया बहुत स्पष्ट हो जाती है कि 'साधारणीकृत हो जाने के कारण इनके सम्बन्ध में न मेरे हैं वा शत्रु के हैं अथवा उदासीन के हैं ऐसी सम्बन्ध स्वीकृति रहती है और न मेरे नही है, शत्रु के नही हैं वा उदासीन के नहीं ऐसी सम्बन्ध अस्वीकृति रहती है।[४] एडवर्ड बूलो ने कला सौन्दर्य के आस्वादन के सम्बन्ध मे मानसिक अन्तराल के जिस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है वह बहुत अंशो मे अभिनव गुप्त के उपर्युक्त सिद्धान्त से मिलता है। एडवर्ड बूलो की स्थापना है कि कला सौन्दर्य का आस्वादन वैयक्तिक-निर्वैयक्तिक या विषयीगत विषयगत की चेतना से निरपेक्ष होता है।[५] एडवर्ड बूलो ने 'मानसिक अन्तराल' की जो व्याख्या की है वह उपर्युक्त भारतीय सिद्धान्त की ही व्याख्या प्रतीत होती है। बूलो के अनुसार कलाकृति

२—जार्ज ह्वेली की सम्प्रेपण विषयक विचारणा से वह (सम्प्रेषण) बहुत अंशों में साधारणीकरण का समानार्थक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में जार्ज ह्वेली की पुस्तक 'पोइटिक प्रोसेस', पृ० ६ द्रष्टव्य है।

२—द्रष्टव्य— डॉ० गुलाबराय सिद्धान्त और अध्ययन पृ० १९७

३—वही पृ० १९८

४—वही पृ० २०६

५—*'Personal' and 'Impersonal', 'subjective' and 'objective' are such terms devised for purposes other than esthetic speculation*

—Edward Bullongh, *'Psychical Distance' and a factor in Art and an Esthetic Principal, incorporated in A Modern Book of Esthetics,*

— *Edited by* Melvin Rader, *p 397*

का प्रभाव व्यक्ति की व्यावहारिक आवश्यकताओं एवं प्रयोजनों से असम्बद्ध होना है, इसके साथ ही वह व्यक्ति के आत्मभाव या उसकी स्वविषयक चेतना से सर्वथा विलग भी नहीं होता—इसलिये वह निर्वैयक्तिक भी नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से वह न तो वैयक्तिक होता है न निर्वैयक्तिक। वह वैयक्तिक चेतना से दूर का सम्बन्ध रखता है—उसका अन्तरंग अंग नहीं होता।[1] कला के सौन्दर्य ग्रहण में आस्वादक व्यक्ति और कला-प्रभाव की यह दूरी यदि बहुत कम हुई तो कलास्वादन सम्भव नहीं होगा, और यदि यह दूरी बहुत अधिक हुई तो कलास्वादन बाधित होगा।[2] इसलिये कलास्वादन के लिए औसत दूरी का निर्वाह आवश्यक है। दूरी के निर्वाह की समस्या भट्टनायक के सामने भी आई थी। इस समस्या को उन्होंने 'उभयतोपाश' शब्द के द्वारा प्रकट किया है—'दर्शक या पाठक उभयतोपाश में पड़ जाता है। यदि वह अनुकार्यों से तादात्म्य करता है तो उसे शायद औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर लज्जा का सामना करना पड़े और यदि अपने को भिन्न समझता है तो यह प्रश्न होता है कि दूसरों की रति से उसे क्या प्रयोजन ? 'द्वाभ्यां तृतीयो' बनने का अस्पृहणीय मूर्ख पद वह क्यों ग्रहण करे।'[3] 'भट्टनायक ने इस समस्या का समाधान सत्वोद्रेक के आधार पर किया है और साधारणीकरण के लिये स्वकीयता-परकीयता निरपेक्ष चेतना पर बल दिया है। बूलो ने मानसिक अन्तराल के सिद्धान्त द्वारा लगभग उसी बात का प्रतिपादन किया है।

बूलो के विवेचन से इस बात की भी पुष्टि होती है कि सहृदय का तादात्म्य किसी पात्र के साथ न होकर उसके मूल कवि-मानस के साथ होता है। यदि पात्र के साथ उसका तादात्म्य हो गया तो मानसिक दूरी का निर्वाह नहीं हो सकेगा। आलम्बन के प्रति पात्र विशेष की जो भावना होगी, वही सहृदय को भी हो जाएगी। ऐसी स्थिति में वह उसकी वैयक्तिक अनुभूति होगी, जो आस्वादन में बाधक होती है, किन्तु स्रष्टा के साथ तादात्म्य होने पर वह कठिनाई उसके सामने नहीं आएगी क्योंकि कला-स्रष्टा भी उसी स्थिति में कला-सर्जना कर सकता है जबकि वह अपनी सृष्टि के प्रति दूरी रख सके। जब तक उनके मनोभावों में स्वकीयता की चेतना रहेगी, वह कला-सृष्टि नहीं कर सकेगा क्योंकि उस स्थिति में वह अपने राग-विराग से बँधा

१—*Distance, as I said before, is obtained by seperating the object and its appeal from one's self by putting it out of gear with practical needs and ends. Thereby the 'Contemplation' of the object becomes only possible. But it does not mean that the relation between the self and the object is broken to the extent of becoming 'impersonal'. —Ibid, p. 397.*

२—*Ibid, p. 398*

३—द्रष्टव्य—डॉ० गुलाबराय, सिद्धांत और अध्ययन, पृ० १९६

होगा ।[1] यदि वह उन भावों को सर्वथा पराये समझेगा तो उनमें उसे क्या रुचि होगी ? वे उसके व्यक्तित्व के अंश कैसे बन सकेंगे और कृति में उनको चेतना को वहन कैसे कर सकेंगे ? इसलिये कवि अपनी कविता में या कलाकार अपनी कलाकृति में अपने जिन मनोभावों को व्यक्त करता है उनके प्रति वह अनासक्त होता है। इसी प्रकार सहृदय उसकी कृति का आस्वादन करते समय अनासक्त होता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि सृष्टि में स्रष्टा की आत्मीयता नहीं होती या आस्वादन में आस्वादक की आत्मीयता नहीं होती है। दोनों ही ओर आत्मीयता होती है, किन्तु यह अनासक्त आत्मीयता होती है। यही 'मानसिक अन्तराल' है और यही सत्त्वोद्रेक है।

अभिव्यंजना अभिनव गुप्त और जार्ज संतायना

रस सिद्धान्त का वैशिष्ट्य, जिसे अभिनव गुप्त ने स्पष्ट किया, यह भी है कि काव्य या कलाकृति के सन्निकर्ष से सहृदय के मन में जो भाव उद्बुद्ध होते हैं, वह उन्हीं का आनन्द लेता है—'काव्य में वर्णित विभावादि के पठन श्रवण से अथवा नाटकादि के दर्शन से वे संस्कार रूप स्थायी भाव उद्बुद्ध अवस्था को प्राप्त होकर या अभिव्यक्त होकर विघ्नों के (जैसे वर्ण्यवस्तु की असम्भावना, वैयक्तिक भावों का प्राधान्य आदि) अभाव में सहृदयों के आनन्द का कारण होता है।'[2] 'रस में आत्माभिव्यंजना की जो स्थापना अभिनव गुप्त ने की थी उसकी पुष्टि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री जार्ज संतायना के सौन्दर्य बोध सम्बन्धी मत से भी होती है। रोचक तथ्य यह है कि जार्ज संतायना ने भी इसे अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) की संज्ञा दी है और उसकी जो प्रक्रिया बतलाई है वह 'मधुमती भूमिका' से बहुत मिलती है। श्यामसुन्दरदास जी के अनुसार मधुमती भूमिका चित्त की वह अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती।[3] इस भूमिका पर पहुँचकर सहृदय की वृत्तियाँ एकतान-एकलय हो जाती हैं।[4] संतायना के अनुसार सौन्दर्यबोध की अवस्था में व्यक्ति के

---

[1] —*The same qualification applies to the artist He will prove artistically most effective in the formulation of an intensely personal experience, but he can formulate it artistically only on condition of a detachment from the experience qua personall* —Edward Bullough, *'Psychical distance' etc, incorporated in 'A Modern Book of Esth tics', edited by* Melvin Rader, *p 399*

[2] —डॉ० गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १९८

[3] — वही, पृ० २६८

[4] —वही पृ० २०९

विकीर्ण आवेग संश्लिष्ट होकर एक बिम्ब में समाहित हो जाते हैं। सौन्दर्यबोध का रहस्य इन क्षणिक अन्वितियों में निहित रहता है।[1]

करुण रस की समस्या अभिनवगुप्त, रिचर्ड्स संतायना और बूलो

रसास्वादन की प्रक्रिया में दुःख में सुख की निष्पत्ति अर्थात् करुण रस की समस्या एक बहुत बड़ा प्रश्न है जिसकी ओर भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने बहुत ध्यान दिया है भारतीय विचारकों में अभिनव गुप्त की दृष्टि बहुत पैनी रही [illegible] रस के मर्म को पकड़ा है। उनका मत है कि रस-चर्वणा में केवल संवेदना का आनन्द लिया जाता है। संवेदना को मूर्त करने वाला समग्र प्रसंग पीछे छूट जाता है और सहृदय केवल संवेदना की अनुभूति करता है। संवेदना अपने आप में आनन्द-रूप है, दुःखद तो वह उन परिस्थितियों के कारण प्रतीत होती है जो उस संवेदना को मूर्त रूप देती है, किन्तु रसास्वादन के क्षणों में उन परिस्थितियों का आस्वादन नहीं किया जाता, उनके द्वारा मूर्तित संवेदना ही आस्वाद्य होती है।[2] इसलिए करुण रस का आस्वादन आनन्दमय होता है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह सिद्धान्त 'मानसिक अन्तराल' के सिद्धान्त के बहुत निकट दिखाई देता है। एडवर्ड बूलो ने नाटक की आनन्दरूपता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि नाटक के पात्र और उनकी परिस्थितियाँ लौकिक व्यक्तियों एवं परिस्थितियों के समान ही हमारे बोध के विषय होते हैं, किन्तु उनके प्रति हमारा लगाव वैसा नहीं होता जैसा लौकिक व्यक्तियों—परिस्थितियों के प्रति होता है। यह अन्तर प्रायः इस बात में निहित माना जाता है कि नाटकीय पात्रों एवं परिस्थितियों की काल्पनिकता की चेतना हमारे आनन्द का कारण होती है। बूलो के अनुसार यह काल्पनिकता की चेतना मानसिक अन्तराल का ही परिणाम है। मानसिक अन्तराल के कारण नाटकीय विभावन-व्यापार (पात्र एवं परिस्थितियाँ) काल्पनिक प्रतीत होता है। अभिनव गुप्त ने भी नाटक के अभिनय-

---

१—*It is the essential previlage of beauty to so synthesize and bring to a focus the various impulses of the self, so to suspend them to a single image that a great place falls upon that perterbed kingdom In the experience of these momentary harmonies we have the basis of the enjoyment of beauty, and all its mystical meaning.*

—George Santayna, *The Sense of Beauty*, p. 235

२—अस्मन्मते तु संवेदनमेवानंदघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशंका। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादि व्यापारः।

—हिन्दी-अभिनव भारती पृ० ५०७ (आचार्य विश्वेश्वर-सम्पादित)

व्यापार को रतिशोकादि वासनाओ का चित्रताकरण अर्थात् सम्मूर्तन का साधन मात्र कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि रसास्वादन केवल सम्मूर्तित सवेदना का होता है, सम्मूर्तन व्यापार का नही, आनन्दरूप सवेदना को मूर्त बना कर सम्मूर्तन व्यापार (विभावन व्यापार) पीछे ही छूट जाता है। उस प्रसग मे 'केवल तस्यैव चित्रताकरणं' से स्पष्ट हो जाता है कि विभावन का कार्य इसके आगे नही जाता। एडवर्ड बूलो ने अधिक स्पष्टता से यह प्रतिपादित किया है कि मानसिक अन्तराल के परिणामस्वरूप नाटकीय पात्रो एव परिस्थितियो की काल्पनिकता की प्रतीति होती है, फलत हमारे मन पर उनका जो प्रभाव पडता है वह छनकर आता है—उनकी काल्पनिकता से युक्त होकर आता है।[1] पात्रो एव परिस्थितियो की काल्पनिकता की चेतना दु खरूपता को नष्ट कर देती है क्योकि हमारी चेतना के किसी भीतरी कोने मे बराबर यह बोध रहता है कि ये सारे पात्र और ये सारी परिस्थितियाँ यथार्थ होते हुए भी अवास्तविक हैं—इनकी वस्तु सत्ता नही है। इसलिए वस्तु अस्तित्व की चेतना से शून्य नाटकीय व्यापार केवल सवेदना को जगाकर रह जाता है, अपनी वस्तु सत्ता का बोध नही कराता। अभिनव गुप्त 'केवल तस्यैव चित्रताकरणं' से यही प्रतिपादित करते हैं।

'करुण-रस' सज्ञा ही यह सूचित करती है कि करुण रस मे मात्र शोक की सवेदना नही होती। अभिनव गुप्त ने स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि शृगार और करुण रस स्थायीभावात्मक न होकर स्थायी-प्रभव होते है। काव्यगत स्थायीभाव रति और शोक के सम्पर्क म आने पर सहृदय के हृदय मे उ ही भावो का उदबोधन

---

[1] —*Distance does not imply an impersonal, purely intellectually interested relation of such a kind On the contrary, it describes a personal relation, often highly emotionally coloured, but of a peculiar character Its peculiarity lies in that the personal character of the relation has been, so to speak, filtered It has been cleared of the practical, concrete nature of its appeal without however, thereby losing its original constitution One of the best known examples is to be found in our attitude towards the events and characters of the drama they appeal to us like persons and incidents of normal experience, except that side of their appeal, which would usually affect us in a directly personal manner, is held in abeyance This difference so well known as to be almost trivial, is generally explained by reference to the knowlegde that the characters and situations are 'unreal, imagenary'*
—Edward Bullongh, *'Psychical Distance' etc incorporated in 'A Modern Book of Esthetics,' edited by* Melvin Rader *p. 397*

[2] —द्रष्टव्य—डॉ० निर्मला जैन, रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृ० १४९

न होकर उनमें प्रेरित प्रभावों का उदय होता है—तदनुसार प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। काव्यगत शोक स्थायीभाव के सम्पर्क मे आने पर सहृदय के मन मे शोक नही करुण का उदय होता है—करुण मे संवेदना के साथ दया का तत्त्व भी रहता है। आई॰ए॰ रिचर्ड्स ने इसे ही दो विरोधी संवेगो—त्रास और दया (टेरर एण्ड पिटी) का सम्मिश्रण कहा है।[1] 'करुण' शब्द मे दोनो भावनाओं का समाहार सूचित होता है।

करुण रस की विलक्षणता ने त्रासदी के आनन्द के सम्बन्ध से पाश्चात्य काव्य-चिन्तकों और सौन्दर्यशास्त्रियों की विचारणा का बहुत मंथन किया है।[2] फलत पश्चिम मे त्रासदी के आनन्द के सम्बन्ध मे अनेक मत व्यक्त किये गये जिनमे रिचर्ड्स, संतायना और बूलो के मत सुस्पष्ट एव वैज्ञानिक हैं। बूलो ने मानसिक अन्तराल-विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर वस्तु-सत्य से कला-सत्य का अन्तर स्पष्ट कर दिया है जिससे यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि कला या काव्य मे व्यक्त वेदना की काल्पनिकता की चेतना उसे दुःख का विषय नही बनने देती। रिचर्ड्स ने करुण रस (त्रासदी के आनन्द) के घटक आवेगों के आधार पर उसमें दया के समावेश के सिद्धान्त से उसके आकर्षण के रहस्य का उन्मीलन किया है। वस्तुतः काव्य मे त्रास के साथ दया की भावना काल्पनिकता की चेतना से संलग्न है। यदि काल्पनिकता की चेतना न हो तो दोनो का मिश्रण सम्भव नही होगा। ऐसी स्थिति मे संवेदना के कारण या तो केवल दुःख होगा या केवल दया। यदि दोनों आवेग उत्पन्न भी होंगे तो उनमे अन्विति नही आ सकेगी। करुण की विशेषता दोनो आवेगों की अन्विति मे निहित है।

संतायना ने करुण रस के सम्बन्ध मे और भी गहराई से विचार किया है। संतायना ने प्रतिपादित किया है कि करुण का आनन्द केवल दया के आकर्षण पर या शोक की अवास्तविकता पर निर्भर नही होता इसमे अन्य आवेगो का योग भी रहता है। संतायना की महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने करुण का आधार मात्र शोक को नहीं, प्रत्युत शोक की उत्कृष्टता को माना है। उत्कृष्ट शील-समाविष्ट शोक ही करुण रस का विषय बनता है। भीषण परिस्थितियो के मध्य संघर्षशील शीलवान मनुष्य का शोक अपने मानवीय उत्कर्ष के कारण करुण रस का संचार करता है। जो शीलवान व्यक्ति परिस्थितियो मे पिसता हुआ भी अपनी उत्कृष्टता का त्याग नही करता वही करुण रस का श्रेष्ठ आलम्बन बन सकता है। इस प्रकार करुण रस

१—डॉ० निर्मला जैन रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र पृ० १५६

२—डॉ० निर्मला जैन ने 'रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र' में पृ० १५६ पर त्रासदीय आस्वाद विषयक अनेक पाश्चात्य विचारकों के मतों को उद्धृत किया है, किन्तु संतायना का महत्त्वपूर्ण मत वहाँ छूट गया है।

में आलम्बन की आशंसा की भावना का समावेश भी रहता है।[१] दशरथ का पुत्र-शोक (राम के निर्वासन के अवसर पर) करुण रस का जैसा उत्कृष्ट प्रसंग बन गया है, वैसा रावण का पुत्र-शोक (इन्द्रजित-वध के प्रसंग में) नहीं बन सका है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस और भावस्थिति के विभेदीकरण से इस विषय पर प्रकाश पड़ता है। कोई भी अनुभूति जब तक साधारणीकृत होकर सभी सहृदयों के आस्वादन का विषय नहीं बन जाती तब तक रस-निष्पत्ति संभव नहीं और उत्कृष्ट शील सम्पन्न व्यक्ति के शोकावेश में साधारणीकरण हो सकने की संभावना सर्वाधिक रहती है।

साधारणीकरण-विषयक आपत्तियाँ :

व्यक्तिपरक आस्वाद-सिद्धान्त और व्यक्तिवैचित्र्य

इधर कुछ काव्य विचारकों ने साधारणीकरण सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। एफ.एल. लूकस ने यह प्रतिपादित किया है कि सभी पाठक काव्य कृति का (और सभी प्रेक्षक नाट्य कृति का) समान रूप से आस्वादन नहीं करते। उनके व्यक्तित्वों की भिन्नता से आस्वादन में भी भिन्नता उत्पन्न होती है।[२] जार्ज संतायना ने भी यह माना है कि अभिव्यंजना की प्रक्रिया में व्यक्ति की निजी प्रतिक्रियाएँ प्रकट होती हैं।[३] एडवर्ड बूलो ने भी मानसिक अन्तराल की भिन्नता के

---

[१] — *There is no noble sorrow except in a noble mind, because what is noble is the reaction upon the sorrow, the attitude of the man in its presence, the language in which he clothes it, the association with which he surrounds it, and the fine affections and impulses which shine through it only by suffusing some sinister experience with this normal light, as a poet may do who carries this light within him, can we raise misfortune into tragedy and make it better for us to remember our lives than to forget them* — George Santayna, *The Sense of Beauty*, p 225

[२] — *Every work of art is different for every percepient since the percepients' own faculties and associations must Collaborate with artist's work to produce the artistic impression*

— F.L. Lucas, *literature and Psychology*, p 212

[३] — *My words, for instance, express the thoughts which they actually arouse in the reader; they may express more to one man than to another, and to me they may have expressed more or less than to you.*

— George Santayna, *The Sense af Beauty*, p. 196.

अनुसार आस्वादन की भिन्नता का उल्लेख किया है।[1] पाश्चात्य विचारकों की ये उपपत्तियाँ तर्कसम्मत हैं, किन्तु इनसे साधारणीकरण सिद्धान्त असिद्ध नहीं होता। रसास्वादन में सहृदय की मानसिक स्थिति और मनोरचना का महत्त्व भारतीय काव्य-चिन्तन में भी स्वीकार किया गया है[2] किन्तु इन छोटी-छोटी भिन्नताओं के बावजूद आस्वादन में सामान्य तत्त्व प्रभूत मात्रा में रहता है। यही सामान्य तत्त्व साधारणीकरण और तज्जन्य रसास्वादन का आधार बनता है।

दूसरी ओर रूप और अनुभूति का कल्पित विरोध भी साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ शंकाएँ उपस्थित करता है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रकार का प्रश्न उठाया है— शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है, द्वितीय में कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।'[3] इस आशंका का उत्तर मानसिक अन्तराल के सिद्धान्त से भली भाँति मिल जाता है। रसानुभूति की दशा में भी अन्तराल बना रहता है। सहृदय की पृथक् सत्ता कभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं होती - केवल अनासक्त आत्मीयता का भाव रहता है। शुक्ल जी व्यक्ति-वैचित्र्य को बहुत दूर तक ले गये हैं—"यह 'व्यक्तिवाद' यदि पूर्णरूप से स्वीकार किया जाय

१—*It will be readily admitted that a work of art has the more chance of appealing to us better it finds us prepared for its particular kind of appeal Indeed, without some degree of predisposition on our part, it must necessarily remain incomprehensible, and to that extent unappreciated. The success and intensity of its appeal would seem, therefore, to stand in direct proportion to the completeness with which it corresponds with our intellectual and emotional peculiarities and the idiosyncrasies of our experience The absence of such a concordance between the characters of a work and of the spectator is, of course, the most general explanation for differences of tastes*

—Edward Bullough *'Psychical Distance', etc. incorporated in a Morden Book of Esthetics edited by* Melvin Rader, *p 398*

२—सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ॥
—धर्मदत्त की उक्ति (आचार्य विश्वनाथ द्वारा साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद की नवीं कारिका की वृत्ति में उद्धृत)

३—चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३३

तो कविता लिखना ही व्यर्थ समझिए। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों हजारों क्या लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा ? ऐसी अवस्था मे तो यही सम्भव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात छोड़ दी जाय, व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा ऊपरी कुतूहल मात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाय।"[1] स्पष्टतः व्यक्ति वैचित्र्य के प्रति शुक्ल जी की यह चिन्ता अतिरंजित है। व्यक्तिवैचित्र्य सृष्टि की विशाल व्यापकता मे निहित नानात्व को प्रकट करता है। इस नानात्व से केवल कौतूहल शान्त नहीं होता, प्रकृति की वैविध्यमयी छटा का उद्घाटन भी होता है जिसका हमारे सौन्दर्यबोध से गहरा सम्बन्ध है। इसी व्यक्ति-वैचित्र्य के मध्य गहन अनुभूतियाँ रूप ग्रहण करती हैं। इस प्रकार यह वैविध्य अनुभूति-ग्रहण में भी साधक होता है। जिस कवि मे रूपविधान की जितनी अच्छी क्षमता होती है वह अनुभूतियों को भी उतने ही अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर सकता है। इसलिए यह शंका निर्मूल है कि व्यक्ति वैचित्र्य से रसानुभूति कुंठित होती है। यह बात अवश्य है कि कभी-कभी कवि रूप विधान को ही प्रधानता देता है, अनुभूति को नहीं। ऐसी दशा में कवि का उद्देश्य रस-निष्पत्ति नही होता। अतएव इस आधार पर उसकी कृति की समीक्षा करना ही उचित नही है। रूप का अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य भी होता है। वह सदैव रस का साधन हो, यह माँग अनुचित है-और जब वही कवि का उद्दिष्ट हो तो उसी मानदण्ड से उसकी कृति की परीक्षा ;होनी चाहिए। कवि का प्रयोजन यदि रसाभिव्यंजन है तो रूपविधान—चाहे वह कैसे ही वैचित्र्यों से युक्त हो—उसमे अपना योग देगा। इस प्रकार साधारणीकरण और रूप या व्यक्तिवैचित्र्य का कोई मूलभूत विरोध नही है। जैसाकि डॉ॰ गुलाबराय ने लिखा है—"व्यक्ति कुछ समान धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण ही नही वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा मे सहृदयो का आलम्बन बनता है।"[2]

अतएव काव्य-संवेगजन्य आनन्द की अनुभूति में—जिसे पारिभाषिक शब्दावली म रसनिष्पत्ति कहना अधिक उचित होगा—साधारणीकरण की प्रक्रिया अपरिहार्य है। सहृदय वैयक्तिक्य और काव्यगत व्यक्तिवैचित्र्य के बावजूद काव्य-संवेग के आस्वादन म अनिवार्यतः साधारणीकरण होता है।

१—चिन्तामणि, भाग १, पृ० २३८

२—डॉ० गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २०५

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की उपलब्धियाँ

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के तीन प्रमुख स्तर रहे हैं। प्रथम स्तर पर सौन्दर्य विषयक दार्शनिक ऊहापोह रही है, दूसरे स्तर पर कला सर्जना में सौन्दर्यावतरण की समस्या रही है, और तीसरे स्तर पर कलास्वादन का प्रश्न उठाया गया है जिसके अन्तर्गत मुख्य रूप से त्रासदीजन्य आनन्द और उसके सम्बन्ध से रेचन का विचार हुआ है।

सौन्दर्य-बोध

सौन्दर्य-चिन्तन के क्षेत्र में प्राचीन यूनानी आचार्यों की दृष्टि प्रधानतः सौन्दर्य के मूलाधार और उसकी यथार्थता के प्रश्न पर रही। प्लेटो ने जगत् को प्रत्यय का प्रतिबिम्ब कहा और उसे अवास्तविक माना। फलतः जगत में व्यक्त सौन्दर्य भी अवास्तविक माना गया। अरस्तू ने जगत् में प्रत्यय और पदार्थ के ऐकात्म्य की बात कहकर सौन्दर्य की यथार्थता पर बल दिया। प्लाटिनस ने सौन्दर्योन्मेष का सम्बन्ध आध्यात्मिक साक्षात्कार से जोड़ा। आगे चलकर वस्तु सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति का विचार आरम्भ हुआ। बर्कले ने वस्तु सौन्दर्य का विचार उसकी उपयोगिता के परिपार्श्व में उसकी समनुरूपता की दृष्टि से किया। एडमंड बर्कले ने वस्तुगत सौन्दर्य के साथ आस्वादक की सौन्दर्यानुभूति का विचार भी किया। उन्होंने वस्तुगत सौन्दर्य के सात गुण माने हैं—(१) सापेक्षिक लघुता, (२) मृदुलता, (३) बहुरंगिता, (४) अंगों की परस्पर अन्विति, (५) आकृति की सुकुमारिता, (६) प्रभामय स्पष्टता और (७) चमकीले गहरे रंगों की वैपरीत्य-योजना। सौन्दर्यानुभूति के संबंध में रुचि की चर्चा करते हुए उसे कल्पना और बुद्धि दोनों से सम्बन्धित माना है। काण्ट ने भी सौन्दर्य-विचारणा में रुचि को आधार बनाया है। उन्होंने सौन्दर्य को रुचि-निर्भर माना है, किन्तु सौन्दर्य को वैयक्तिक रुचि से ऊपर रखा है। सौन्दर्य निर्णय के लिए वैयक्तिक रुचि बोध के साथ व्यापक रुचि-समर्थित होना अपेक्षित है। उन्होंने रुचि को कामना से स्वतन्त्र माना। हीगेल ने सौन्दर्य को पूर्णता विषयक सिद्धान्त के परिपार्श्व में रखते हुए उसे अनेक में एक की अभिव्यक्ति कहा है। शापनहावर ने सौन्दर्यानुभूति को विशेष महत्त्व देते हुए उसे इच्छाशक्ति से मुक्त माना है।

उदात्त तत्त्व

सौन्दर्य से जुड़ा हुआ ही उदात्त तत्त्व का प्रश्न है। प्राचीन यूनानी विचारकों में लांजाइनस ने उदात्त के सम्बन्ध में सविस्तार विचार व्यक्त किये हैं। परवर्ती सौन्दर्य-चिन्तकों में एडीसन, बर्क, काण्ट और ब्रैडले ने इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। लांजाइनस के उदात्त-सम्बन्धी विचारों को डॉ॰ नगेन्द्र ने तीन वर्गों

में रखा है—(१) विभाव—आलम्बन रूप में विस्तार शक्ति और ऐश्वर्य के व्यंजक तत्त्व, (२) उदात्त अनुभूति जिसमें मन की ऊर्जा, सम्भ्रम, अभिभूति का अन्तर्भाव हो जाता है और (३) बहिरंग तत्त्वों के अन्तर्गत समुचित अलंकार विधान, उत्कृष्ट भाषा, गरिमामय एवं ऊर्जित रचना-विधान और कल्पना तत्त्व का समावेश है। एडीसन ने उदात्त की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द के कारणों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार उदात्त की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द का प्रथम कारण यह है कि हमारी कल्पनाशक्ति महान् को आत्मसात कर पूर्णता की उपलब्धि का सन्तोष प्राप्त करती है और दूसरा कारण यह है कि उदात्त की अनुभूति से हमारी कल्पना शक्ति को अपने प्रसार के लिए व्यापक क्षेत्र मिल जाता है जिससे वह सन्तोष का परित्याग कर मुक्त हो जाती है और कल्पना की मुक्ति आनन्द का कारण बन जाती है। बर्क ने उदात्त की व्याख्या करते हुए शक्ति को उदात्त कहा है और उदात्त के अन्तर्गत उन्होंने आयामों का महत्ता, विस्तार की अपेक्षा ऊँचाई और गम्भीरता, अंगों की क्रमबद्धता और एकरूपता के परिणामस्वरूप कृत्रिम अनन्तता, भवनों का आकार और महिमासम्पन्न पदार्थों की गणना की है। काण्ट ने उदात्त को एक ऐसा आनन्द बतलाया है 'जो उन जीवनगत ओजस्तत्त्वों के क्षणिक निरोध की अनुभूति द्वारा घटित होकर केवल परोक्षतः उद्भूत होता है जो किसी सर्वाधिक सशक्त प्रस्राव द्वारा सद्यः अनुगम्यमान होते हैं। काण्ट के अनुसार रूप की दृष्टि से उदात्त हमारी निर्णयशक्ति के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता और कल्पना का आधर्ष होने का प्रतिवाद करता है। ब्रैडले के अनुसार उदात्त की अनुभूति में अभिभूति और श्रद्धा दोनों की समन्वित अन्तर्वृत्ति रहती है।

कला सृष्टि

सामान्य सौन्दर्य और उदात्त विषयक चिन्तन के उपरान्त कला चिन्तन पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का दूसरा स्तर रहा है। सामान्य सौन्दर्य के सम्बन्ध में ही कला सौन्दर्य का विचार आरम्भ हुआ। प्लेटो ने सामान्य सौन्दर्य या प्रकृति सौन्दर्य को मूल सौन्दर्य प्रत्यय की अनुकृति या उसका प्रतिबिम्ब मानते हुए कला को सामान्य (प्रकृतिगत) सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब या उसकी अनुकृति कहकर दोहरी अनुकृति अर्थात् अनुकृति की अनुकृति या प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब माना। कला के प्रति इस अवमाननापूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिवाद अरस्तू ने किया और उन्होंने प्रत्यय और पदार्थ की अविच्छेद्यता प्रतिपादित करते हुए कला के रूप में उसकी अनुकृति की अयथार्थता का खण्डन किया। इसके साथ ही प्रज्ञा को रचनात्मक शक्ति का श्रेय देकर उसे प्रतिबिम्ब में कुछ अधिक—आदर्शीकरण-सिद्ध किया। प्लाटिनस ने कला में अनुकृति की बात एकदम अस्वीकार कर दी क्योंकि अनुकृति इन्द्रियगम्य की ही हो सकती है

जबकि कला इन्द्रियातीत सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती है। प्लाटिनस के अनुसार कलाकार कल्पना के बलपर आदर्शरूप का साक्षात्कार करता है और उसे प्रतीकात्मक ढगसे कला मे प्रस्तुत करता है। हॉब्स ने कला सृष्टि मे कल्पना की भूमिका पर विस्तृत प्रकाश डाला और उसके साथ प्रतिभा और तादात्म्य का विचार भी किया। एडीसन ने अशत अनुकृति विषयक सिद्धात स्वीकार किया है। वे यह मानते हैं कि कलाकार कला मे केवल अनुकरण नही करता प्रत्युत् वह उसको उत्कर्ष भी प्रदान करता है जिससे उसके सौन्दर्य और उसकी सजीवता मे वृद्धि होती है। बामगार्टन ने सौन्दर्य-चिन्तन को एक स्वायत्त शास्त्र का रूप देते हुए कला चिन्तन को प्रमुखता दी। उन्होंने काव्य के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विचार किया और बिम्बों तथा कवि के आन्तरिक भावों के अन्तस्सम्बन्धों पर भी विचार किया। काण्ट ने सामान्य सौन्दर्य के विषय मे अत्यन्त गहन विचार करते हुए उसके सम्बन्ध से ललित कलाओं का विचार किया है। उन्होने कला-सृष्टि का प्रधान हेतु प्रतिभा को माना है और प्रतिभा को प्रकृतिदत्त बतलाया है। प्रवणता (Talent) को भी उन्होंने सहज सर्जनात्मक शक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया है। हीगेल का कलाओ का वर्गीकरण पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का एक उल्लेखनीय अग रहा है। पहले उन्होने विषय और विषयी के द्वन्द्व के आधार पर कलाओ को तीन वर्गों मे रखा है—(१) विषयीगत कला (२) वस्तुगत कला और (३) पूर्ण कला, तदुपरात कथ्य और रूप की अन्विति के विचार से कलाओं के अन्य तीन वर्गों की चर्चा की है और उसे एक ऐतिहासिक विकासक्रम मे रखने की चेष्टा भी की है—(१) प्रतीकात्मक कला जिसमे रूप की प्रतीति तो होती है, किन्तु कथ्य का बोध नहीं हो पाता (२) शास्त्रीय कला जिसमे कथ्य और रूप की अन्विति रहती है और (३) रोमांटिक कला जिसमे कथ्य रूप का अतिक्रमण कर जाता है। शापनहावर ने कला-सृष्टि मे कल्पना के महत्त्व पर बल देते हुए प्रतिपादित किया है कि कलाकृति में कलाकार असम्बद्ध एव विघातक तत्त्वो को त्याग कर सम्बद्ध एव साधक तत्त्वो को समायोजित कर उसके द्वारा प्रत्यय की अभिव्यक्ति अधिक अच्छी तरह कर सकता है। संतायना का कला चिन्तन मुख्य रूप से साहित्य केन्द्रित रहा है और उन्होने रूप-सृष्टि का विचार करते हुए कथा विधान, चरित्र चित्रण आदि की मीमासा की है। क्रोचे ने कला को सम्प्रतीति अथवा सहजानुभूति कहकर बिम्ब-विधान को महत्त्व दिया। प्रो० ए०सी० ब्रैडले ने काव्य के सम्बन्ध से रूप और वस्तु का ऐकात्म्य सिद्ध किया है। एडवर्ड बूलो ने कला सृष्टि के लिए भोगे हुए जीवन और सर्जना मे मानसिक अन्तराल आवश्यक बतलाया है। आई०ए० रिचर्ड्स ने कल्पना के विविध व्यापारो पर प्रकाश डालते हुए काव्य के सम्बन्ध से कला चिन्तन मे योग दिया है।

कलास्वादन

पाश्चात्य सौन्दर्य चिन्तन मे कलास्वादन की समस्या पर व्यापक रूप से विचार हुआ है । यह विचारणा मुख्य रूप से दो बिन्दुओ पर केन्द्रित रही है । (१) त्रासदीजन्य आनन्द की समस्या और (२) कला सौन्दर्य को अभिव्यजना । दोनो विषयो की वैविध्यपूर्ण व्याख्या पाश्चात्य सौन्दर्य मीमासा का रोचक अग रही है ।

त्रासदीजन्य आनन्द की समस्या

त्रासदी की आनन्दरूपता के प्रश्न ने अत्यन्त प्राचीन काल से पाश्चात्य दार्शनिको को झकझोरा है । शोक आनन्दप्रद कैसे बन जाता है ? आरम्भिक विचारको ने इसका उत्तर रेचन के सिद्धान्त के रूप मे दिया, किन्तु रेचन की व्याख्याएँ भी सबने अलग-अलग ढग से की । प्लेटो का कहना था कि निजी व्यवहार म हम शोक के आवेग को प्रकट न कर अपने भीतर ही रोक लेते हैं, त्रासदी के सम्पर्क से हमारा वह अवरुद्ध शोकावेग निकल बहता है जिससे मन का बोझ दूर हो जाने के कारण हम आनन्द अनुभव करते हैं । अरस्तू ने कही अधिक गहराई मे जाकर इस समस्या पर विचार किया है और उन्होने आनन्द का कारण यह माना है कि त्रासदी मे यथार्थ जगत का अतिक्रमण कर कल्पनाजन्य भ्रान्त प्रत्यक्षीकरण तक ले जाने वाली आत्यतिक ऐन्द्रिय उत्तेजना के साथ भौतिक बन्धनो का निलम्बन हो जाता है और देशकाल की सीमाओं से मुक्ति मिल जाती है तथा किसी सीमा तक आदर्श के साथ ऐकात्म्य की उपलब्धि हो जाती है । प्लाटिनस ने अधोमुखी प्रवृत्तियो और बाह्य मलो से आत्मा की मुक्ति को रेचन की सज्ञा देते हुए त्रासदोजन्य आनन्द की व्याख्या की । देकार्त ने अन्तर्वर्ती सवेगो के उदबुद्ध होने को आनन्द का कारण बतलाया है । देकार्त के अनुसार अन्तर्वर्ती सवेग लालसा मुक्त होते हैं और इसलिए जो बाह्य सवेग दुःखमूलक हैं वे भी अन्तर्वर्ती सवेगों मे बदलकर आनन्दप्रद हो जाते हैं । काव्यास्वादन मे सवेगो की क्रिया केवल मानसिक होती है और इसका (भौतिक जगत से मुक्त मानसिकता का) मुख्य आधार कल्पना है । एडीसन के अनुसार शोकपूर्ण दृश्यो की काल्पनिकता तथा व्यतीतता की चेतना हमे उनके सम्बन्ध से आत्मचिन्तन के लिये प्रेरित करती है जिससे उनकी दुःखदता क्षीण पड जाती है । बर्क की मान्यता सब से विलक्षण है । उनका मत है कि जब तक पीडा और सकट सीधे हम पर आघात न करें वे दुःखद नही होते । त्रासदी मे इन सवेगो का सम्बन्ध हम से नही होता—इसलिये उनसे दुःख नही होता । हीगल के त्रासदी-विषयक विचार साहित्य जगत् मे प्रतिष्ठित रहे हैं । नायक की ऐकातिकता के विरुद्ध प्रतिकूल तत्त्वो के सघर्ष के परिणामस्वरूप अतत या तो दोनो पक्षो मे सामजस्य हो जाता है अथवा मृत्यु के साथ तनाव का परिशमन हो जाता है । तनाव से मुक्ति आनन्द का

कारण होती है। जार्ज संतायना ने त्रासदी से मिलने वाले आनन्द के कई कारण बतलाए हैं, जैसे—नायक की संघर्षशीलता के प्रति प्रशंसा-भाव, चित्रण कौशल के प्रति प्रशंसा भाव, यथार्थ बोध का सुख, आत्माभिव्यञ्जना आदि। इन सब के मूल में उन्होंने आत्मबोध का आनन्द माना है। ए०सी० ब्रेडले ने हीगेल की मान्यता को अंशतः स्वीकार करते हुए उसमें यह संशोधन किया है कि त्रासदी का प्रभाव मूल्य-चेतनाजन्य पीड़ा की अनुभूति में निहित रहता है क्योंकि त्रासदी मूल्यभ्रंश का बोध जगाती है। एडवर्ड बूलो ने मानसिक अन्तराल को त्रासदी की दुःखदता के परिहार का कारण माना है। आई०ए० रिचर्ड्स ने त्रासदी में आकर्षण-विकर्षण (करुणा और भय) मनोभावों के सामंजस्य के प्रकाश में त्रासदीजन्य आनन्द की व्याख्या की है।

कला-सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना

पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन में त्रासदी-विषयक विचारणा को प्रामुख्य मिला है, किन्तु सौन्दर्याभिव्यञ्जना अपने व्यापक रूप में उपेक्षित नहीं रही है। कला-सौन्दर्य—विशेषकर काव्य-सौन्दर्य के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया, दोनों के सम्बन्ध में गम्भीर विचार हुआ है। प्लाटिनस ने कला सौन्दर्य के आस्वादन की चरमावस्था को 'पूर्ण' में विलीन होने के आनन्द में समान बतलाया है। एडीसन ने काव्यानन्द के संदर्भ में सांवेगिक आनन्द को बहुत महत्त्व दिया है। एडीसन के विचार से जो कलाकृति सांवेगिक उत्तेजना में जितनी अधिक सक्षम होती है वह उतनी ही अधिक आनन्दप्रद होती है। बामगार्टन ने सौन्दर्याभिव्यञ्जना की प्रक्रिया पर विचार किया है। उनकी मान्यता है कि काव्य सौन्दर्य बिम्बों के माध्यम से प्रकाशित होता है, किन्तु वह बिम्बों में आबद्ध नहीं होता, बिम्बों का अतिक्रमण कर जाता है। बिम्बों से कवि के अन्तर्भाव ध्वनित होते हैं और वे शब्दों में प्रकल्पित अर्थ से कहीं अधिक संकेत करते हैं। कान्ट भी कल्पना-व्यापार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए सौन्दर्य प्रत्यय की धारणा को शब्द सामर्थ्य से परे मानते हैं। 'वस्तु द्वारा विचार में अनुपूरित होने की स्वीकृति' और 'संज्ञान-शक्ति के स्फुरण के साथ शब्द-निर्मित वस्तु-रूप भाषा के अन्तरात्मा से सम्बद्ध' होने को वे कलास्वादन की प्रक्रिया बतलाते हैं। हीगेल ने काव्य के माध्यम से व्यक्ति चेतना (अहं) के वस्तु जगत् में संलग्न होने की बात कहकर साधारणीकरण की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार काव्य का प्रयोजन अध्यात्म को उसके परिवेश से मुक्त कर विश्वजनीन रूप में उपस्थित करना है। जार्ज संतायना ने कलास्वादन की प्रक्रिया पर विचार करते हुए 'अभिव्यञ्जना' शब्द (एक्सप्रेशन) का प्रयोग किया है और व्यंजक वस्तु के सन्निकर्ष में सहृदय के मानसिक साहचर्यों के उद्बुद्ध होने की बात कही है। क्रोचे ने सहजानुभूति को कला

मढ़कर बिम्ब को सर्वांशतः व्यंजक माना है। उनके विचार से व्यंग्य व्यंजक बिम्ब से स्वतन्त्र हो ही नहीं सकता। ए० सी० ब्रेडले ने भी व्यंग्य-व्यंजक की अविच्छेद्यता पर बल दिया है। एडवर्ड बूलो ने कलास्वादन के लिये संतुलित मानसिक अन्तराल आवश्यक बतलाया है। आई०ए० रिचर्ड्स ने अर्थाभिव्यंजना के विभिन्न स्तरों की चर्चा करते हुए संदर्भ की समग्रता में अभिप्रेत अर्थ के सम्प्रेषण को *काव्यास्वादन प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग बतलाया है। इसके साथ ही उन्होंने सांवेगिक* सम्प्रेषण को भी विशेष मान दिया है।

भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्य दृष्टि : सादृश्य और विभेद

भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्य दृष्टियों के अनुशीलन से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि चिन्तन-प्रक्रिया भिन्न होने पर भी दोनों की उपपत्तियों में आश्चर्यजनक साम्य है। भारत में काव्य-चिन्तन के संदर्भ में सौन्दर्य का प्रश्न उठा है और उसके सम्बन्ध में अनेक मत उठ खड़े हुए हैं। पश्चिम में व्यापक सौन्दर्य-चिन्तन के अंग रूप में कला-चिन्तन आरम्भ हुआ जो आगे चलकर एक स्वतन्त्र शास्त्र बन गया। फिर भी दोनों में बहुत सी बातें एक जैसी रही हैं। भारत में अलंकार, वक्रोक्ति और रीति सम्प्रदायों ने जिस प्रकार रूप को महत्त्व दिया है, पश्चिम में उस प्रकार के सम्प्रदाय तो नहीं हुए, किंतु क्रोचे और ब्रेडले जैसे आचार्यों ने कथ्य को रूपाश्रित माना है। दूसरी ओर जिस प्रकार भारत में ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य सौन्दर्य काव्यांगों से व्यक्त होने पर भी उसका अतिक्रमण करने वाला माना है उसी प्रकार पश्चिम में बामगार्टेन, काण्ट, रिचर्ड्स प्रभृति आचार्यों ने व्यक्त रूप से अतिक्रमित सौन्दर्य की व्यंजना पर बल दिया है। जार्ज संतायना ने ध्यं।मा के सहृदयगत पक्ष पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए कलास्वादन में सहृदय के मानसिक साहचर्यों की भूमिका की व्याख्या कर ध्वनि-सिद्धान्त के दूसरे पक्ष को भी अस्पृष्ट नहीं रहने दिया है। एडीसन और रिचर्ड्स ने काव्य के सांवेगिक पक्ष को महत्त्व देकर बहुत कुछ रस-सम्प्रदाय जैसा दृष्टिकोण व्यक्त किया है। हीगेल का विश्वजनीनता विषयक सिद्धांत साधारणीकरण जैसा ही है और बूलो का मानसिक अन्तराल-विषयक सिद्धांत साधारणीकरण-प्रक्रिया में विवेचित 'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति' तथा प्रमाताभाव के अभाव विषयक सिद्धान्त की ही विशद व्याख्या करता है। इसी प्रकार प्लाटिनस का सौन्दर्यास्वादन विषयक यह मत कि सौन्दर्यास्वादन की चरमावस्था 'पूर्ण में संलग्न होने के आनन्द के समान होती है, पूर्ण में संलीन होने का आनन्द नहीं,' स्पष्टतः रस की 'ब्रह्मानन्द सहोदर' व्याख्या के समकक्ष है।

जहाँ एक ओर दोनो मे इतना साम्य है, वहाँ दूसरी ओर थोड़ा विभेद भी है। पश्चिम मे रूप विधान और आस्वादन दोनो दृष्टियो से कल्पना को बहुत महत्त्व दिया गया। कल्पना के विविध व्यापारो पर सूक्ष्मता के साथ विचार हुआ। इसके विपरीत भारत मे रूप-पक्ष को परिभाषित करने की ओर विशेष प्रवृत्ति रही। अलंकार, वक्रोक्ति, रीति का वर्गीकरण और लक्षण-निर्देश-बाहुल्य रूपवादी आचार्यों की इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। हाल ही मे कुछ विचारको ने भारतीय काव्य चिन्तन मे 'प्रतिभा'-विषयक उल्लेखो को कल्पना' की समकक्षता मे रखने की चेष्टा की है,[1] जो उचित प्रतीत नही होती क्योंकि 'प्रतिभा' जीनियस की समकक्ष है और उसका विचार भी उसी ढंग से हुआ है। दूसरी ओर भारतीय आचार्यो ने रस और ध्वनि की प्रक्रिया की व्याख्या मे जिस अद्भुत सामर्थ्य और मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया वह पश्चिम मे बहुत विरल रही। संतायना और रिचर्ड्स ने अभिव्यंजना विषयक जो नये सिद्धान्त दिये और बूलो ने मानसिक अन्तराल की जो बात कही वह भारतीय काव्यशास्त्र मे काफी पुरानी पड़ चुकी है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की आधुनिक उपलब्धियो ने अन्तत वह सत्य भी प्रचुरांश मे पा ही लिया है जो भारतीय मनीषा की विशिष्ट देन है। इससे यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्य-चिन्तन के विकास की दिशाएँ और उपलब्धियो का क्रम तथा विवेचन पद्धति की दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य सौन्दर्य चिन्तन मे अन्तर होने पर भी दोनो की सौन्दर्य दृष्टि मे उल्लेखनीय साम्य है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के सौन्दर्य-विधान की तुलना का आधार

ऐसी स्थिति मे पूर्व और पश्चिम के विभेद को अधिक मान देना उचित नही होगा। यद्यपि दोनो तुलनीय कृतियाँ पाश्चात्य प्रभाव से असम्पृक्त शुद्ध भारतीय महाकाव्य हैं, तथापि तुलना को अधिक व्यापक आधार देने के लिए पाश्चात्य सौन्दर्य-प्रतिमानो का समावेश भी आवश्यक है। सौन्दर्य-सिद्धान्त बहुत अंशो मे विश्वजनीन होते है। देश काल भेद से वे संकुचित नही हो जाते। बहुत बार देश-विशेष और काल-विशेष की कला मे ऐसे सौन्दर्य तत्त्वो का अन्तर्भाव रहता है जिसका ज्ञान उस समय उस देश के लोगो को नहीं होता, लेकिन परवर्ती विचारक उन्हे खोज निकालते हैं अथवा अन्य देश मे उन सिद्धान्तो का ज्ञान रहता है। कलाकृतियो की सौन्दर्य चेतना को देशकाल मे सीमित सैद्धान्तिक ज्ञान की परिधि मे बाँधने की चेष्टा की जाने से बड़ा अनर्थ हो सकता है। तब तो पाश्चात्य काव्य को सर्वथा नीरस और

---

[1] —द्रष्टव्य—डॉ० रामअवध द्विवेदी, साहित्य सिद्धान्त, पृ० १११ तथा डॉ० कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृ० १२३

भारतीय काव्य को सर्वथा कल्पना-रहित मानना पड जाएगा जिसके लिये शायद कोई भी तैयार नही होगा।

अतएव वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के सौन्दर्य विधान का पूर्व पश्चिम के भेद से जितना ऊपर उठा सकें उतने ही अधिक हम सत्य के निकट पहुँच सकेंगे। भारतीय काव्यशास्त्र वाल्मीकि का परवर्ती है और इस दृष्टि से यहाँ तक कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण किसी भी प्रकार की सैद्धांतिक समीक्षा के परे है, लेकिन यह बहुत सतही बात होगी। वस्तुत वे सिद्धान्त वाल्मीकि रामायण मे अन्तर्भुक्त हैं, लेकिन उनकी खोज बाद मे हुई है। इसके विपरीत मानसकार की सैद्धांतिक चेतना बडी प्रबल रही है। बालकाण्ड के आरम्भ मे मानसकार ने जो भूमिका बाँधी है उससे स्पष्ट हो जाता है कि मानस की सृष्टि मात्र धार्मिक प्रयोजन से नही की गई है—उसके पीछे एक बडा काव्यात्मक प्रयोजन रहा है जिसने मानस की कलात्मक सृष्टि पर निरन्तर दृष्टि रखी है और वाल्मीकि रामायण से मानस मे जो विभेद दिखलाई देता है उसके मूल मे अन्य कारणो के अतिरिक्त मानसकार की अपनी कला-चेतना या सौन्दर्य दृष्टि भी है।

मानस मे सौन्दर्य-दृष्टि और धार्मिक प्रयोजन का संतुलन

मानस का कवि इस सम्बन्ध मे बहुत जागरूक था कि उसे मानस के रूप मे एक ऐसी कृति की सर्जना करनी थी जो धर्म-ग्रन्थ और काव्यकृति दोनो रूपो मे समादृत हो सके। इस दृष्टि से उसने दोनो प्रयोजनो मे निरन्तर सतुलन बनाए रखने का प्रयत्न किया है। मगलाचरण से ही कवि की सतुलन-चेष्टा आरम्भ हो गई है। वह एक साथ वाणी विनायक की वदना करता है[1] और सीताराम गुणग्राम-पुण्यारण्य मे विहार करने वाले कवीश्वर-कपीश्वर दोनो का स्मरण भी एक साथ युग्म-रूप मे करता है।[2] इतना ही नही, तुलसीदासजी ने धर्म-मूल्यो और काव्य-मूल्यों को अविरोधी रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी किया है। उक्त दोनो मूल्यो को अविरोधी सिद्ध करने के लिये वे रामचरितसर मे सरस्वती के अवगाहन और श्रम-परिहार की बात कहते हैं—

> भगति हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥
> रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ॥
> कबि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरि कलिमल हारी॥[3]

१—वर्णानामर्थसंघाना रसाना छदसामपि।
मगलाना च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ। —मानस, १।१

२—सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।
वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥ —वही, १/४

३—वही, १/१०/२-३

और इसी प्रयोजन से वे धार्मिक दृष्टि को काव्य-मूल्य से जोडने पर बल देते हैं। उन्होंने एकाधिक बार यह बात कही है कि काव्य के लिये राम-नाम उसी प्रकार अपरिहार्य है जिस प्रकार स्वांग-सुन्दरी के लिए वस्त्र। निर्वस्त्र सुन्दरी का समस्त सौन्दर्य जिस प्रकार निरर्थक हो जाता है उसी प्रकार रामनाम-हीन काव्य का सौन्दर्य भी तुलसीदासजी के लिये निर्मूल्य है—

बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥[१]
× × ×
बसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥[२]

फिर भी जो लोग काव्य-मूल्य और धर्म-मूल्य के समन्वय को स्वीकार करने के लिये तैयार नही हैं, उनसे पीछा छुडाने के लिये वे विनम्रतापूर्वक निवेदन कर देते हैं—

कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिधप्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउ लिखि कागद कोरें॥[3]

और ऐसे आलोचको से बचाव के लिये वे यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि उनका प्रयोजन काव्य-रचना न होकर केवल रामभक्ति है—

कवि न होउ नहिं चतुर कहावहुँ। मति अनुरूप राम गुन गावहुँ॥[४]

लेकिन यह बात छिपी नही रहती कि मानसकार अपने आपको कवि समझता है,[५] काव्य-रूप मे मानस की रचना करता है[६] और काव्य की सार्थकता सहृदय-रजन मे मानता है—

तैसेइ सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥[७]
× × ×
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं॥[८]

सौन्दर्यमूलक रचना-प्रक्रिया का संकेत .

काव्य-मूल्य की दृष्टि से ही नही, रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से भी काव्य-प्रेरणा-विषयक उल्लेख तुलसीदासजी की सौन्दर्य-दृष्टि की ओर संकेत करता है।

१—मानस, १/९/२
२—वही, ५/२२/२
३—वही, १/८/४-६
४—वही, १/११/५
५—रामचरितमानस कबि तुलसी, १/३५/१
६—चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥—वही, १/३८/६
७—मानस, १/१०/२
८—वही, १/१३/४

मानसकार ने इस सम्बध मे 'दिव्य-दृष्टि' का उल्लेख किया है[१] जो क्रोचे के सहजानुभूति-सम्बन्धी सिद्धात की याद दिलाता है क्योकि मानसकार ने दिव्यदृष्टि का मानसिक अस्तित्व माना है और उससे रामचरित के सूझने की बात कही है—

> सूझहि रामचरित मनि मानिक । गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ।[२]

क्रोचे के अनुसार भी कला सम्प्रतीति (vision) अथवा सहजानुभूति है। कलाकार एक बिम्ब (image) अथवा छायाभास (phantasm) का सृजन करता है।[3] काव्य सर्जना मे सक्रिय समस्त कल्पना-व्यापार (सूझना) इसके अन्तर्गत आ जाता है– 'सहजानुभूति (intuition), सम्प्रतीति (vision)। भावन (contemplation) कल्पना (imagination), कृत्रिम कल्पना (fancy) मूर्ति विधान (figuration) प्रतिरूपण (representation) आदि शब्दो का प्रयोग वारम्वार कला के विवेचन मे पर्यायो के रूप मे होता है।[४]

पूर्ववर्ती रामकाव्य भिन्नता की ओर सकेत

मानस मानसकार की अपनी सम्प्रतीति है उसका अपना विजन है, उसकी अपनी कल्पना सृष्टि है। रामचरित जैसा उसे सूझा है, वैसा उसने उसे मानस मे अकित किया है। इसका अर्थ यह नही कि मानस पर पूर्ववर्ती परम्परा का कोई आभार नही है। गोस्वामीजी ने स्पष्ट शब्दो मे पूर्ववर्ती रामकाव्य का आभार स्वीकार किया है—

> *मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई । तेहि मग चलत मोहि सुगमाई ॥*
> अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहि ।
> चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहि ॥
> एहि प्रकार बल मनहि दिखाई । करिहउ रघुपति कथा सुहाई ।[५]

विशेषकर वाल्मीकि मुनि की वदना तुलसीदासजी ने अत्यन्त सम्मान के साथ की है—

> बदउ मुनि पद कजु रामायन जेहि निरमयउ ।
> सखर सुकोमल मजु दोष रहित दूषन सहित ।[६]

---

[१] १—श्री गुरपद नख मनि गन जोती । सुमिरत दिब्य दृष्टि हिय होती ॥ —वही, १/१०/३

[२] २—वही, १/०/४

[३] ३—क्रोचे, सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्त्व, पृ० ८ (अनुवादक—श्रीकांत खरे)

[४] ४—वही पृ० ८

[५] ५—मानस, १/१२/५—१३/१

[६] ६—वही, १/१४ (घ)

फिर भी अपनी कृति के वैशिष्ट्य के प्रति वे जागरूक रहे हैं और उन्होंने अपने पाठकों का ध्यान भी परोक्ष रूप से इस ओर आकर्षित किया है। उनका कहना है कि रामचरितमानस में परम्परागत कथा से भिन्नता मिलेगी, लेकिन इस भिन्नता के कारण मानस कथा को अप्रामाणिक नहीं समझ लेना चाहिए

रामकथा कै मिति जग नाहीं । अस प्रतीति तिन्ह के मन माहीं ।।
नाना भाँति राम अवतारा । रामायन सतकोटि अपारा ।।
कलपभेद हरि चरित सुहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ।।
करिअ न संसय अस उर आनी । सुनिअ कथा सादर रति मानी।।
राम अनत अनत गुन अमित कथा बिस्तार ।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार ।।[1]

एक ओर पूर्ववर्ती रामकाव्य-परम्परा के अवलम्बन की स्वीकृति और दूसरी ओर परम्परा से विलगाव की चेतना से यही प्रतीत होता है कि मानसकार ने पूर्ववर्ती परम्परा से बहुत-कुछ ग्रहण किया है, किन्तु उसे अपनी सम्प्रतीति—अपनी चरित-कल्पना—में आत्मसात् करके अपनी मानस-सृष्टि का अंग बना दिया है। जैसाकि काण्ट ने कहा है—"जो चीज अनुकृति से नहीं, बल्कि एक पूर्वपद (precedent) से अपना सदर्भ निर्दिष्ट करती है वह हमारे उस सम्पूर्ण प्रभाव की समुचित अभिव्यक्ति है जिसे किसी अनुकरणीय लेखक की रचनाएँ दूसरो पर डाल सकती है—इसका अर्थ एक सर्जनात्मक कृति के लिए उन्हीं स्रोतों (sources) तक जाने से अधिक और कुछ भी नहीं है जिन तक वह स्वय अपनी सर्जनाओं के लिये गया और अपने पूर्वपुरुष से सीखने का अर्थ व्यक्ति का ऐसा स्रोतों से लाभ उठाने से अधिक और कुछ नहीं है।"[2]

वैविध्यमय रामकाव्य के समाहार की समस्या

मानस के कवि ने अपने पूर्वपुरुषों से बहुत-कुछ सीखा है और स्रोतों से भरपूर लाभ उठाया है, लेकिन इन सबको अपनी सर्जना का अंग बना दिया है। उसके समक्ष उद्देश्य और शिल्प दोनो दृष्टियों से रामकथा का अमित विस्तार था—वाल्मीकि जैसा यथार्थपरक काव्य था, अध्यात्म रामायण जैसा भक्तिग्रंथ था, प्रसन्न-राघव और हनुमन्नाटक जैसे शृंगारी नाटक थे; वाल्मीकि की ऐतिहासिक महाकाव्य-शैली थी, अध्यात्मरामायण की धर्म-प्रचारात्मक शैली थी, और उक्त दोनों नाटकों की नाटकीय शैली थी। मानसकार के समक्ष इन सबका समाहार करते हुए अपनी

१—मानस, १/३२/३-३३

२—इमेनुअल काण्ट, सौन्दर्य-मीमांसा, पृ० ९२ (अनुवादक—रामकेवलसिंह)

मौलिक कल्पना-सृष्टि को वाणी देने की समस्या थी। इस समस्त सामग्री को आत्मसात् करते हुए अपने सौन्दर्य बोध की विशिष्ट धरातल पर रूपायित करने की समस्या थी। तुलसीदासजी ने सफलतापूर्वक ऐसा किया है। गृहीत सामग्री का उपयोग करते हुए भी उन्होंने उसे एक ऐसी भव्यता प्रदान की है जो उसे उसके उद्गम की तुलना में वैशिष्ट्य प्रदान करती है। मानसकार में जहाँ ग्रहण करने की एक व्यापक प्रवृत्ति है वहाँ उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा में एक प्रबल प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति एवं संशोधन-रुचि भी है जिसने मानस को अपूर्व निखार प्रदान किया है। यह प्रतिक्रिया और संशोधन-रुचि सबसे अधिक वाल्मीकि के प्रति है। एक ओर गोस्वामीजी वाल्मीकि का अत्यधिक सम्मान करते हैं तो दूसरी ओर बड़े कौशल से जनमानस पर वाल्मीकि द्वारा छोड़े गये प्रभाव को धोकर नया रंग चढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। मानस उस प्रयत्न की रूपात्मक परिणति है।[1]

सौन्दर्य-विधान-विषयक तुलना की आवश्यकता

दोनों कृतियों का यह सम्बंध उनके एक ऐसे तुलनात्मक मूल्यांकन की आवश्यकता को जन्म देता है जो दोनों कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि और सर्जनात्मक प्रतिभा का उन्मीलन कर सके। ऊपरी विवरण की तुलना इस दिशा में अधिक उपयोगी नहीं हो सकती क्योंकि सौन्दर्य-विश्लेषण का प्रश्न कवि के सौन्दर्य-बोध और काव्य-प्रकल्पन से जुड़ा हुआ है। अतएव सतही विवरणों की तुलना से ऊपर उठकर दोनों काव्यों की सौन्दर्य-विधान-प्रक्रिया के विविध पक्षों का विश्लेषण अपेक्षित है जिससे भारतीय रामकाव्य के दो महान् प्रणेताओं की कला प्रतिभा का समुचित मूल्यांकन हो सके।

---

[1] —द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य भूमिका, पृ० ११६; १३४

२

कथा-विन्यास

एक ही कथा-फलक पर अंकित दो काव्यों की तुलना मे सादृश्य और विभेद की शोध का प्राथमिक आधार उनका कथा विन्यास रहता है क्योंकि सर्वाधिक स्थूल तत्त्व होने के कारण वही सर्वप्रथम बोध का विषय बनता है और इसीलिए प्राय शोधकर्त्ता कथा-विन्यास की स्थूल तुलना मे उलझ जाता है। वह प्रसंग-क्रम, घटना-काल घटनास्थल, उपकरणों और पात्रों-सम्बन्धी विवरण मे सादृश्य और विभेद की खोज को पर्याप्त मान लेता है[1] अथवा विभेद की स्थिति मे विभेद के अनुमानित हेतुओं का भी चलता हुआ उल्लेख कर देता है[2] जिसको प्रामाणिक मानने के लिये कोई उचित आधार दिखलाई नहीं देता। सौन्दर्य-विधान की तुलना के अन्तर्गत इस प्रकार की विवरणात्मक तुलना को मान नहीं दिया जा सकता क्योंकि उसका प्रयोजन सौन्दर्य-निरूपण-प्रक्रिया के सादृश्य और विभेद का उद्घाटन होता है। इसलिए कथा विन्यास की सौन्दर्यविधानमूलक तुलना के लिए अन्तर्वर्ती चेतना-धारा के रूपांकन और उसकी प्रविधि का विश्लेषण आवश्यक है।

कथा-सौन्दर्य के प्रतिमान्

कथा विन्यास का विश्लेषण करने के लिए ऊपरी कथा-विवरणों को भेदकर उनमे अन्तर्व्याप्त चेतन-तत्त्व को ग्रहण करना अधिक समीचीन होगा और इस दृष्टि से सर्वप्रथम कथा की विश्वसनीयता का विचार करना होगा क्योंकि विश्वसनीयता के अभाव मे कथा की नींव ही बिखर जाती है। जैसाकि जार्ज सतायना ने

---

[1] १—डॉ० कामिल बुल्के के शोध प्रबन्ध 'रामकथा' और श्री परशुराम चतुर्वेदी की पुस्तक 'मानस की रामकथा' में तुलना इसी प्रकार की है।

[2] २—डॉ० विद्या मिश्र के शोध ग्रन्थ 'वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन' तथा डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल के शोध ग्रन्थ 'वाल्मीकि और तुलसी' में तुलना इस रूप में की गई है।

कहा है कि 'यदि वस्तु के मिथ्यात्व की प्रतीति हमे होती रहे तो व्यर्थता और छल का विचार हमारे अंतर मे खटकता रहता है जिससे सारा आनन्द चौपट हो जाता है और फलत समस्त सौन्दर्य विलुप्त हो जाता है।'[1] इसलिये कथावस्तु का यथार्थबोध सशक्त होना चाहिए। यदि उसकी यथार्थता मे संदेह उत्पन्न हो जाता है तो उसके सौंदर्य को बडा आघात पहुँचता है। यथार्थबोध पर ही कथा की सजीवता प्राय अवलम्बित रहती है।

विश्वसनीयता से सगति का भी निकट का सम्बन्ध है। कथा विकास मे घटनाक्रम की तर्कसगत परिणति के साथ उसके पूर्वापर अंगो मे अन्तर्विरोध और सामजस्यहीनता का अभाव आवश्यक है।[2] कथा का विकास इस ढंग से होना चाहिए कि पूर्ववर्ती घटनाक्रम और परवर्ती घटनाक्रम मे तालमेल बना रहे और *परवर्ती घटनाक्रम पूर्ववर्ती घटनाक्रम द्वारा निर्धारित परिस्थितियो के* अनुसार विकसित हो। कथा मे सीमित मात्रा मे आकस्मिकता हो सकती है, लेकिन उसके कारण सगति पर आंच नहीं आनी चाहिये।

कथा-सौन्दर्य विधान की वृद्धि मे बहुत बार मूल्य दृष्टि का योग भी रहता है और कथा का नैतिक पक्ष मूल्य-बोध के माध्यम से उसके सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करता है, किन्तु कथा की विश्वसनीयता और सजीवता के मूल्य पर नैतिकता काव्य के सौन्दर्य-विधान मे सहायक नही हो सकती। इसके विपरीत वह काव्य सौंदर्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिए नैतिक तत्त्वों के समावेश मे कवि को बडी ही सतुलित एव सयत अन्तर्दृष्टि से काम लेना होता है। जीवन्त कथावस्तु के परिपार्श्व मे नैतिक उत्कर्ष काव्य को भव्यता एवं उदात्तता प्रदान करता है।[3]

वस्तु-गुणो के साथ शिल्पगुणों पर भी कथा-सौन्दर्य प्रचुरांश में आधृत रहता है। शिथिल कथा-गति और सपाट प्रसग योजना से कैसी भी यथार्थपरक, सजीव, संगत और नैतिकतापूर्ण कथावस्तु का सौंदर्य-भ्रंश संभव है। अतएव कथा-प्रवाह का सम्यक् निर्वाह, सुविचारित आरोह-अवरोह और व्यजना पूर्ण प्रसंग-योजना कथा-सौन्दर्य के लिए अपरिहार्य है।[4]

कथा प्रसार के विभिन्न घटकों को बिखराव से बचाने के लिए उनमे अन्विति बनाये रखना भी आवश्यक है। कथावस्तु चाहे कितनी ही दिशाओ मे,

---

[1] १—*The Sense of Beauty, p. 158.*

[2] २—'संगति का अर्थ विरोध का अभाव है।'—डॉ॰ हरद्वारीलाल शर्मा, सौन्दर्यशास्त्र, पृ० ७३

[3] ३—*George Santayna, The Sense of Beauty, p. 244.*

[4] ४—द्रष्टव्य—डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, सौन्दर्यशास्त्र, पृ० ९४

कितनी ही धाराओं में फैल जाय, लेकिन सर्वत्र वह अपने केन्द्र से जुड़ी रहे और उस सीमा से आगे उसका प्रचार न हो जहाँ से उसकी केन्द्र-चेतना छूटने लगे। यदि केन्द्र पीछे छूट जाता है और कथा की उपधाराएँ स्वतंत्र-सी प्रतीत होने लगती हैं तो बिखरे हुए कथा-तन्तुओं के कारण कथा-प्रभाव भी बिखरकर नष्ट हो सकता है। अन्विति के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा ने बहुत ठीक लिखा है कि "विस्तृत व्याख्यान में, लम्बे कथानक में, विशाल उद्यान में विविधता के होने पर एकता रहने के कारण ही वे समझ में आने योग्य और सराहने योग्य होते हैं और *एकसूत्रता के अभाव में उससे बुद्धि को भारी आघात, भ्रम और* श्रम-सा प्रतीत होता है।..."[१] इसलिए अवान्तर कथाओं के समावेश या अन्य किन्हीं कारणों से कथा की अन्विति पर जो प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है उससे कथा-सौन्दर्य की रक्षा के लिये कथा को समेटकर प्रभाव को घनीभूत बनाने के लिए अन्विति अत्यंत आवश्यक है।

आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं का अंतर्गुम्फन, पूर्वापर प्रसंगों की सुशृंखलता, कथा-कंकाल को सजीव बनाकर मार्मिक रूप देना—प्रबन्ध-कल्पना के उक्त सभी अंगों का सम्बन्ध कथा-विन्यास से है, अतएव उनका विचार भी कथा-सौन्दर्य के अन्तर्गत होना चाहिए। जैसा कि डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा ने लिखा है—'कवि की सृजनात्मक प्रतिभा एक सम्पूर्ण लोक का ही सृजन करती है, फिर मानो उसी लोक की अखंड प्रतिभा में से अनेक प्रतिमाएँ उदित होती हैं।'[२]

सौन्दर्य-विधान की दृष्टि से कथा-विन्यास एक व्यापक प्रकरण है जिसके अन्तर्गत कथा के यथार्थ-बोध, संगति, औदात्य, कथा-गति और अन्विति का अन्तर्भाव हो जाता है।'

यथार्थमूलक विश्वसनीयता

रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने वाल्मीकि के मुख से राम के प्रति कहलवाया है—

तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥[३]

उपर्युक्त शब्द वाल्मीकि से कहलवाने में मानसकार का एक विशेष अभिप्राय प्रतीत होता है। वाल्मीकि रामायण में राम की मानवधर्मिता बहुत स्पष्ट है।[४] वहाँ उनके "नर अनुसारी चरित" से उनके ईश्वर-रूप को क्षति पहुँचती है। दूसरी ओर

१—डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, सौन्दर्य-शास्त्र, पृ० ७०

२—सौन्दर्यावगाहिनी प्रतिमाएँ 'समालोचक,' सौन्दर्यशास्त्र-विशेषांक, पृ० २१ (सम्पादक—डॉ० रामविलास शर्मा)

३—मानस, २/१२६/४

४—द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० ५९—६४

वाल्मीकि रामायण के प्रचलित सस्करण मे अनेक स्थानो पर ईश्वर रूप मे राम का उल्लेख हुआ है।[1] शोधकर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ऐसे प्रसगों की प्रामाणिकता सदिग्ध है।[2] मानसकार ने अपनी कृति में राम के व्यक्तित्व मे ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा के लिये वाल्मीकि का साक्ष्य दिलवाया है।[3]

कवि ने राम के व्यक्तित्व मे ईश्वरत्व और मानवत्व के सामजस्य के लिए वाल्मीकि से उपर्युक्त शब्द कहलवाये हैं। इस सदर्भ मे वाल्मीकि के एक आधुनिक अध्येता ने भी ऐसा ही तर्क दिया है[4] लेकिन तुलसीदासजी का प्रयोजन अत विरोध-परिहार से कुछ अधिक प्रतीत होता है। वे कदाचित् अवतार कल्पना और प्रभु-लीला को वाल्मीकि सम्मत मानकर मानस की अतिमानवीय कल्पना को प्रामाणिक आधार भी देना चाहते हैं और इसके लिये वाल्मीकि की दृष्टि मे राम का ईश्वरत्व सिद्ध करके वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों मे राम के ईश्वरत्व का आख्यान सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रचलित वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो मे अवतार-कल्पना के दर्शन होते हैं, किन्तु वाल्मीकि रामायण के सम्बध मे उसके मानवीय पक्ष के आहत होने और विश्वसनीयता बाधित होने का आक्षेप सभवत किसी समीक्षक ने नही किया है। उसका मानवीय पक्ष अक्षुण्ण बना रहा है,[5] जबकि मानस के सम्बध में इस प्रकार के आक्षेप अनेक समीक्षकों ने किये हैं।[6]

इसका कारण यह है कि वाल्मीकि रामायण में अवतारवाद और राम के ब्रह्मत्व का समावेश होने पर भी इस प्रकार के उल्लेखो की सख्या बहुत कम है और उनसे रामकथा का मानवीय पक्ष प्राय अप्रभावित रहा है जबकि रामचरितमानस मे इस प्रकार के उल्लेखो की सख्या काफी अधिक होने के साथ मानस की रामकथा का मानवीय पक्ष उनसे यत्र-तत्र प्रभावित भी हुआ है। वास्तविकता यह है कि मानसकार ने प्रचुरांश में अध्यात्म रामायण मे वर्णित राम-कथा का उपयोग

१—वाल्मीकि रामायण, १/१५/१६ ३४, १/१६/१-१०, ७/११०/८ १३

२—द्रष्टव्य—डॉ० कामिल बुल्के, राम कथा उद्भव और विकास, पृ० १२९-१३७

३—मानस, २/१२५/५ से १२६ ४

४—V S. Srinivas Sastri, *Lectures on the Ramayana*, p 7—8

५—द्रष्टव्य—(क) डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० २२—८७
(ख) प्रो० दीनेशचन्द्र, रामायणीकथा (सम्पूर्ण)

६—(क) डॉ० श्रीकृष्णलाल, मानस दर्शन, पृ० १४-१८
(ख) डॉ० देवराज, प्रतिक्रियाएं में संगृहीत 'रामचरितमानस : पुनर्मूल्यांकन'
(ग) श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ९१-९२

राम के ईश्वरत्व के प्रतिपादन के लिये किया है।[1] फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मानसकार ने सर्वांशत अध्यात्म रामायण की प्रवृत्ति ग्रहण की है। मानसकार ने अपने काव्य में अध्यात्मरामायण की प्रवृत्ति का अन्तर्भाव करते हुए भी रामकथा के मानवीय पक्ष को बनाये रखने का और उसके द्वारा कथा को सजीव रूप देने का पूरा प्रयत्न किया है।[2] इसीलिये मानस मे अध्यात्म रामायण के प्रभाव के बावजूद मानवीय संवेदनशीलता बनी रह सकी है जिसके कारण वह एक धर्म-ग्रंथ के रूप मे ही नहीं, उत्कृष्ट काव्य ग्रंथ के रूप में भी शताब्दियों से सहृदय-समाज में समादृत रहा है।[3]

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के कथा प्रसगो के तुलनात्मक विश्लेपण से दोनो की मानवसुलभ यथार्थता स्पष्ट हो सकेगी।

विश्वामित्र की याचना

रामकथा का प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रसंग विश्वामित्र द्वारा राम की याचना है। वाल्मीकि रामायण में उक्त प्रसंग बहुत ही यथार्थ एवं सजीव है। यज्ञ रक्षा के लिए विश्वामित्र द्वारा राम की याचना, वचनबद्ध राजा दशरथ की वात्सल्यातिरेक से व्याकुलता तथा राम के स्थान पर स्वयं चलने का प्रस्ताव, किन्तु यह सुनकर कि रावण के भेजे हुए राक्षसो से संघर्ष करना है, राजा दशरथ का भयभीत होना और वचन पालन मे असमर्थता व्यक्त करना तथा अन्तत राजा दशरथ के इस प्रकार के आचरण से विश्वामित्र का क्रोध और वसिष्ठ के परामर्श से राजा दशरथ द्वारा विश्वामित्र की मांग की पूर्ति—यह सम्पूर्ण प्रसंग वाल्मीकि रामायण मे सहज-स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया है। मानसकार इस प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रसंग में भक्ति भावना के कारण उसकी यथार्थता को सुरक्षित नही रख सका है। मानस में विश्वामित्र का स्वार्थ भक्ति भावना से दब गया है और इसलिए सम्पूर्ण प्रसंग की की यथार्थता कुंठित हो गई है। विश्वामित्र यज्ञ रक्षा के लिए विष्णु के अवतार राम को मांगने आते हैं और इसलिये राजा दशरथ के पास जाते समय व कार्य सिद्धि की लालसा के स्थान पर भक्ति भावना से प्रेरित दिखलाई देते हैं—

१—द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका पृ० ९८-१०२

२—द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २०७-२११

३—(a) *If art does not bear witness to reality it is not much worth bothering about.*—George Whalley, *Poetic Process*, *p* 9

(b) *In the activities which end in a great work of art we may find the prototype of reality and of the way reality is grasped and known and made known* —*Ibid*, *p* 80

गाधितनय मन चिंता ब्यापी । हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी ॥
तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा । प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा ॥
एहूँ मिस देखौं पद जाई । करि बिनती आनौं दोउ भाई ॥
ग्यान बिराग सकल गुन अयना । सो प्रभु देखब भरि नयना ॥[1]

इसलिए जब राजा दशरथ वात्सल्यातिरेक के कारण विश्वामित्र से राम की माँग सुनकर दुखी होते हैं और राम को देने मे अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं तो भक्त विश्वामित्र राम के प्रति राजा दशरथ की अनुरक्ति देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं—

सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी । हृदयँ हरष माना मुनि ग्यानी ॥[2]

और इसलिये मानस मे राजा दशरथ और विश्वामित्र के बीच मे कोई तनाव उत्पन्न नही होता । तुलसीदासजी ने विश्वामित्र के प्रति वचनबद्धता से राजा दशरथ को मुक्त रखा है और इस प्रकार विश्वामित्र को उपालम्भ का अवसर नही दिया है, फिर भी स्वार्थ मे बाधा पडने से विश्वामित्र की जैसी प्रतिक्रिया होनी चाहिये वैसी मानस मे नही है क्योंकि विश्वामित्र के आगमन के मूल मे स्वार्थ उतना नही है, जितनी भक्ति । इस प्रकार भक्ति के आग्रह से इस प्रसग का मानवीय पक्ष दब गया है, फिर भी राम को न देने मे राजा दशरथ की वात्सल्यपूर्ण मनोदशा का चित्रण बहुत स्वाभाविक बन पडा है—

सुनि राजा अति अप्रिय बानी । हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी ॥
चौथेंपन पायउँ सुत चारी । बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी ॥
मागहु भूमि धेनु धन कोसा । सर्बस देउँ आज सहरोसा ॥
देह प्रान प्रिय तें कछु नाहीं । सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥
सब सुत मोहि प्रिय प्रान कि नाईं । राम देन नहिं बनइ गुसाईं ॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा । कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा ॥[3]

और इस वचन के तुरन्त बाद वसिष्ठ को मध्यस्थ बनाकर मानसकार मे रावण की भीति के प्रसग को अवकाश ही नही दिया है । फलतः वाल्मीकि मे यह प्रसग जैसा स्वाभाविक एवं तनावपूर्ण बन पडा है, वैसा मानस मे नही बन पाया है ।

अहल्योद्धार

अहल्योद्धार के प्रसग मे दोनो काव्यो में इस प्रकार का अन्तर दिखलायी देता है । वाल्मीकि रामायण मे अहल्या की कथा मे सहज मानवीय दुर्बलता की अभिव्यक्ति हुई है । वाल्मीकि के अनुसार इन्द्र के गौरव से अभिभूत अहल्या स्वेच्छापूर्वक इन्द्र का

---

[1] —मानस, १/२०५/४
[2] —वही, १/२०७/४
[3] —वही, १/२०७/३

समागम-प्रस्ताव स्वीकार करती है और संभोगोपरान्त समागम के लिये इन्द्र के प्रति कृतज्ञता भी व्यक्त करती है। साथ ही इन्द्र को शीघ्र वहाँ से चले जाने को कहती है जिससे उसके पति महर्षि गौतम को पता न चल सके। इन्द्र भी अपनी परितृप्ति की बात कहता है और गौतम के भय से उतावली के साथ चले जाने का प्रयत्न करता है। पकड़े जाने पर वह भय से काँप उठता है और उसके मुख पर विषाद छा जाता है।

मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्॥
अथाब्रवीत् सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो॥
आत्मानं मां च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात्।
इन्द्रस्तु प्रहसन् वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत्॥
सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम्।
एवं संगम्य तु तदा निश्चक्रामोटजात् ततः॥
ससंभ्रमात् त्वरन् राम शङ्कितो गौतमं प्रति।
गौतमं स ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम्॥
देवदानवदुर्धर्षं तपोबलसमन्वितम्।
तीर्थोदकपरिक्लिन्नं दीप्यमानमिवानलम्॥
गृहीतसमिधं तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम्।
दृष्ट्वा सुरपतिस्त्रस्तो विषण्णवदनोऽभवत्॥[1]

इस प्रसंग में वाल्मीकि ने प्रेरणा और परितृप्ति के साथ ही आशंका एवं अपराधी-मनोवृत्ति का चित्रण यथार्थ रूप में किया है। शाप के अन्तर्गत उसे अदृश्य हो जाने के लिये कहा गया है, पत्थर हो जाने के लिये नहीं। अदृश्य हो जाने की बात भी लाक्षणिक अर्थ में कही गई प्रतीत होती है—वह किसी को अपना मुख दिखलाने योग्य नहीं रही थी। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से होती है कि अहल्या के आश्रम में प्रवेश करने पर वह राम को सदेह दिखलाई देती है।[2] राम से पूर्व भी वह कठिनाई से देखी जा सकती थी—बिलकुल देखी ही नहीं जा सकती हो—ऐसा वाल्मीकि रामायण में कोई उल्लेख नहीं है—

सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह।
त्रयाणामपि लोकानां यावद् रामस्य दर्शनम्॥[3]

१—वाल्मीकि रामायण, १/४८/१९-२५
२—वही, १/४९/१३-१५
३—वही, १/४९/१६

इस प्रकार वाल्मीकि ने कथा के मानसिक धरातल को विश्वसनीय ही नही, मनोविज्ञान सम्मत रूप प्रदान किया है ।

इसके विपरीत रामचरितमानस के कवि ने इस प्रसंग का चलता हुआ उल्लेख किया है । तुलसीदास ने संभवत नैतिक अवरोध या प्रासंगिक कथा के विस्तार में न जाने की इच्छा से अहल्या इन्द्र समागम की कोई चर्चा नहीं की है, विश्वामित्र के मुख से केवल इतना कहलवाया है—

> गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर ।
> चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर ॥[1]

निश्चय ही इस प्रकार का उल्लेख कथा की यथार्थता से दूर पड जाता है । शापवश अहल्या का पाषाण हो जाना अदृश्य हो जाने जितना विश्वसनीय नही है । इसके साथ ही गोस्वामीजी शाप की पृष्ठभूमि को टाल गये हैं, लेकिन प्रासंगिक कथा मे सभी विस्तारो की मांग करना समीचीन नहीं है, विशेषकर तब जबकि कवि प्रासंगिक कथाओ पर अधिक रुकना न चाहता हो ।[2]

मिथिला प्रकरण

मिथिला-प्रवेश के साथ रामकथा के सौन्दर्य-विधान मे एक नया मोड आता है । इस प्रसंग के साथ ही मानस का कवि अपेक्षाकृत अधिक लौकिक धरातल पर अवतीर्ण हुआ है । वाल्मीकि ने पूर्ववत् अपनी यथार्थ दृष्टि का परिचय देते हुए इस प्रसंग को एक ऐतिहासिक विवरण के रूप मे प्रस्तुत किया है, इसलिये परवर्ती राम-काव्य मे—विशेषकर हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव और रामचरितमानस मे इस प्रसंग ने जो भव्य रूप ग्रहण किया उसको देखते हुए वाल्मीकि का यह प्रसंग बडा ही फीका और सपाट प्रतीत होता है । वाल्मीकि मे इस प्रसंग की सहजता इस सीमा तक अक्षुण्ण है कि कलात्मक भव्यता इसका स्पर्श नही कर सकी है । इसके विपरीत मानस के इस प्रसंग मे अलौकिकता और नैतिकता के संस्पर्श के बावजूद कथा का मानवीय धरातल पूर्णतया विश्वसनीयता की परिधि मे बना रहकर सजीव रूप मे प्रकट हुआ है ।

तुलसीदासजी ने प्रसन्नराघव का अनुसरण करते हुए 'मानस' मे वाटिका प्रसंग जोडा है, जो स्रोत की तुलना मे कहीं अधिक प्रभावशाली बन पडा है । वाटिका प्रसंग के समावेश से मानस की रामकथा का मानवीय पक्ष बहुत सशक्त बन गया है क्योंकि इस प्रसंग मे रामकथा के अन्तर्गत मानव-मन की एक अत्यन्त प्रबल

---

[1] —मानस, १।२१०

[2] —द्रष्टव्य—इसी अध्याय के अन्तर्गत कथा संगुम्फन-विषयक प्रकरण

मूलप्रवृत्ति—यौन प्रवृत्ति—की आधारशिला रखी गई है। प्रसन्नराघव मे यह यौनमूलकता अपने अपरिष्कृत रूप मे व्यक्त हुई है। वहाँ राम को कामातुर और सीता को प्रणय-वाचाल कामिनी के रूप मे उपस्थित किया गया है।[1] राम शिव-धनुप चढाते हैं तो सीता अपने कटाक्ष रूपी धनुप का आरोपण करती है। मानसकार ने इस शृ गारिकता को स यत रूप मे ग्रहण किया है, किन्तु उसकी यथार्थता बाधित नही होने दी है।

मानस के पुष्पवाटिका-प्रसंग में राम और सीता के मन मे एक-दूसरे के प्रति आकर्षण का उदय कौतूहलमयी दर्शनेच्छा और एक-दूसरे को पा लेने की इच्छा के रूप मे हुआ है। फ्रायड ने काम मूलप्रवृत्ति के जिन तीन घटक आवेगो का उल्लेख किया है[2] वे तीनो—आधिपत्य, देखना और कुतूहल—मानस के इस प्रसंग मे अन्तर्भूत हैं। सीता और राम निर्निमेष दृष्टि से एक दूसरे को देखते हैं—

भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।
देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा।[3]

× × ×

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥[4]

राम का सम्पूर्ण ध्यान सीता मे केन्द्रित हो जाता है—

प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥
जनम सिंधु, पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंक।
सीय मुख समता पाव किमि चद बापुरो रंक॥
घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ग्रसइ राहु निज सधिहि पाई॥
कोक सोकप्रद पकज द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही॥
बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे॥
सिय मुख छबि बिधु ब्याज बखानी। गुरु पहिं चले निसा बड़ि जानी॥[5]

सीता के दर्शनो से उत्पन्न आनन्द को वे अपने भीतर रोककर नहीं रख पाते, इसलिये लक्ष्मण को ही नहीं, गुरु को भी बतला देते हैं—

१—डा० जगदीशप्रसाद शर्मा, रमाकाव्य की भूमिका, पृ० १०४
२—द्रष्टव्य—सिगमण्ड फ्रायड, मनोविश्लेषण, (अनुवादक देवेन्द्रकुमार), पृ० २९२
३—मानस, १/२२९/२-३
४—वही, १/२३१/२-३
५—वही, १/२३६/३ से २३७/२

हृदयँ सराहत सीय लोनाई । गुरु समीप गवने दोऊ भाई ।
रामु कहा सब कौसिक पाहीं । सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं ।[1]

यहाँ राम के आचरण मे वे सब लक्षण घटित होते दिखलाई देते हैं जिनकी चर्चा मेकडुगल ने काम मूलप्रवृत्ति के प्रसग में की है। इस सम्बन्ध में मैकडूगल ने लिखा है कि एक विशिष्ट प्रवृत्ति के सक्रिय होने के कारण ही सरल युवक अपने विचार किसी सुन्दरी की ओर उन्मुख पाता है, इसी प्रवृत्ति के कारण वह एक अस्पष्ट बेचैनी और अनजानी चाहत से भर जाता है।[2] पुष्पवाटिका प्रसग मे मानस के राम की दृष्टि के साथ उनके विचार भी अनायास ही सीता की ओर उन्मुख होते दिखलाई देते हैं।[3] उनकी बेचैनी कामावेग और नैतिकता के द्वन्द से उत्पन्न होती है[4] और सीता को पा लेने की प्रतीति तथा इस घटना के मूल मे विधाता की योजना मानने से[5] उनकी चाहत व्यक्त होती है।

मानस मे राम और सीता दोनों उत्कंठित है,[6] किन्तु इस सम्बध मे स्त्री-पुरुष मे जो प्रकृतिगत अंतर है, मानसकार ने उसका ध्यान रखा है और इस दृष्टि से उसने इस प्रसग को आश्चर्यजनक रूप मे स्वाभाविक ही नहीं बना *दिया, उसे अत्यत सूक्ष्म अंतर्दृष्टिपूर्ण मनोवैज्ञानिक धरातल भी प्रदान किया है।* सीता का अनुराग राम के समान मुखर नहीं है। नारी-सुलभ लज्जा का अवगुंठन उनके मानसिक उद्वेलन को सयत रखता है। इसके साथ ही राम के प्रति सीता के आकर्षण के क्रमिक विकास की योजना भी मानसकार ने बड़े कौशल के साथ की है। आरभ में सीता की दृष्टि कुतूहलवश इधर-उधर राम को खोजती है[7] जिससे राम के प्रति उनका कुतूहलमय आकर्षण व्यक्त होता है, फिर वे अपलक दृष्टि से राम को देखती रह जाती हैं[8] इस द्वितीय स्थिति मे सीता राम के सौन्दर्य से अभिभूत होती जान पड़ती हैं, और अत मे नेत्र बंद कर ध्यानावस्थित हो जाने से[9] उनका मुग्ध होना स्पष्टत व्यजित हो जाता है।

---

[1] १—मानस, १/२३६/१
[2] २—*W. McDougall, Psychology, The Study of Behavior, p 152*
[3] ३—मानस, १।२३०-२३१
[4] ४—वही, १/२३०/३
[5] ५—वही, १।२३०।२।
[6] ६—वही, १/२३४/० से २३४/२
[7] ७—चितवत चकित चहूँ दिसि सीता । कहँ गए नृप किसोर मन चिंता।।
—मानस, १।२३१।१।
[8] ८—अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी। —वही, १।२३१।३।
[9] ९—लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।। —वही, १।२३१।४।

मानस के इस प्रसंग का मूल प्रसन्नराघव में है, फिर भी मानसिक पीठिका की यथार्थता की दृष्टि से मानस का यह प्रसंग समस्त रामकाव्य-परम्परा में अद्वितीय है। प्रसन्नराघवकार की दृष्टि स्थूल हाव भावों पर अधिक रही है, मानसिक आलोडन विलोडन पर कम। वहाँ मानसिक आवेगों का चित्रण उतना नहीं है जितना विलासपूर्ण चेष्टाओं का। न तो स्त्री पुरुष के प्रकृति भेद की ओर जयदेव का ध्यान रहा है और न मनोभावों को सामाजिक परिवेशजन्य नैतिकता के संदर्भ में देखा गया है। परिणामस्वरूप प्रसन्नराघव का पूर्वराग सम्बन्धी प्रसंग स्थूल, छिछला और गरिमाविहीन दिखलाई देता है। इसके विपरीत मानस में कवि की दृष्टि मनोभावों की परिवेशजन्य अभिव्यक्ति के साथ स्त्री-पुरुषों के मनोभावों की अभिव्यक्ति के विभेद पर बनी रहने के कारण यह प्रसंग अधिक संयत¹ और निर्मल ही नहीं, अधिक मनोवैज्ञानिक भी है। डॉ० देवराज की यह मान्यता कि "मिल्टन् के महाकाव्य की भाँति रामचरितमानस से भी शृंगार-भावना का सप्रयास बहिष्कार किया गया है"² कम से कम इस प्रसंग के लिये लागू नहीं होती। नैतिक पवित्रता की भावना या धार्मिक विश्वास इस प्रसंग में समाविष्ट न हो—ऐसी बात तो नहीं है, लेकिन इस प्रसंग में उक्त दोनों प्रकार के अवरोधों की शक्ति इतनी क्षीण है कि उनसे मानस के इस प्रसंग के यथार्थ-बोध को कोई क्षति नहीं पहुँची है। फलतः इस प्रसंग में यथार्थ-चेतना-निर्भर काव्य-सौन्दर्य अक्षत रहा है।

धनुष यज्ञ के अवसर पर तुलसीदासजी ने जनक-पक्ष के जिस मानसिक संताप का चित्र उपस्थित किया है उससे मानस-कथा में अपूर्व स्वाभाविकता आ गई है। भरी सभा के मध्य चापारोपण और आकुलतापूर्ण वातावरण की सृष्टि हनुमन्नाटक के आधार पर की गई है,³ किन्तु मानसकार ने उसे निखारकर अपूर्व सौन्दर्य से मंडित कर दिया है। मानसकार की इस सफलता का श्रेय बहुत कुछ उसकी अंतर्भेदी दृष्टि को है। कन्या के विवाह के संबंध में माता-पिता की मानसिक उथल-पुथल का जैसा यथार्थ चित्र मानसकार ने दिया है, वैसा समस्त रामकाव्य परम्परा में विरल है।

वाल्मीकि ने राजा जनक के मुख से विश्वामित्र को यह सूचना दिलवाई है कि उन्होंने सीता के विवाह के सम्बन्ध में यह निश्चय किया था कि जो शिव धनुष चढ़ा देगा, वही सीता के साथ विवाह कर सकेगा। अनेक राजाओं ने सीता की

१—डॉ० राजकुमार पांडेय ने "रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन" में पृ १ २ पर उक्त प्रसंग को प्रसन्नराघव की तुलना में अधिक संयत बतलाया है।

२—डॉ० देवराज, आधुनिक समीक्षा, पृ ६६।

३—द्रष्टव्य - डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० १०९-१०।

माँग की, किन्तु राजा जनक अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। तब सभी राजाओं ने एक साथ मिथिला मे आकर अपने पराक्रम की परीक्षा देने की तत्परता व्यक्त की, किन्तु वे सफल नही हुए इसलिए जनक ने सीता उन्हें देने से इन्कार कर दिया। तब कुपित होकर उन्होंने मिथिला को घेर लिया और एक वर्ष तक घेरा डाले रहे। अततः जनक ने देव-प्रसाद से उन्हे पराजित कर भगा दिया।[1]

इस विगत प्रसंग को राजा जनक एक इतिहासकार के समान निर्लिप्तता-पूर्वक तथ्यात्मक रूप मे सुन जाते हैं, कही भी उनके हृदय की बेचैनी या आकुलता अथवा वात्सल्यजनित कोमलता व्यक्त नहीं होती। वाल्मीकि मे यह प्रसंग बहुत ही ठण्डा है। प्रसन्नराघवकार ने पूर्वराग जोडकर इस प्रसंग की शृंगारिक पीठिका को सुदृढ बनाया और राम के मिथिला पहुँचने तक राजाओ के वही रुके रहने की कल्पना के आधार पर भरी सभा मे राम द्वारा चापारोपण की घटना प्रस्तुत की है। हनुमन्नाटक में इस प्रसंग को स्वयंवर का रूप दिया गया है और कुछ-कुछ तनावपूर्ण वातावरण की सृष्टि की गई है, किन्तु मानस के प्रसंग-जैसा कोई उद्वेलन वहाँ नही है। हनुमन्नाटक मे राजाओ से धनुष चढता न देखकर राम हतोत्साह–से हो जाते हैं[2] और तब लक्ष्मण अपने ओजपूर्ण शब्दो से उन्हे उत्साहित करते हैं।[3] मानस मे राम को हतोत्साह न दिखलाकर राजा जनक को एक पुत्री के पिता के रूप मे बहुत ही स्वाभाविक रूप से हताश दिखलाया है क्योंकि उनकी पुत्री के विवाह की समस्या हल होती दिखलाई नहीं देती–

तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
सुकृतु जाइ जो पनु परिहरऊँ। कुँअरि कुआरि रहउ का करऊँ॥[4]

इसी प्रकार सीता की माँ की उद्विग्नता भी वात्सल्य की सहज परिणति है। राम के सुकोमल शरीर को देखते हुए उनके द्वारा धनुर्भंग के प्रति रानी का अनाश्वस्त होना और तब हँसी होने की आशका से रानी का चिंतित हो जाना मानस मे बहुत ही स्वाभाविक रूप मे अंकित है।

इससे भिन्न धरातल पर कवि ने सीता के हृदय मे उद्विग्नता का चित्रण किया है। उनकी स्थिति द्वन्द्वपूर्ण है। वे बहुत व्याकुल हैं, किन्तु अन्य व्यक्तियो के समान अपनी व्याकुलता व्यक्त नही कर सकती। लज्जा उनके आवेग की अभिव्यक्ति

१—वाल्मीकि रामायण, १।६६।१५-२४।
२—हनुमन्नाटक, १।१०
३—वही, १।११
४—मानस, १।२५१।३

का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। आवेग और अवरोध के द्वन्द्व के रूप मे सीता की व्याकुलता का चित्र अपनी जीवन्त वास्तविकता के कारण मानसकार की अनुपम सृष्टि है--

तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदयँ बिनवति जेहि तेही॥
मनहीं मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी।
करहु सफल आपनि सेवकाई। करि हितु हरहु चाप गरुआई।
गन नायक बरदायक देवा। आजु लगें कीन्हिउँ तुम सेवा॥
बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी॥
देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर॥
नीकें निरखि नयनभर सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मन छोभा॥
अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानी॥
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड अनुचित होई॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥
बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा॥
सकल सभा कै मति भै भोरी। अब मोहि संभु चाप गति तोरी॥
निज जडता लोगन्ह पै डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी॥
अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥
प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल॥
गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥
लोचन जल रह लोचन कोना। जैसें परम कृपन कर सोना॥[1]

सीता की उद्विग्नता का चित्रण करते हुए मानसकार की दृष्टि इतनी यथार्थपरक रही है कि उन्हें पिता की समझदारी की आलोचना करते दिखलाया है--'समुझत नहिं कछु लाभु न हानी', और 'सभय हृदय बिनवत जेहि तेही' कहकर उन्होंने सीता की उत्कंठा की अतिशयता व्यक्त की है। सीता इतनी व्यग्र हैं कि किसी एक देवी देवता की कृपा के भरोसे अपने आपको नहीं छोड देती हैं। ऐसी स्थिति मे एक-एक क्षण बडी कठिनाई से निकलता है--लव निमेष जुग सय सम जाहीं।

धनुर्भंग के उपरांत परशुराम प्रसंग वाल्मीकि रामायण और मानस दोनो मे स्वाभाविक रूप मे अंकित है। यद्यपि इस प्रसंग मे उक्त दोनो काव्यो मे राम को विष्णु का अवतार भी सिद्ध किया गया है, फिर भी मानवीय धरातल अक्षुण्ण रहा है।

---

[1] —मानस, १/२५६/२—२५८/१

वाल्मीकि रामायण मे परशुराम एक अन्तर्मुखी आत्मप्रशसक एवं असहिष्णु व्यक्ति के रूप मे दिखलाई देते हैं जिन्हे किसी अन्य व्यक्ति का पराक्रम सहसा मान्य नहीं होता, जिन्हे अपने पराक्रम के बखान मे सकोच नहीं होता और जो अपनी ही हाँकते रहते हैं, दूसरो की नही सुनते । उनकी इस आत्मकेन्द्रित मनोवृत्ति का पराभव वाल्मीकि ने रामायण मे राम परशुराम भेंट मे चित्रित किया है ।

मानसकार ने परशुराम के इस चित्र मे किंचित् सशोधन करते हुए प्रसग मे महत्त्वपूर्ण हेर-फेर किया है । यहाँ परशुराम से लक्ष्मण को भिडाया गया है । परशुराम जैसे उग्र व्यक्ति का जवाब लक्ष्मण ही हो सकते थे । इसलिए चन्द्रबली पाडेय का अनुमान है कि 'उधर भूपो की बातो से लक्ष्मण भरे बैठे थे, उधर पिनाक के टूट जाने से परशुराम भी क्रुद्ध थे । फिर क्या था, क्रोध से क्रोध की मुठभेड हो गई ।' क्रोध से क्रोध भडकने की दृष्टि से प्रसंग की यथार्थता स्वयंसिद्ध है लेकिन तुलसीदासजी ने इस प्रसग मे यथार्थ का जो सन्निवेश किया है वह और भी सूक्ष्म है । मानस मे परशुराम पहले से क्रुद्ध होकर नही आते, मिथिला पहुँचने पर ही उन्हे धनुर्भग का समाचार मिलता है । लक्ष्मण भी आरम्भ मे क्रुद्ध दिखलाई नहीं देते—वे चपलतावश चिडचिडे परशुराम को चिढाते हैं । इससे परशुराम और अधिक भडक जाते हैं । क्रोध मे भर कर वे अपने पराक्रम का बखान करने लगते हैं । यहाँ वे वाल्मीकि रामायण के समान स्वभावत आत्मप्रशसक प्रतीत नहीं होते, परिस्थितिवश आत्मप्रशसा करते हुए कडवे वचन कहकर क्रोध व्यक्त करने लगते हैं । इस प्रकार लक्ष्मण की चिढाने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे क्रोध मे बदल जाती है, फिर भी सर्वत्र उनका चिढाने का प्रयत्न उनके क्रोध के भीतर झाँकता रहता है । इसीलिये राम लक्ष्मण के आचरण को 'अचगरी' (चपलता) की सज्ञा देते हैं ।

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं । गुर पितु मातु मोद मन भरहीं ॥[२]

और इस अचगरी का कारण लक्ष्मण का लडकपन मानते हैं—

बररे बालकु एक सुभाऊ । इन्हहि न संत बिदूषहिं काहू ॥[3]

इस प्रकार परशुराम प्रसग को परशुराम की आत्मकेन्द्रित एवं अहम्मन्य प्रवृत्ति से हटाकर, या उसका रग कम करते हुए, लक्ष्मण के लडकपन पर टिका कर मानसकार ने उसको नूतन मानवीय धरातल प्रदान किया है । परशुराम और लक्ष्मण का वाग्युद्ध प्रसन्नराघव में भी अकित है, किन्तु वहाँ लक्ष्मण के आचरण की पीठिका 'मानस' के समान स्पष्ट नहीं है ।

---

१ – चन्द्रबली पाडेय, तुलसीदास, पृ० २२९-३०

२ – मानस, १/२७६/२

3 वही, १/२७५/२

इस प्रकार राम विवाह तक की कथा रामायण और मानस मे प्राय: भिन्न-भिन्न रही है। पूर्वराग और धनुष यज्ञ की कथा का रामायण से कोई सम्बन्ध नही है जबकि मानस मे ये प्रसंग अत्यन्त मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। विश्वामित्र-प्रकरण और परशुराम-संवाद रामायण और मानस दोनों मे सम्मिलित हैं। मानस मे विश्वामित्र-प्रकरण का आधार उतना मानवीय एव यथार्थपरक नही जितना रामायण मे है। इसी प्रकार मानसकार ने अहल्या की कथा के मानवीय पक्ष पर भी आवरण डाल दिया है। इसके विपरीत परशुराम-प्रसंग रामायण की तुलना में मानस मे कही अधिक स्वाभाविक और सजीव बन पडा है। मानस मे प्राय: उक्त सभी प्रसंगो मे राम के ईश्वरत्व की ओर संकेत है, किन्तु कथा निरन्तर मानवीय आधार पर प्रतिष्ठित है।

अयोध्याकाण्ड स्थूल साम्य और सूक्ष्म विभेद

मानवीय यथार्थ की दृष्टि से रामायण और मानस दोनो मे ही राम के निर्वासन की कथा अत्यन्त सशक्त है, किन्तु मानवीय यथार्थता के बावजूद इस प्रसंग मे रामायण और मानस की कथा मे अभेद नहीं है—दोनो मे निर्वासन प्रसंग स्थूलत एक जैसा दिखलाई देता है, किन्तु दोनो के अन्तस्तत्वों मे आकाश-पाताल का अन्तर है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने दोनो काव्यो के उक्त प्रकरण मे ऊपरी साम्य को देखकर ही यह कहा है कि "रामायण और मानस" के 'अयोध्याकांडों' की कथा-वस्तु मे कोई विशेष अन्तर नही दीख पडता है लेकिन दोनो काव्यो मे कथा की मानसिक विवृति मे जो व्यापक अन्तर है उसे चतुर्वेदीजी ने स्वीकार किया है—'केवल राम कथा के पात्रो की मनोवृत्ति तथा उनके तदनुकूल कार्यों मे उल्लेखनीय भेद पाया जाता है'[1] और सच यह है कि काव्य के कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह मनोवृत्तिगत भेद ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कथा-सृष्टि मे उसकी मानसिक पीठिका ही प्राण फूँकती है और उससे समन्वित होकर ही कथा-बिम्ब सम्प्रेषित होता है। स्थूल विवरण उसकी अभिव्यक्ति के साधन रूप मे ही महत्त्वपूर्ण माने जासकते हैं। और इसलिये रामायण और मानस की कथा-सृष्टि की तुलना मे उनका मानवीय फलक सौन्दर्य-विधान की दृष्टि मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से 'मानस' मे वाल्मीकि रामायण के प्रति जो प्रतिक्रिया दिखलाई देती है उसका अनुशीलन बहुत ही रोचक है।

दशरथ-परिवार की आंतरिक स्थिति : परिवेशगत भिन्नता

राजा दशरथ के परिवार के विभिन्न सदस्यो—विशेषकर कौसल्या, कैकेयी और राजा दशरथ के त्रिकोण के सम्बन्धों को लेकर वाल्मीकि रामायण और राम-

---

[1] —श्री परशुराम चतुर्वेदी, मानस की रामकथा, पृ० ११७

चरितमानस में दो स्वतन्त्र सृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। वाल्मीकि मुनि की दृष्टि बहुत ही यथार्थपरक है—इसलिये वे मानव प्रकृति को उसके निरावृत रूप में ग्रहण करते हैं—नैतिकता का आग्रह उनकी सृष्टि में सहज मानवीय दुर्बलताओं को अस्वीकार नहीं करता। इसके विपरीत रामचरितमानस का कवि नैतिक-अनैतिक के प्रति बहुत जागरूक रहा है। मानस के पात्र दो रेखाबद्ध वर्गों (कैटेगरीज) में स्पष्टतः विभक्त हैं। वे या तो सज्जन (नैतिक) हैं या असज्जन (अनैतिक)। राजा दशरथ के परिवार को उन्होंने आदर्श रूप में प्रस्तुत करना चाहा है और परिवेश-परिवर्तन के परिणामस्वरूप मानस का राम-निर्वासन-प्रसंग रामायण के उक्त प्रसंग से सर्वथा भिन्न हो गया है—फिर भी वह अयथार्थ, अविश्वसनीय या अस्वाभाविक नहीं हो पाया है, उसका सहज मानवीय तत्त्व कुंठित नहीं हुआ है। इस प्रसंग में भिन्न दृष्टियाँ हैं, भिन्न परिस्थितियाँ है, भिन्न मूल्य हैं और इस सब को भिन्न परिणतियाँ है—फलतः दोनो काव्यों में इस प्रसंग को लेकर दो भिन्न सृष्टियाँ दिखलाई देती हैं।

वाल्मीकि रामायण मे राम का निर्वासन राजा दशरथ के परिवार की कलह की अपरिहार्य परिणति है। कौसल्या राजा दशरथ की ज्येष्ठ महिषी थीं, फिर भी उन्हे उतना सम्मान प्राप्त नही था जितना कैकयी को। राजा दशरथ,[1] कौसल्या[2] और मथरा[3] सभी कैकेयी के असाधारण सम्मान की चर्चा करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि कौसल्या और सुमित्रा का एक गुट था और कैकेयी का दूसरा। राम के राज्याभिषेक का समाचार पाकर कौसल्या अपनी और सुमित्रा की प्रसन्नता का उल्लेख करती है कैकेयी का नाम नही लेती।[4] कैकेयी के साथ कौसल्या के सम्बन्ध तनावपूर्ण थे। राम के निर्वासन का समाचार पाकर कौसल्या अपने चारों ओर के आतंकपूर्ण व्यवहार की चर्चा करती हुई इस तथ्य पर प्रकाश डालती है। कौसल्या की दासियाँ तक कैकेयी से इतनी आतंकित थी कि यदि कोई दासी कौसल्या से बातें करते समय भरत को उधर से निकलते देख लेती तो वह तुरत चुप हो जाती—

न दृष्टपूर्वं कल्याण सुख वा पतिपौरुषे ।
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामाश्रित मया ॥
सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती ॥

१—वाल्मीकि रामायण, ३/१२/६७-८०
२—वही, २/२०/४२
३—वही, २/७/१५
४—वही, २/४/४९

अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः॥
त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि॥
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता।
परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा॥
यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते।
कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाष्यते॥
नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि तत्।
कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता॥[1]

इसके विपरीत राजकुमारो में राम राजा के सर्वाधिक स्नेह-भाजन थे। इसलिये राजा दशरथ के समक्ष एक बड़ी समस्या थी राम को युवराज बनाने की। एक ओर उन्होने कैकेयी के पिता को वचन दिया था कि कैकेयी-सुत उनका उत्तराधिकारी होगा[2] तो दूसरी ओर राम-विवाह के उपरात भरत के ननसाल चले जाने पर उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर युवराज पद पर राम का अभिषेक करना चाहा। उन्होने राम से कहा कि भरत के अपने मातुल-गृह से लौट आने के पूर्व ही वे राम का अभिषेक करना चाहते हैं।[3] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राम के यौवराज्याभिषेक का प्रयत्न वाल्मीकि ने दशरथ के कूटचक्र के रूप मे प्रस्तुत किया है। मंथरा ने कैकेयी के समक्ष राजा दशरथ के इस कूटनीतिपूर्ण प्रयत्न का रहस्योद्घाटन कर उनकी योजना को असफल कर दिया।

वाल्मीकि ने मंथरा की प्रेरणा को तटस्थ भाव से अपने काव्य मे व्यक्त किया है। रामायण की मंथरा कैकेयी के साथ तादात्म्य अनुभव करती है और उसके उदय के साथ अपने उदय तथा उसके अनिष्ट के साथ अपने अनिष्ट की बात कहती है।[4] वह स्वामिभक्ति की भावना से अनुप्रेरित है—इसलिए कवि ने उसे कैकेयी की हितैषिणी कहा है।[5] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मंथरा का कैकेयी के प्रति लगाव आत्म-प्रकाशन का ही एक रूप है। क्योकि आत्मप्रकाशन की प्रमुख विधियो मे महिमाशाली लोगों के साथ अपने सम्बन्ध के द्वारा महत्त्वानुभूति भी सम्मिलित है।[6] इसप्रकार

१—वाल्मीकि रामायण, २/२०/३८-४४
२—वही, २/१०७/३
३—वही, १/१/२५
४—वही, पृ० २/७/२२
५—वही, २/७/१९
६—G. Murphy, *An Introduction to Psychology*, P. 412

वह अपने हिताहित को कैकेयी के हिताहित से अभिन्न समझती हुई उसे समय रहते सावधान करती है। उसके स्वर मे कुटिलतापूर्ण विनम्रता न होकर आत्मीयतापूर्ण खरपन है। कैकेयी की अदूरदर्शिता और मूर्खता के लिये उसे खरी खोटी सुनाने मे भी वह नही हिचकती।[1] अतएव वाल्मीकि की मथरा को 'स्वभावत कुटिल' कहना[2] कवि के साथ अन्याय करना है।

मानसकार ने राजा दशरथ के परिवार के इस चित्र को बहुत अशो मे बदल दिया है— कहना चाहिए कि उलट दिया है। मानस मे राम के यौवराज्याभिषेक म किसी प्रकार के कूटचक्र का सकेत नहीं मिलता। यद्यपि वाल्मीकि रामायण[3] और मानस[4] दोनो मे समान रूप से इस बात का उल्लेख है कि राजा दशरथ ने वृद्धावस्था के कारण राजसभा के अनुमोदन से राम को युवराज बनाने का निर्णय किया, फिर भी वाल्मीकि ने राजा दशरथ के मतव्य के प्रति शका उत्पन्न करने वाले अनेक सकेत छोडे हैं, जैसे—इस सदर्भ मे अन्य राजाओ को निमन्त्रित करना किन्तु राजा जनक और कैकयराज जैसे निकट सम्बन्धियो को न बुलाना[5] तथा एकात मे राजा दशरथ का राम से यह कहना कि भरत के लौट आने के पहले अभिषेक हो जाना चाहिये आदि।[6] मानसकार ने इस प्रकार का कोई सकेत नही छोडा है। कौसल्या और कैकेयी मनोमालिन्य का उल्लेख भी मानस मे नही है। फिर भी कुछ विद्वान् तुलसीदास की इस अत्यधिक सतर्कता के बावजूद मानस मे कूट अभिप्राय की ओर सकेत पाते हैं। डॉ॰ मानाप्रसाद गुप्त इस सम्बन्ध मे राजा दशरथ की आनुरता को सदेह की दृष्टि से देखते हुए लिखते हैं—'हमारा कवि राम के पिता को आक्षेप से मुक्त करने का प्रयत्न करता है, किन्तु इस प्रयास मे वह अपने पाठकों से सत्य को छिपाता, किसी अत्यन्त आवश्यक सूचना को दबाना एव किसी कालिमा के ऊपर सफेदी करता हुआ प्रतीत होता है।[7] यहाँ डॉ॰ गुप्त इतिहास के सत्य से काव्य-सत्य की समीक्षा करते प्रतीत होते हैं। काव्य मे वस्तु-सत्य कुछ नही होता केवल कवि-गृहीत और कवि-सृष्टि का सत्य होता है और वह सभी कवियो मे भिन्न एव स्वतन्त्र रूप मे बिम्बित होता है। वाल्मीकि ने जो लिखा वह सत्य था और मानसकार ने जो

१—वाल्मीकि रामायण, २/७ १४

२—'वह स्वभावत कुटिल जान पड़ती है।'
—श्री परशुराम चतुर्वेदी मानस की रामकथा, पृ० ११६

३—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, प्रथम एवं द्वितीय सर्ग

४—मानस, २/१ ५

५—वाल्मीकि रामायण २/१/४८

६—वही, २/४/२५

७—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास, पृ० २९५

वाल्मीकि सम्मत न लिखा वह असत्य था—ऐसी मान्यता काव्य समीक्षा के लिए उचित नहीं है क्योंकि प्रत्येक कवि की कथा-सृष्टि अपना स्वतन्त्र बिम्ब होता है और उसकी यथार्थता उसकी सहज मानवीय प्रकृति के निरूपण पर निर्भर रहती है, वस्तुगत तथ्य पर नहीं।

मानस मे राजा दशरथ के परिवार का जो चित्र अंकित किया गया है, उसमे किसी प्रकार की कालिमा दिखलाई नही देती। वाल्मीकि के कलह सूचक संकेतो को छोडकर मानसकार ने सौहार्द-सूचक संकेत मानस मे जोडे है। यौवराज्याभिषेक की शुभ घडी का सन्देश देने के लिए राम और सीता के मंगल-अंग फडकने लगते हैं तो वे इस शुभ शकुन को भरत आगमन-सूचक समझते हैं—

राम सीय तन सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥
पुलक सप्रेम परस्पर कहहीं। भरत आगमनु सूचक अहहीं॥
भए बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥
भरत सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुन फल दूसर नाहीं॥
रामहिं बधु सोच दिनराती। अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती॥[1]

वसिष्ठ से भावी यौवराज्य की सूचना पाने पर भी राम के हृदय की पहली प्रतिक्रिया यही होती हे कि साथ-साथ रहे हुए भाइयो को छोड कर केवल बडे भाई का अभिषेक अनुचित है—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लारिकाई।
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बधु बिहाइ बडेहि अभिषेकू॥[2]

प्रसंग का यह उपस्थापन वाल्मीकि के उस प्रसंग से सर्वथा भिन्न है जहाँ राम राजा दशरथ के इस विचार को स्वीकार कर लेने हैं कि भरत-आगमन से पूर्व उनका अभिषेक हो जाना चाहिये। वाल्मीकि के इस प्रसंग मे राम के भ्रातृ-स्नेह की छाया कहीं दिखलाई नही देती। मानसकार ने भरत की अनुपस्थिति से लाभ उठाये जाने का प्रसंग छोडकर तथा राम के भ्रातृ-स्नेह का प्रसंग जोडकर और साथ ही रानियो के परस्पर मनोमालिन्य की कल्पना को अपने काव्य मे स्थान न देकर वाल्मीकि रामायण मे चित्रित अन्तःकलहपूर्ण दशरथ-परिवार को सौहार्दमय रूप मे बदल दिया है।

ऐसी स्थिति मे मानसकार को मथरा की कल्पना भी वाल्मीकि से भिन्न रूप मे करनी पडी है क्योंकि दशरथ परिवार की आन्तरिक कलह के अभाव मे किसी

१—मानस, २,६/२ ४
४—वही, २/९/३-४

ऐसे बड़े मनोवैज्ञानिक कारण की अत्यधिक आवश्यकता हो गई थी जो इस सौहार्दपूर्ण परिवार की शांति को आकस्मिक रूप से भंग कर दे। वाल्मीकि की स्वामिभक्त मथरा से यहाँ काम नहीं चल सकता था क्योंकि जब कोई दुरभिसंधि थी ही नहीं तो स्वामिनी-हितैषिणी दासी क्या कर सकती थी ? इसलिये मानसकार ने मथरा के रूप में एक ऐसे पात्र का सृष्टि की है जो प्रकृत्या दुष्ट है और जो अपनी कुटिलता से एक सुखी राज-परिवार का अनिष्ट कर सकता है। लेकिन तब उसकी दुष्ट प्रवृत्ति का कोई मनोवैज्ञानिक या तर्कसंगत कारण भी होना चाहिये।

यद्यपि मानसकार ने अध्यात्म रामायण का अनुसरण करते हुए[1] देव-हित के लिये सरस्वती द्वारा मथरा की बुद्धि भ्रष्ट कर दिये जाने का उल्लेख किया है, फिर भी उसके आचरण की मनोविज्ञान सम्मत प्रेरणा की ओर मानस के कवि का ध्यान रहा है और आध्यात्मिकता के बावजूद उसने मानवीय धरातल पर मथरा का आचरण उपस्थित किया है।

मानस की मथरा हीनत्वानुभूति से बुरी तरह ग्रस्त है।[2] वह शारीरिक कुरूपता और सामाजिक हीनता की चेतना से पीड़ित है। इस तथ्य की ओर कैकेयी संकेत करती है[3] और मंथरा की उक्तियों से उसकी पुष्टि होती है।[4] इस हीनता से ग्रस्त होने के कारण वह राज्य पलट कर महत्त्वानुभूति से अपने अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करना चाहती है।

इस प्रेरणा के प्रकाश में मानसकार ने मथरा की कुटिलता को खूब उभारा है। उसके मस्तिष्क की सूझ-बूझ एकाएक शेक्सपीयर के खलनायकों का स्मरण दिला देती है। उन्हीं के समान मथरा मिथ्यावादिनी, मायाविनी और कुचक्री है। वह अपनी निष्पक्षता, निरीहता और हितैषिता के ढोंग द्वारा प्रतीति उत्पन्न करती है और गढ़-छोलकर बातें बनाती है—

सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़साती तब बोली ॥[5]

१—अध्यात्म रामायण, २/२/४४ ४५

२—द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११०

३—काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि ॥ —मानस २/१४

४—करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा ॥
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी ॥
—मानस, २/१५/३

५—मानस, २/१६/२

वाल्मीकि में जो पारिवारिक वैमनस्य एवं दुरभिसंधि एक तथ्य है वह मानस में कुटिल मंथरा की मनगढ़ंत कल्पना मात्र है।

इस प्रकार मंथरा के चरित्र को एक नया रूप देकर मानसकार ने राम-निर्वासन का सारा दायित्व उस पर डाल दिया है और राम के निर्वासन का परिपार्श्व ही बदल दिया है।

मंथरा की पिशुनता के प्रति कैकेयी की प्रतिक्रिया

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में राम के युवराज होने का समाचार मिलने पर कैकेयी हर्षित होती दिखलाई गई है। वाल्मीकि रामायण में मंथरा से यह समाचार पाकर कैकेयी उसे पुरस्कार देने की इच्छा प्रकट करती है, किंतु राम के प्रति कैकेयी के इस स्नेह को देखकर भी जब वह राम के यौवराज्याभिषेक के विरुद्ध विषवमन करती रहती है तो कैकेयी उसकी ईर्ष्या एवं संतप्तता के प्रति कौतूहल व्यक्त करती है—

> भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति ।
> संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥[1]
>
> × × ×
>
> सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे ।
> भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे ॥[2]

मानस में कैकेयी की प्रतिक्रिया कुछ भिन्न प्रकार की है। सर्वप्रथम वह पिशुनता के लिये मंथरा को बुरी तरह डाँटती है—

> सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी । झुकी रानि अब रहु अरगानी ॥
> पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी । तब धरि जीभ कढ़ावहुँ तोरी ॥[3]

तदुपरांत राम के अभिषेक के समाचार के प्रति वह प्रसन्नता व्यक्त करती है[4] किन्तु अन्त में वह मंथरा की प्रसंग प्रतिकूल बातों के प्रति कौतूहल व्यक्त करने लगती है—

> भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ ।
> हरष समय बिसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ ॥[5]

और तभी वह मंथरा के जाल में फँस जाती है।

---

१ – वाल्मीकि रामायण, २।८।१५
२ – वही, २।८/१७
३ – मानस, २/१३/४
४ – वही, २/१४ १-४
५ – वही, २/१५

रामायण और मानस मे कैकेयी की प्रतिक्रिया के इस सूक्ष्म विभेद के दो कारण हैं—(१) वाल्मीकि की तुलना मे मानस मे राजा दशरथ के परिवार मे जो सौहार्द दिखलाई देता है उसके परिणामस्वरूप इस प्रकार की पिशुनता के प्रति ऐसी रोषपूर्ण प्रतिक्रिया ही होनी चाहिये, (२) वाल्मीकि की तुलना म मानस की मथरा स्वामिनी हितैषिणी न होकर कुटिल है और कुटिलता की भर्त्सना कवि को अभीष्ट थी। इस प्रकार म नस मे मथरा के प्रति कैकेयी का आरम्भिक व्यवहार परिवेशगत और चरित्रगत अन्तर का परिणाम है।

मथरा की योजना और कैकेयी का हठ

वाल्मीकि रामायण[1] और रामचरितमानस[2] दोनो मे प्राय. समान रूप से मथरा कैकेयी को कौसल्या की ओर से आशकित करती हुई उसके समक्ष अन्धकारमय भविष्य का कल्पना चित्र प्रस्तुत करती है, किन्तु वाल्मीकि रामायण मे एक ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि जो मानस मे छोड़ दिया गया है। वाल्मीकि रामायण मे मथरा द्वारा राम के अभिषेक के विरुद्ध विष वमन करने पर कैकेयी कहती है कि जब राम सौ वर्ष राज्य कर लेंगे तो भरत को राज्य मिलेगा। मथरा उसके इस भ्रम का निवारण कर देती है।[3] वह कैकेयी को स्पष्ट बतला देती है कि राम के उपरात राज्य का उत्तराधिकारी राम का पुत्र होगा।। भरत राज्य-परम्परा से दूर हो जाएँगे[4] और तब स्वप्न-भग से कैकेयी को बडा आघात लगता है। मानसकार ने इस ओर कोई सकेत नहीं किया है, फिर भी भरत और कैकेयी के अन्धकारमय भविष्य का ऐसा कल्पनाचित्र मथरा के मुख से प्रस्तुत करवाया है जो कैकेयी का रोष भडकाने के लिये पर्याप्त है।

मथरा के समक्ष कैकेयी के आत्मसमर्पण के उपरान्त वाल्मीकि रामायण और मानस दोनो मे कैकेयी को परामर्श के रूप मे मथरा की योजना एक-जैसी है, लेकिन वाल्मीकि रामायण मे राम के लिये चौदहवर्ष का वनवास मांगने का प्रयोजन स्पष्ट शब्दो मे उल्लिखित है। चौदहवर्ष तक राम के बाहर रहने पर जनता के हृदय म उनका पूर्ववत् स्थान नहीं रह जाएगा और इस बीच भरत अपनी स्थिति सुदृढ बना लेंगे।[5] मानस मे ऐसे किसी प्रयोजन का उल्लेख नहीं है जिसके परिणामस्वरूप राजा दशरथ की बार बार प्रार्थना पर भी कैकेयी का राम के वनवास को

१—वाल्मीकि रामायण, २/८/११ तथा २/८/२७
२—मानस, २।१८।४ २/१९
३—वाल्मीकि रामायण, २/८/१६
४—वही, २/८/२२
५—वही, २/९/३८ ३९

मांग से टस से मस न होना अबूझ बना रहता है जबकि वाल्मीकि रामायण मे उक्त प्रयोजन के प्रकाश कैकेयी का हठ समझ मे आने योग्य है। तुलसीदासजी ने इस प्रयोजन का उल्लेख स भवत इसलिए नही किया है कि वे राम की लोकप्रियता को इतनी अल्प नही मान सकते जो चौदहवर्ष मे अपना प्रभाव खो दे। किसी के भी मुख से, किसी की भी दृष्टि म भक्त तुलसीदास अपने आराध्य की लोकप्रियता को इतना नही घटा सकते।

वाल्मीकि रामायण[1] और रामचरितमानस[2] दोनो मे मथरा की योजना के अनुसार कैकेयी द्वारा अतीत मे दिये गये वरो की मांग, राजा दशरथ का वात्सल्य, भरत के यौवराज्य की मांग की पूर्ति, कि तु राम को वनवास न मांगने की प्रर्थना और कैकेयी का अटूट हठ तथा राजा दशरथ की सत्यसंधता को चुनौती लगभग समान रूप म अ कित की गई है। दोनों मे पुत्र-स्नेह और वचन पालन की द्विधा के मध्य राजा दशरथ को समान रूप से पिसते हुए दिखलाया गया है।

राजा दशरथ का यह धर्म सकट दोनो ही काव्यों मे अत्यन्त स्वाभाविक रूप म चित्रित है। एक ओर वचन पालन न करने पर लोक निंदा का भय और दूसरी ओर पुत्र के भावी सकट की कल्पना से आहत वात्सल्य का द्वन्द्व इस प्रस ग मे जीव त रूप मे अ कित है। इस द्वन्द्व से मुक्ति के लिए ही भरत के अभिषक का प्रस्ताव वे तुर त स्वीकार कर लेते हैं। यदि कैकेयी सहमत हो जाती तो इससे राजा की प्रतिष्ठा भी बच जाती और राम पर सकट भी न आता। वास्तव मे राजा दशरथ की यह मानसिक स्थिति दो प्रकार की मूल्य-चेतना से उद्भूत आवेगो का परिणाम है। वचन की रक्षा और पुत्र स्नेह दोनो उनके लिये मूल्यवान हैं। दोनो मूल्यों की गुरुता एक-दूसरे को चुनौती देती हुई उनके व्यक्तित्व को दो भागो मे विभक्त कर देती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से द्विधापूर्ण स्थिति मे निर्णय करना बडा कष्टकर होता है।[3]

निर्वासन की प्रतिक्रियाएं

अयोध्याकाड की कथा मे इस थोडे से साम्य के उपरात पुन रामायण और मानस में अत्यधिक अ तर दिखलाई देने लगता है। राम के निर्वासन की परिवेशजन्य परिस्थितियाँ और प्रेरणाएं भिन्न होने के परिणामस्वरूप उसके प्रति विभिन्न पात्रों की प्रतिक्रियाएं भी भिन्न होती हैं, किन्तु भिन्नता के बावजूद दोनों काव्यों म ये

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १२ एव १४

[2] —मानस, २/२३९

[3] —G Murphy, *Personality p 806*

प्रतिक्रियाएँ अपने अपने परिवेश की सगति मे हैं और इसलिये दोनो में राम, कौसल्या और भरत की प्रतिक्रियाएँ मनोविज्ञानसम्मत हैं और अपनी मानवीय यथार्थता एव विश्वसनीयता से सहृदय को प्रभावित करती हैं।

राम की प्रतिक्रिया

जहाँ तक निर्वासन के प्रति राम की प्रतिक्रिया का प्रश्न है, दोनों काव्यों मे इस सम्बन्ध मे सूक्ष्म अन्तर दिखलाई देता है। वाल्मीकि रामायण मे राम शात चित्त से निर्वासन-आदेश को धर्म के नाते स्वीकार करते हैं,[1] किन्तु बहुत समय तक वे इस आदेश के आघात से अप्रभावित नहीं रहते। जब माँ कौसल्या से मिलने के उपरात वे सीता के पास पहुँचते हैं तो सीता उनको 'शोक संतप्त' देखकर चकित हो जाती हैं। राम का मुख विवर्ण हो जाता है और शरीर से पसीना निकलने लगता है—

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च त पतिम् ।
अपश्यच्छोकसतप्त चिंताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥
ता दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।
त शोक राघव सोढु ततो विवृतता गत. ॥
विवर्णवदन दृष्ट्वा त प्रस्विन्नममर्षणम् ।
आह दु खाभिसंतप्ता किमिदानीमिद प्रभो ॥[2]

इससे पूर्व जब वे माँ कौसल्या के पास पहुँचते हैं तो वहाँ भी वे दीर्घ निश्वास भरते हुए दिखलाई देते है[3] और अपने वनवास का समाचार देते समय माँ से कहते हैं कि 'देवि ! तुम्हारे लिये महान् भय (सकट) उपस्थित हो गया है।' इस प्रकार राम निर्वासन को माँ के लिये भयकारक या सकटप्रद रूप मे ग्रहण करते हैं।[4] लक्ष्मण और कौसल्या के निर्वासनादेशविरोध को वे धर्म की प्रेरणा से अस्वीकार कर देते हैं, किन्तु वन मे पहुँचकर पिता के इस अन्यायपूर्ण आचरण के प्रति असतोष व्यक्त करते हैं—

को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदाया कृते त्यजेत ।
छन्दानुवर्तिन पुत्र तातो मामिव लक्ष्मण ॥[5]

१—न ह्यतो धर्मचरण किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ —वाल्मीकि रामायण, २/१९/२२

२—वाल्मीकि रामायण, २/२६/६-८

३—वही, २ २०/८

४—देवि नून जानीषे महद् भयमुपस्थितम् ।
इद तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ॥ —वही, २/२०/२७

५—वाल्मीकि रामायण, २।५३।१०

इसके विपरीत मानस में राम निर्वासन-आदेश को बड़े उत्साह के साथ ग्रहण करते हैं। धर्म की प्रेरणा वहाँ विवशतामूलक न होकर अन्तःस्फूर्त है।[1] इसलिये माँ के समक्ष निर्वासन-आदेश को वे राज्य-प्राप्ति विषयक आदेश के रूप मे ही प्रस्तुत करते हैं—

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड काजू।
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मगल कानन जाना ॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनदु अम्ब अनुग्रह तोरें ॥[2]

वाल्मीकि के राम कहते हैं—'महद् भयमुपस्थितम्' और मानस के राम कहते है—'जनि सनेह बस डरपसि भोरें।' एक दम चित्र उलट गया है।

वाल्मीकि ने राम की मानवसुलभ दुर्बलताओ को यथार्थ रूप मे उपस्थित किया है। इसके साथ ही जिस वैमनस्यपूर्ण दशरथ-परिवार का चित्र वाल्मीकि रामायण मे अकित है उसके अनुसार राम की सहज प्रतिक्रिया वैसी ही हो सकती है जैसी वाल्मीकि ने चित्रित की है। इसके विपरीत मानम के राम देवकार्य से स्वेच्छापूर्वक वन को जाते हैं—'जहँ सब भाँति मोर बड काजू।' इसलिये उनके दुखी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी बात यह है कि मानस म चित्रित सौहार्दपूर्ण दशरथ-परिवार मे राम इतने सौहार्द के साथ निर्वासन-आदेश अंगीकार करें—यह कम से कम अस्वाभाविक या असभव नही है।

कौसल्या की प्रतिक्रिया

परिवेशगत भिन्नता और यथार्थपरक तथा आदर्शपरक दृष्टि भेद के परिणाम-स्वरूप दोनों कवियो ने कौसल्या की प्रतिक्रिया भी भिन्न-भिन्न रूपो म चित्रित की है। वाल्मीकि की कौसल्या अपने पूर्वानुभवों के परिणामस्वरूप राम के निर्वासन को अपने तिरस्कार के चरम रूप मे देखती है[3] और इसलिये वह पिता की आज्ञा की *समता मे माँ की आज्ञा को रखती हुई राम को पिता के आदेश पालन से विरत करने* की चेष्टा भी करती है—

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं गुरु स्वधर्मेण सुहृत्तया च।
न त्वानुजानामि न मां विहाय सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम् ॥[4]

---

[1] —नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान॥ —रामचरितमानस, २/५१

[2] —मानस, २।५२/३ ४

[3] —वाल्मीकि रामायण, २/२०/३८ ४६

[4] —वही, २/२१/५२

पिता की आज्ञा के पालन से राम को विरत न होते देखकर वे स्वय उसके साथ जाने की इच्छा प्रकट करती हैं।[1]

मानसकार ने इस चित्र को भी उलट दिया है। मानस की कौसल्या तर्क तो वाल्मीकि की कौसल्या के समान देती हैं, लेकिन उससे भिन्न निष्कर्ष निकालती है। वे पिता की आज्ञा की तुलना मे माँ की आज्ञा बडी मानती हैं और राम के निर्वासन के मूल मे पिता और माता (कैकेयी) दोनो की आज्ञा होने के कारण राम को वन-गमन के लिये उत्साहित करती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बडि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥[2]

वाल्मीकि की कौसल्या ने राम के साथ वन जाने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु तुलसी की कौसल्या स्वय ही इस इच्छा का निराकरण कर देती हैं—

जौं सुत कहौं सग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ सदेहू॥[3]

इस प्रकार मानसकार ने वाल्मीकि द्वारा अंकित मानवीय दुर्बलता के चित्र को आदर्श मे बदल दिया है, लेकिन उसकी स्वाभाविकता कम नहीं होने दी है। इस चित्र को स्वाभाविक बनाये रखने के लिये मानसकार ने कौसल्या के हृदय मे वात्सल्य और उच्च आदर्श का द्वद्व उपस्थित किया है जिसमे अतत आदर्श की विजय होती है—

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि गति बाम सदा सब काहू॥
धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदर केरी॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बधु बिरोधू॥
कहउँ जान बन तौ बडि हानी। सकट सोच बिबस भई रानी॥
बहुरि समुझि तिय धरम सयानी। राम भरत दोउ सुत सम जानी॥
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥
तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥[4]

लक्ष्मण की प्रतिक्रिया

वाल्मीकि रामायण और मानस मे लक्ष्मण की प्रतिक्रियाए परस्पर विलोम तो नहीं हैं, फिर भी उनमे भिन्नता अवश्य है। वाल्मीकि रामायण म लक्ष्मण अपने

१—वाल्मीकि रामायण, २/२४/९
२—मानस, २/५५/१
३—वही, २/५५/३
४—वही, २/५४/१ ४

अर्थपरक जीवन मूल्यों[1] एवं राम के साथ अपने तादात्म्य[2] के कारण राम के धर्मपरक जीवन-मूल्यों का विरोध करते हुए उनसे अर्थ को महत्त्व देने का अनुरोध करते हैं[3] और इसलिये स्पष्ट कहते हैं कि राम को पिता की आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिये।[4] वे पिता को बलपूर्वक बंदी बनाकर राम को सिंहासन पर बिठाना चाहते हैं[5] और उन्हें सब प्रकार से रक्षा का आश्वासन देते हैं।[6] वे राम के भाग्यवाद का भी विरोध करते हैं।[7]

लक्ष्मण का इस प्रकार का अर्थपरक एवं विद्रोही रूप मानसकार को अभीष्ट नहीं था। इसलिये उसने यहाँ लक्ष्मण की प्रतिक्रिया को अव्यक्त रखा है, किन्तु राम को वन पहुँचाकर सुमन्त्र जब लौटने लगता है तब उसने इस ओर एक छोटा-सा संकेत किया है और तुरंत उस पर पर्दा भी डाल दिया है—

पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी ॥[8]

भरत के चित्रकूट पहुँचने पर एक बार पुनः मानसकार ने इस सम्बन्ध मे लक्ष्मण के रोष की ओर संकेत किया है, किन्तु वहाँ भी उनका रोष सुव्यक्त नहीं हो सका है।[9] इस प्रकार 'मानस' मे राम निर्वासन के प्रति लक्ष्मण की प्रतिक्रिया रोषपूर्ण तो प्रतीत होती है, किन्तु उसका कोई स्पष्ट चित्र हमारे समक्ष नहीं आता।

दशरथ की प्राणांतक व्यथा और उनके प्रति कौसल्या का व्यवहार

राम को वन मे छोड़ कर सुमन्त्र के अयोध्या लौट आने पर राजा दशरथ की मर्मान्तक पीड़ा का वर्णन दोनों काव्यों मे किया गया है। वाल्मीकि रामायण मे राजा के पुत्र वियोग के साथ पछताने का चित्रण भी किया गया है,[10] किन्तु मानसकार ने केवल पुत्र वियोग को ही अपने काव्य मे स्थान दिया है। इसके साथ ही वाल्मीकि ने व्यथित राजा दशरथ के प्रति कौसल्या के कठोरतापूर्ण उपालम्भ का जो वर्णन

१—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० १०४

२—V S Srinivasa Sastri, *Lectures on the Ramayan*, p 16 17

३—येनैवमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते।
सोऽपि धर्मो मम द्वेष्यो यत्प्रसंगाद् विमुह्यसि ॥ —२/२३ ११

४—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड सर्ग २३

५—वही, २/२१/१२

६—वही, २/२३/२८

७—वही २/२३/१६ २०

८—मानस २/९५/२

९—प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू ॥ —मानस, २/२२९/१

१०—वाल्मीकि रामायण, २/५९/१८ १९

किया है उसे भी मानस के कवि ने छोड़ दिया है। वाल्मीकि रामायण में सुमंत्र के लौटने पर कौसल्या के हृदय की भीषण व्यथा का सशक्त चित्रण किया गया है। राम के न लौटने का समाचार सुनते ही वे ऐसे काँपने लगती हैं मानो उनके शरीर में भूत का आवेश हो और अचेत सी होकर पृथ्वी पर गिर जाती हैं—

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुन ।
धरण्यां गतसत्त्वेव कौसल्या सूतमब्रवीत् ॥
नय मां यत्र काकुत्स्थ, सीता यत्र च लक्ष्मणः ।
तान् विना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे ह्यहम् ॥[1]

सुमंत्र द्वारा धैर्य बँधाये जाने पर भी उन्हें शांति नहीं मिलती और वे राम के निर्वासन के लिये राजा दशरथ की भर्त्सना करती हुई यहाँ तक कह जाती हैं कि जैसे मत्स्य का बच्चा उसके पिता द्वारा खा लिया जाता है वैसे आपके द्वारा ही राम मारे गये (नष्ट हो गये)—

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।
स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥[2]

उपालम्भ से राजा दशरथ की व्यथा और भी बढ़ जाती है और वे हाथ जोड़कर कौसल्या से क्षमा माँगने लगते हैं[3] तब कौसल्या के मन में इस आक्रोश के प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है।

वाल्मीकि ने पुत्र वियोग की व्यथा के कारण कौसल्या के हृदय में उत्पन्न जिस भावावेश का चित्रण किया है उसकी सहज स्वाभाविकता में कवि की यथार्थदर्शिनी दृष्टि का उन्मेष है, किन्तु मानसकार ने आरम्भ से ही कौसल्या के चरित्र की धुरी बदल दी है, अतएव मानस में इस प्रकार की प्रतिक्रिया का समावेश किया जाता तो वह मानस की परम धैर्यवती कौसल्या के समग्र चरित्र की सगति में नहीं होता। इसलिये मानस में उनका चरित्र जिस रूप में अंकित है उसके अनुसार ही इस प्रसंग में कौसल्या राजा दशरथ को धैर्य बँधाते हुए दिखलाई गई है—

उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी ॥
नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू ॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू ॥
धीरिज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू ॥[3]

१—वाल्मीकि रामायण, २/६०/१२
२—वही, २/६१/२२
३—मानस, २/१५३/२-४

भरत की प्रतिक्रिया

भरत की वेदना की अभिव्यक्ति मे भी तुलसीदास ने वाल्मीकि से सूक्ष्म भेद रखा है। वाल्मीकि रामायण मे भरत राम-निर्वासन का समाचार सुनकर एक साथ पितृ-वियोग और भ्रातृ-वियोग की पीडा से व्याकुल हो जाते हैं। वे अपनी माँ को धिक्कारते हुए कहते हैं—

> कि नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः।
> विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥
> दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः ।
> राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा राम च तापसम् ॥[1]

रामायण मे भरत को यह दुःखद समाचार थोडा-थोडा करके सुनाया जाता है। पहले पितृ-मरण का समाचार दिया जाता है, तदुपरात राम की अनुपस्थिति का और उसके बाद उनके निर्वासन तथा अन्ततः निर्वासन के कारण का पता उन्हे चलता है,[2] फिर भी उनकी वेदना पितृ वियोग और भ्रातृ-निर्वासन के प्रति समवेत प्रतिक्रिया के रूप मे व्यक्त हुई है।

मानस मे पिता की मृत्यु और भ्रातृ-निर्वासन के समाचार के मध्य वैसा व्यवधान नहीं है, फिर भी भरत के मन मे राम के निर्वासन के प्रति कही अधिक वेदना दिखलाई गई है।

> भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बनु गौनु ।
> हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु ॥[3]

निश्चय ही वाल्मीकि रामायण मे भरत की प्रतिक्रिया अधिक स्वाभाविक है, किन्तु मानस मे इससे पूर्व जिस भ्रातृ-प्रेम का संकेत किया गया है[4] और इसके बाद भाइयो का जो प्रेम अंकित है[5] उसे देखते हुए मानसकार द्वारा भरत के शोक की अभिव्यक्ति इस रूप मे स्वाभाविक प्रतीत होती है। वाल्मीकि रामायण मे भ्रातृ प्रेम का वैसा व्यापक चित्र नही मिलता जैसा मानस मे मिलता है। अतएव मानस मे राम-निर्वासन के समाचार से पितृमरण का शोक दब जाना अस्वाभाविक प्रतीत नही होता।

माँ के प्रति भरत का आक्रोश दोनों काव्यो मे स्वाभाविक रूप मे व्यक्त किया गया है क्योंकि वही इस प्रकांड का हेतु बनी और उसने ही भरत के लिए राज्य

१—वाल्मीकि रामायण, २/७३/२-३
२—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड सर्ग ७२
३—मानस, २/१६०
४—वही, १/२०३/२, २/९/३-४ तथा १/१६८/१
५—मानस, २/२९५/३—२६०

माँगकर भरत का सम्बन्ध भी इस अवांछनीय प्रसंग से जोड़ दिया। वाल्मीकि रामायण[1] और मानस[2] दोनो मे भरत की मूल्य-भ्रंश-चेतना जनित व्याकुलता और अपयश चिन्ता व्यक्त हुई है, किन्तु मानसकार बीच बीच मे भरत के भ्रातृ-प्रेम की झाँकियाँ भी प्रस्तुत करता रहा है जिससे मानस मे भरत की वेदना मे भ्रातृ-वियोग का तत्त्व भी निरन्तर अन्तर्भूत रहा है। राम सखा गुहराज के प्रति भरत की आत्मीयता[3] और जहाँ राम और सीता ने विश्राम किया था उस स्थान को देखकर उनका भाव विभोर हो जाना[4] ऐसी छोटी-छोटी घटनाएँ हैं जो भरत के आचरण मे अपयश चिंता और मूल्यभ्रंश की वेदना से बढ़कर भ्रातृ प्रेम को स्थान देती हैं। फिर भी दोनो काव्यों मे भरत की शुद्धात करणजन्य अपयश-चिंता को प्रचुर महत्त्व मिला है। रामयण मे वे कैकेयी को डाटते हुए स्पष्ट शब्दो मे अपनी यह चिंता व्यक्त करते हैं—

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥[5]

और इसलिये वे राम को राज्य लौटाकर अपयश-प्रक्षालन का निश्चय भी तुरन्त कर लेते हैं—

अहमप्यवनीं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासित कल्मष ॥[6]

भरत स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं कि राम के लौट आने से उनकी अंतरात्मा स्वस्थ हो जाएगी—

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥[7]

वाल्मीकि रामायण मे राम, लक्ष्मण और कौसल्या को भरत पर शंका हुई भी थी[8] और इसलिये लोकमन को अपने अनुकूल बनाने के लिये भरत की यह चिंता

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, सर्ग ७३

[2] —मानस, २/६०१/४—१६१।१

[3] —करत दडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहु लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ ॥ ——वही, २/१९३

[4] —मानस, २/१९७/३ ४

[5] —वाल्मीकि रामायण, २।७४।६

[6] —वही, २।७४।३४

[7] —वही, २।७३।२७

[8] —द्रष्टव्य - डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० ६९

बहुत स्वाभाविक है। यदि भरत के सम्बध मे ऐसा प्रवाद न भी होता तो भी भरत की यह चिंता स्वाभाविक ही मानी जाती क्योंकि व्यक्ति जब समाज की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाता तब तो उसे वेदना होती ही है, किन्तु जब वह स्वय अपने आदर्शों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तब भी वह व्यथित होता है।[1] भरत के हित में ही कैकेयी ने राम का निर्वासन माँगा था - इसलिये वे अपनी दृष्टि में गिर गये थे। अपनी दृष्टि मे अपना मान खो बैठने का भय मनुष्य को सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है।[2]

मानस मे भरत के सम्बध मे प्रजा का एक वर्ग सदेह अवश्य करता है, किन्तु वहीं दूसरा वर्ग तुरन्त इस शका का निराकरण कर देता है।[3] यहाँ यह चिंता प्रधानत स्वय भरत के मन की उपज है - उनके शुद्धात करण की अभिव्यक्ति है। इसलिए वही कभी सोचते हैं—

कुल कलंक जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रिय जन द्रोही ॥[4]

तो कभी सारे अनर्थ का हेतु अपने को मानकर ग्लानि प्रकट करते हैं–

पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥
धिग मोहि भयउ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी ॥[5]

उनकी चिंता मूलतः अपनी ही कल्पना मे अपनी प्रतिष्ठा गिर जाने से उत्पन्न होती दिखलाई देती है, लेकिन उसके साथ लोकमत की चेतना भी बराबर बनी रहती है—

परिहरि राम सीय जग माहीं। कोउ न कहहि मोर मत नाहीं ॥[6]

इसलिये वे कौसल्या के समक्ष जाकर शपथपूर्वक यह निवेदन करते हैं कि कैकेयी के षड्यन्त्र मे उनकी सम्मति नहीं थी। वाल्मीकि रामायण मे जब वे कौसल्या से मिलने पहुँचते हैं तो उनका उपालम्भ सुनकर वे शपथपूर्वक अपनी निर्दोषता निवेदित करते हैं[7] लेकिन मानस मे कौसल्या की ओर से उपालम्भ न मिलने पर भी वे उसी प्रकार शपथें खाते दिखलाई देते हैं।[8] इस अन्तर का कारण यह है कि मानस

---

[1]—G. Murphy, *Personality*, *p. 529*

[2]—*Ibid p. 537*

[3]—एक भरत कर सम्मत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं ॥
कान मूदि कर रद गहि जीहा। एक कहहि यह बात अलीहा ॥—मानस,२/४७/३-४।

[4]—वही, २।१६३।३।

[5]—वही २।१६३।४।

[6]—वही, २।१८१।२।

[7]—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड सर्ग ७५।

[8]—मानस २।१६६।३-१६७/४।

के भरत अपयश की आशंका-मात्र से चिंतित थे। इसीलिये राम से मिलने जाते समय वे उसी प्रकार तर्क-वितर्क करते हुए चलते हैं। जब माँ की करतूत का विचार आता है तो राम की दृष्टि मे घृणित समझ लिये जाने की चिंता होती है, लेकिन जैसे ही राम की प्रकृति का भरोसा होता है उनका मन स्वस्थ हो जाता है और वे उत्साहपूर्वक आगे बढने लगते है—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
राम लखन सिय सुनि मम नाऊ। उठि जनि अनत जाहि तजि ठाऊँ॥

मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहि सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहि समुझि आपनी ओर॥[1]

× × ×

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी: जल प्रवाह जल अलि गति जैसी॥[2]

चित्रकूट पहुँचने पर राम के द्वारा निर्दोष घोषित कर दिये जाने पर भरत की उक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत की वेदना स्वकल्पित लांछन से उत्पन्न हुई थी, उसका कोई वस्तुगत आधार नही था—

अपडर डरेउँ न सोच समूलें। रबिहि न दोषु देव दिसि भूलें॥[3]

× × ×

लखि सब बिधि गुरु स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभ नहि मन संदेहू॥[4]

वाल्मीकि रामायण मे प्रवाद भरत के मन की कल्पना मात्र नहीं है, उसका वस्तुगत आधार भी है और यदि भरत ने चित्रकूट पहुँचकर राम को लौटाने का प्रयत्न नहीं किया होता तो बहुत संभव है कि कई लोगो के मन मे उनके प्रति संदेह बना रहता। इसके विपरीत मानस में लोकप्रवाद का स्वर बहुत ही क्षीण है और इसीलिये भरत की अपयश-चिंता मुख्यतया स्वकल्पित रूप मे दिखलाई देती है।

चित्रकूट-प्रकरण

भरत के चित्रकूट पहुँचने पर उनके मंतव्य के सम्बध मे शंका होने से लक्ष्मण के क्रोध का चित्रण दोनों काव्यों मे है। दोनों काव्यों मे इस क्रोध का कारण लक्ष्मण का भ्रांत प्रत्यक्षीकरण है। इस प्रसग में राम को दोनों में से किसी

१—मानस, २।२३२।४।
२—वही, २।२३३।३-४।
३—वही, २।२६६।२।
४—वही, २।२६७।१।

काव्य मे भरत के इरादों के सम्बध मे शका नही होती। मानस मे तो भरत के आगमन का समाचार सुनते ही राम पितृ वचन और बधु-सकोच की द्विधा से ग्रस्त हो जाते हैं—

सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितु बच उत बधु संकोचू।।
भरत सुभाउ समुझि मन माहीं। प्रभु चित हितथिति पावत नाहीं।।
समाधान तब भा यह जाने। भरत कहे महुँ साधु सयाने।।[1]

फिर भी लक्ष्मण के क्रुद्ध होने पर आकाशवाणी द्वारा भरत की नेकनीयती की पुष्टि कर देने तक राम का मौन रहना भरत के प्रति उनके अटूट विश्वास को सगति मे नही है। वाल्मीकि ने यहाँ ऐसी असावधानी नहीं की है और राम के द्वारा तुरन्त लक्ष्मण के क्रोध की वर्जना दिखलाई है।

चित्रकूट मे मुख्य समस्या राम को अयोध्या लौटने के लिए राजी करने की है। वाल्मीकि रामायण मे स्वय भरत कम से कम पाँच बार राम से लौटने की प्रार्थना करते हैं। सर्वप्रथम वे अनुनयपूर्वक राम से लौटने का प्रस्ताव सामान्य रूप मे करते हैं[2] फिर वे तर्क देते हैं,[3] उसके बाद नीति के द्वारा राम को समझाने का प्रयत्न करते हैं,[4] तदुपरान्त वे धरना देकर राम पर दबाव डालते हैं[5] और अन्ततः राम के बदले स्वयं वन में रहने की इच्छा प्रकट करते हुए उनसे अयोध्या लौट जाने का अनुरोध करते हैं।[6] इस प्रकार वे राम को अयोध्या लौटने को राजी करने के लिए पूरा प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त जाबाली अपने नास्तिक दर्शन के द्वारा[7] और वसिष्ठ इक्ष्वाकु वंश के परम्परागत नियम का उल्लेख करते हुए[8] तथा आचार्य के नाते राम को पितृ-आज्ञा के धर्मबंधन से मुक्त करते हुए[9] लौट चलने को कहते हैं। लेकिन राम धर्म-दृष्टि से पिता की आज्ञा को प्राधान्य देते हुए अयोध्या लौट चलने के प्रस्ताव का दृढतापूर्वक प्रतिरोध करते हैं और अन्तत पादुका-दान के लिए भरत का प्रस्ताव स्वीकार करते हैं। राम का यह आचरण उनके धर्म-प्रधान व्यक्तित्व के प्रकाश में संगत प्रतीत होता है।

१—मानस, २/२२६/३
२—वाल्मीकि रामायण, २।१०१।८ १३
३—वही, २।१०५।४ १०
४—वही, २।१०६।१३ २२
५—वही ,२।१११।१३ १४
६—वही, २।१११।२५-२६
७—वही, अयोध्याकाड सर्ग १०८
८—वही, सर्ग ११०
९—वही, २।११०।३५ ३७, १११।४-७

मानसकार ने यहाँ भी चित्र बदल दिया है। उसने इस प्रसंग में दोनों पक्षों से आग्रह को निकालकर प्रतिपक्षानुरंजन का समावेश किया है। राम यहाँ सहृदयता के समक्ष धर्म के जड़ बन्धन की चिंता नहीं करते और इसलिये पिता के आदेश की उपेक्षा करके भी भरत का मन रखने को तैयार हो जाते हैं-

राखेउ सत्य राय मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मोहि सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥
ता पर गुरु मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥[1]

इतने बड़े दायित्व को भरत का विनीत व्यक्तित्व स्वीकार नहीं करता और इसलिये वे अपनी ओर से कई विकल्प प्रस्तुत करके अंतिम निर्णय राम पर छोड़ते हैं-

अब करुनाकर कीजिअ सोई। जनहित प्रभु चित छोभ न होई॥
जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥
स्वारथ नाथ फिरे सबही का। कीएँ रजाइ कोटि बिधि नीका॥
यह स्वारथ परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू॥
देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥
तिलक समाजु साजि सब आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मन माना॥
सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ॥
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥
नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥[2]

अंत तक भरत अपना यही रुख रखते हैं। जब जब उनसे पूछा जाता है तब-तब वे राम के आदेश को ही सर्वोपरि मानते हैं और स्वयं इससे संतुष्ट हो जाते हैं कि राम के मन में उनके प्रति कोई संदेह नहीं है। वे राम के उस स्नेह से अभिभूत हो जाते हैं जिसके कारण राम ने धर्म बन्धन की चिंता त्याग कर भरत को ही निर्णय करने का अधिकार दे दिया—

राखा मोर दुलार गोसाईं। अपनें सील सुभायँ भलाईं॥[3]

वाल्मीकि रामायण के सर्वथा विपरीत राम भरत को राजी रखने को तैयार हैं और भरत राम की इच्छा (या उनके मूल्यों) के विरुद्ध उन्हें लौटाने के लिये वन में आकर लज्जित हैं—

---

[1] मानस, २।२६ ३ ४
[2] वही, २।२६७/१—२६८।१
[3] मानस, २।२९९।३

सोक सनेहँ कि बाल सुभाएँ । आयउँ लाइ रजायसु बाएँ ॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा । सबहि भाति भल मानेउ मोरा ॥ [1]

मानस मे आरंभ से ही जो भ्रातृ-स्नेह चित्रित हुआ है, चित्रकूट प्रकरण उसकी सहज परिणति है।

मानस के चित्रकूट-प्रकरण मे न तो जाबाली का नास्तिक दर्शन आता है न वसिष्ठ ही इक्ष्वाकु वंश के परम्परागत नियम के प्रकाश मे राम को कोई आदेश देते हैं। इसके स्थान पर एक बार वसिष्ठ द्वारा भरत की परीक्षा के प्रयत्न की कथा अवश्य आई है जिनमे भरत की नीतिनिपुणता के समक्ष वसिष्ठ की बुद्धि बहुत छोटी प्रतीत होने लगती है—

भरत महामहिमा जल रासी । मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी ॥
गा चह पार जतनु हियँ हेरा । पावति नाव न बोहित बेरा ॥[2]

दिशांतरण

अरण्यकाण्ड मे कथा एक नई दिशा मे मुडती है। अरण्डकाण्ड से पूर्व और उसके आगे की कथा मे सीधा सम्बन्ध-सूत्र दिखलाई नही देता। वाल्मीकि रामयण मे तो यह सूत्र बहुत ही प्रच्छन्न और गूढ है। सस्कृत नाटको में आरम्भ से ही सीता के प्रति रावण की आसक्ति दिखलाकर पूर्ववर्ती और परवर्ती कथा मे सम्बन्ध-सूत्र जोडा गया है।[3] मानसकार ने 'रावण बाण छुआ नही चापा' लिखकर धनुष-यज्ञ मे रावण की उपस्थिति का संकेत करते हुए भी अरण्यकाण्ड से पूर्व सीता के प्रति रावण की कोई आसक्ति नहीं दिखलाई है, फिर भी उसने अध्यात्म रामायण का अनुसरण करते हुए अवतार प्रयोजन के माध्यम से पूर्ववर्ती और परवर्ती कथा का सम्बन्ध भली भाँति जोड दिया है। वाल्मीकि रामायण मे यह सूत्र जितना प्रच्छन्न है उतना ही अधिक यथार्थपरक एवं मनोविज्ञान-सम्मत है। राम ने धर्म के आग्रह से निर्वासन स्वीकार कर लिया था, किन्तु उन्हें भीतर ही भीतर इस अन्यायपूर्ण आदेश के प्रति खीझ हुई थी और उनके भीतर आक्रोश उमड रहा था।[4] इस आक्रोश के लिये सम्यक् आलम्बन की आवश्यकता थी। ऋषियो से राक्षसों के अत्याचार का वर्णन सुनते ही राम के आक्रोश को समुचित आलम्बन मिल जाता है। उनकी खीझ राक्षसो के प्रति अमर्ष के रूप मे व्यक्त हो जाती है। वे तुरन्त अपने

१—वही, २।२९९।१
२—वही, २।२५६।१-२
३—प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक इस सम्बंध में उल्लेखनीय है।
४—द्रष्टव्य—वाल्मीकि रामायण, २।५४।१०-१२

निर्वासन की सार्थकता का सम्बन्ध राक्षस-दमन से जोड़ लेते हैं।[1] वाल्मीकि रामायण मे राम द्वारा निर्वासन की सार्थकता कई प्रकार से खोजी गई है,[2] और राक्षसवध भी सार्थकता-शोध के उन्ही रूपो मे से एक है। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण मे अन्तर्मुख आक्रोश के बहिर्मुखीकरण के रूप मे दोनो कथा-भागो का सम्बन्ध जोडा गया है।[3]

मानस मे अवतार-प्रयोजन से ही यह सम्बन्ध सुसम्बद्ध है। वहाँ राम जन्म से पूर्व रावण के अत्याचारो की कथा आती है जिसके कारण राम को अवतार लेना पडता है। यह कथा वाल्मीकि रामायण मे भी है,[4] लेकिन प्रक्षिप्त जान पड़ती है क्योकि एक बार अवतार प्रकरण को स्थान देकर आगे उसकी चर्चा (राक्षस दमन के प्रयोजन के सम्बन्धसे) नही की गई है। जबकि मानसकार ने राम के निर्वासन मे भी उक्त प्रयोजन रखा है। इसके साथ ही भरत के चित्रकूट-गमन के अवसर पर देवताओ की धुकधुकी का चित्रण कर मानसकार ने राम-कथा को निरंतर देवकार्य से जोड़ रखा है और यह देवकार्य मानस की रामकथा की वह अंतर्धारा है जो उसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को मिलाये रखती है लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि मानस मे कथा के इस देवता पक्ष को जितना अधिक महत्त्व दिया गया है उतना ही उसका मानवीय पक्ष आहत हुआ है। मानस-कथा मे देवकार्य मे अन्विति तो आई है किन्तु विश्वसनीयता दुर्बल पड गई है जब कि वाल्मीकि रामायण मे अन्विति तो अवश्य दुर्बल है, किन्तु मानवीय सहजता अत्यन्त सूक्ष्म एवं गूढ रूप मे बनी रही है।

संघर्ष का प्रारम्भ

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो मेसंघर्ष आरम्भ होने से पूर्व राम का ऋषियो की रक्षा और राक्षसो के दमन के लिये कृतसकल्प बतलाया गया है। वाल्मीकि रामायण मे राम ऋषियो की प्रार्थना पर[5] यह सकल्प करते हैं जबकि मानस मे उनका लगभग प्रत्येक कार्य इसी प्रयोजन से गर्भित है। इसलिए मानस मे ऋषियों के अस्थि-समूह को देखते ही वे राक्षस वध की प्रतिज्ञा कर लेते हैं—

> निसिचरहीन करउँ महि कर उठाइ पन कीन्ह।
> सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥[6]

---

[1] —द्रष्टव्य—वाल्मीकि रामायण, ३।६।२३

[2] —वही, २।९५।१२-१८

[3] —द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० ३६ ३८

[4] —वाल्मीकि रामायण, १।१५।४—१६।१-८

[5] —वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग ६

[6] —मानस, ३।९

राम के इस संकल्प की पूर्ति के लिये अवसर भी शीघ्र ही मिल जाता है। यौवनावेग-पीडित शूर्पणखा के प्रणय-प्रस्ताव और असफल होने पर सीता को खा जानें की धमकी से राम उत्तेजित हो जाते हैं और लक्ष्मण को उसे विरूप करने का आदेश देते हैं। यह प्रसंग दोनों काव्यों में लगभग एक जैसा है और दोनो मे इस प्रसंग मे शूर्पणखा के कामातिरेक के साथ राम की पत्नि-निष्ठा की अभिव्यक्ति हुई है जो सहज मानवीय धरातल पर टिकी हुई है।

शूर्पणखा विरूपीकरण के उपरान्त दोनो काव्यों की कथा की मानवीय भूमि मे बड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होने लगता है। वाल्मीकि ने अपनी मानवीय दृष्टि का निर्वाह करते हुए राम के मानवीय पराक्रम से ही खर-दूषण के चौदह राक्षसों का वध करवाया है जब कि मानस मे कवि ने इस प्रसग मे राम के ईश्वरत्व को सामने लाकर मानवीय आधार की अवहेलना की है। खर-दूषण और उनके साथी राक्षस, जो राम से लड़ने आते हैं, उनके रूप को देखते ही मुग्ध हो जाते हैं और एक बार तो उनके शत्रु-भाव का तिरोभाव ही हो जाता है—

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी।
सचिव बोलि बोले खर दूषन। यह कोउ नृप बालक नर भूषन॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते।
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहीं पुरुष अनूपा॥[1]

कथा की मनोभूमिमें इस प्रकार के व्यतिक्रम से मानस के काव्य-सौन्दर्य की क्षति हुई है जब कि वाल्मीकि के इस प्रसग में काव्य-सौंदर्य अक्षुण्ण बना रहा है।

सीता-हरण की प्रेरणा

खर दूषण निपात के उपरांत रावण के हृदय में सीता हरण की प्रेरणा और राम के प्रति वैर-भाव का उदय भी वाल्मीकि रामायण और मानस में भिन्न-भिन्न रूप में चित्रित किया गया है। इसके साथ ही दोनों की मानवीय भूमि और विश्वसनीयता में बड़ा अन्तर है।

वाल्मीकि रामायण मे रावण को शूर्पणखा विरूपीकरण और राम के पराक्रम की सूचना पहले अकम्पन नामक राक्षस से मिलती है और उस समाचार से वह एकाएक क्रुद्ध हो जाता है, किन्तु उसके समझाने पर राम से सीधा युद्ध न कर उनकी पत्नी को चुरा लाने का विचार करता है और सहायता के लिए मारीच नामक राक्षस के पास जाता है, किन्तु मारीच द्वारा समझाए जाने पर वह चुपचाप लौट आता है। तदुपरान्त शूर्पणखा रावण के पास पहुँच कर अपने अपमान की चर्चा

---

[1] —मानस, ३/१८/१३

करती हुई रावण को उपालम्भ देकर उसकी आत्म- प्रतिष्ठा की भावना को उद्बुद्ध करती हुई उसके मन मे सीता के प्रति लोभ जगाती है—

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना।
धर्मपत्नी प्रिया नित्यं भर्तुः प्रियहिते रता॥
सा सुकेशी सुनासोरु. सुरूपा च यशस्विनी।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा॥
तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनखी शुभा।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा॥
नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी॥
तथारूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले॥
यस्य सीता भवेद् भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत्।
अभिजीवेत स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरंदरात्॥
स सुशीला वपुश्लाध्या रूपेणाप्रतिमा भुवि।
तवानुरूपा भार्या सा त्वं च तस्याः पतिर्वर.।
तां तु विस्तीर्णजघना पीनोत्तुङ्गपयोधराम्।
भार्यार्थे तु तवानेतुमुद्यताहं वराननाम्॥
विरूपितास्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज॥[1]

सीता के इस उत्तेजक सौन्दर्य-वर्णन को सुनकर तथा शूर्पणखा के विरूपीकरण के पीछे सीता-प्राप्ति की सूचना पाकर (कुटिल शूर्पणखा ने रावण को उकसाने के लिए झूठ बोला था) वह अन्तिम रूप से सीताहरण के लिए निकल पड़ता है और मारीच के लाख समझाने पर भी अपने उद्देश्य से विरत नहीं होता। बहुत ही स्वाभाविक रूप में वाल्मीकि ने यहाँ रावण की सीताहरण प्रेरणा को व्यक्त किया है।

मानसकार ने इस प्रसग म इतना आरोह-अवरोह नहीं रखा है। मानस मे शूर्पणखा ही रावण के पास पहुँचती है, अकम्पन नहीं। शूर्पणखा रावण के शासन-विषयक प्रमाद को धिक्कारती हुई उसे नीति का उपदेश देती है और तदुपरात उसका ध्यान राम की ओर ले जाती हुई उसे उनके विरुद्ध उकसाती है। इसी सदर्भ मे वह सीता के सौन्दर्य का चलता हुआ उल्लेख करती है,[2] किन्तु वह उल्लेख न तो वाल्मीकि के उल्लेख के समान उत्तेजक है न उसमे सीता को रावण की भार्या बनाने का ही कोई ऐसा उल्लेख है जो रावण को सीताहरण के लिये प्रेरित कर सके। रावण को

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ३/३४/१४-२२
[2] —मानस, ३।२१।६

सीता के सौन्दर्य-वर्णन से उत्तेजित भी नही दिखलाया गया है। उसके मन मे क्रोध का उदय खर-दूषण-त्रिसिरा-निधन का समाचार सुनकर होता है—

खर दूषन तिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता ॥[1]

और तब रावण जो सोचता है उसमे राम का ईश्वरत्व आ जाता है—

खर दूषन मोहि सम बलवता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता ॥
सुर रंजन भजन महि भारा। जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा ॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊ ॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मत्र दृढ एहा ॥
जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ॥[2]

इस प्रसग मे तुलसीदास ने रावण की यौन-प्रेरणा को दबाने का प्रयत्न किया है और उसके लिए रावण की उत्तेजना को उन्होने आत्मप्रतिष्ठा पर ही स्थानातरित नही किया है, अध्यात्मरामायण के प्रभाव से वे राम के प्रति रावण की भक्ति को बीच मे ले आये हैं जिससे मानस-कथा का मानवीय आधार डगमगा गया है।

सीता हरण

सीताहरण के प्रसग मे रामायण और मानस मे कोई तात्विक भेद नही है, फिर भी मानस मे सीता के 'मर्म-वचन' पर आवरण डाल देने से उसकी मानवीय सहजता की कुछ क्षति हुई है। मारीच के मुख से 'लक्ष्मण' की पुकार सुनकर सीता का व्याकुल होना और व्याकुल होकर लक्ष्मण को राम की सहायता के लिये कहना, उनको वहाँ से न जाते देखकर क्रुद्ध होना–यह सब वाल्मीकि रामायण मे प्रभावशाली ढग से अकित है, किन्तु मानस मे कवि ने केवल यह लिखकर सतोष कर लिया है—

मरम बचन तब सीता बोला। हरि प्रेरित लछमन मन डोला ॥[3]

इससे इस प्रसंग की मानसिक पीठिका उभर नही पाई है।

सीता-हरण के उपरान्त राम विलाप दोनों काव्यो मे प्रभावशाली ढग से चित्रित है। वाल्मीकि रामायण मे राम विरहोन्मत्त होकर सारे ससार के विनाश पर उतारू हो जाते हैं और बडी कठिनाई से लक्ष्मण उन्हें शात करते हैं। मानस के इस प्रसग मे यद्यपि एकाधिक बार यह याद दिला दिया जाता है कि राम केवल लीला के लिये विलाप कर रहे हैं,[4] फिर भी उनकी लीला इस प्रसग मे बराबर मानवीय धरातल पर बनी रही है। इसलिये कभी वे आत्मोपहास करते हैं—

१–मानस, ३/२१/६
२–वही, ३/२२/१-३
३–वही, ३/२७/३
४–वही, ३/२९/९ तथा ३/३६/१

हमहि देखि मृग निकर पराहीं । मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ।।
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए । कंचन मृग खोजन ये आए ।।
संग लाइ करिनीं करि लेहीं । मानहुँ मोहि सिखावनु देहीं ।।[1]

कभी नारी मात्र की भर्त्सना करते हैं—

राखिअ नारि जदपि उर माहीं । जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं ।।[2]

और कभी सीता के विभिन्न अंगों के उपमानों के प्रति खीझ प्रकट करते हैं—

खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ।
कुंदकली दाडिम दामिनी । कमल सरद ससि अहिभामिनी ।।
बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ।।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ।।[3]

मानसकार ने काव्य-सौन्दर्य के तकाजे से राम के विरह का यह सजीव वर्णन किया है, किन्तु राम को इस प्रकार विरहातुर और काम पीड़ित दिखलाना उसे रुचिकर नहीं लगा है, इसलिये राम के विरह वर्णन के तुरन्त बाद राम के मुख से बसंत वर्णन के व्याज से काम निन्दा करवाकर कवि ने संतुलन लाने का प्रयास किया है।

जटायु द्वारा सीता की रक्षा का प्रयत्न दोनों काव्यों में लगभग समान रूप से अंकित है, किन्तु सीताहरण के उपरान्त राम जटायु मिलन में अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में राम घायल जटायु को देखकर पहले तो उसे कोई राक्षस समझ लेते हैं और सोचते हैं कि इसीने सीता को खा लिया होगा, किन्तु इसके तुरन्त बाद उन्हें जटायु से यह सूचना मिल जाती है कि रावण सीता को चुराकर ले गया है। जटायु का प्राणांत हो जाने पर स्वयं राम उसका अंतिम संस्कार करते हैं। इस प्रकार इस प्रसंग में भी वाल्मीकि ने मानवीय धरातल का निर्वाह किया है जबकि मानसकार ने जटायु को राम भक्त बनाकर उसके मुख से राम की स्तुति करवाते हुए इस प्रसंग का उपयोग भक्ति के लिए किया है जिससे इस प्रसंग की मानवीय गति कुंठित हो गई है।

इसी प्रकार वास्तविक सीता के अग्नि-प्रवेश और माया सीता के अपहरण की कल्पना से मानसकथा उतनी विश्वसनीय (convincing) नहीं रह गई है जितनी वाल्मीकि की कथा। मानस कथा के मानवीय धरातल की इस क्षति का कारण बहुत अंशों में अध्यात्म रामायण का प्रभाव है जिसके कारण कवि बार बार कथा के लौकिक पक्ष की अवमानना करने लगता है।

१—मानस, ३।३६।३ ४
२—वही, ३/३६/५
३—वही, ३/२९/५ ७

सुग्रीव से भेंट

दोनो काव्यों मे इसी प्रकार का विभेद सुग्रीव से राम-लक्ष्मण की भेंट के प्रसंग मे भी बना रहा है। वाल्मीकि रामायण मे यह प्रसंग लौकिक धरातल पर राजनीतिक गठबंधन के रूप मे उपस्थित किया गया है जबकि मानसकार ने उसे भक्ति का बाना पहिनाकर उसके मानवीय पक्ष को दृष्टिपथ से ओझल-सा कर दिया है।

वाल्मीकि रामायण मे राम और सुग्रीव एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने के उपरान्त शीघ्र ही एक दूसरे से सहायता मांगते हैं। राम की ओर से लक्ष्मण सुग्रीव की सहायता चाहते हैं[1] और सुग्रीव की ओर से हनुमान राम लक्ष्मण से सुग्रीव की सहायता करने के लिए निवेदन करते हैं[2] इस प्रकार उनकी मैत्री परस्पर स्वार्थपूर्ति पर आधृत दिखलाई देती है।

इस प्रसंग की स्वाभाविकता एवं सजीवता मे इस बात का योग बहुत अंशो मे रहा है कि सुग्रीव अपनी व्यथा के उन कारणो का उल्लेख बार-बार करता है जिनसे राम भी व्यथित थे[3] सहानुभूति के माध्यम से वह राम के मन में अमर्ष उत्पन्न करना चाहता है राम की अपनी व्यथा से सम्बन्धित आक्रोश को वाली की ओर स्थानान्तरित कर उसका उपयोग अपने लिए करना चाहता है। इसलिये सुग्रीव बार-बार राम के समक्ष राज्य और पत्नी के अपहरण का उल्लेख करता है।

राम पर उसका अभीप्सित प्रभाव पड़ता हुआ भी दिखलाई देता है। राम सुग्रीव के दुख को अपने ही अनुमान से समझते हैं।[4] राम का यह कथन मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। मर्फी ने इसको स्वीकार किया है कि व्यक्ति दूसरो को अपनी स्थिति मे रखकर अच्छी तरह समझ सकता है।[5]

रामचरितमानस मे सहायता की याचना केवल सुग्रीव की ओर से की जाती है और बहुत शीघ्र ही हनुमान[6] और सुग्रीव[7] दोनो को राम के ब्रह्मत्व का भान कराकर उन्हे सखा के स्थान पर भक्त बना दिया जाता है। सुग्रीव तो एक बार विरक्तिवश वाली के प्रति शत्रु-भाव का त्याग भी कर देता है, किन्तु राम जब अपने

१—वाल्मीकि रामायण, ४/४/१७ २३

२—वही, ४/४/२६-२७

३—वही, ४/५/२१ २२, ४/७/६, ४/८/१७

४—वही, ४/१०/३५

५—G Murphy, *An Introduction to Psychology*, *p.* 560

६—मानस, ४/१/३/२-३

७—वही, ४/६/८-११

वचन की पूर्ति का आग्रह करते हैं तो वह वाली को युद्ध के लिए ललकारता है। इस प्रकार इस प्रसंग मे तुलसीदासजी ने भक्ति के लिए अपनी अन्तर्भेदी मानव-प्रकृति-मर्मज्ञता का बलि दे दी है। यों राम सुग्रीव के लिए 'सखा' शब्द का व्यवहार अवश्य करते हैं, किन्तु दोनों का परस्पर व्यवहार दो मित्रो के समान न होकर सेव्य-सेवक भाव से अनुग्रह और विनय पर प्रतिष्ठित है।

राम की धर्मपरायणता को वाली की चुनौती और अन्ततः आत्मसमर्पण

सुग्रीव की सहायतार्थ राम द्वारा छिपकर वाली का वध करने की कथा दोनो काव्यों मे लगभग एक-समान है, किन्तु आहत वाली द्वारा राम के धर्मात्मापन को चुनौती दिये जाने और राम द्वारा उसके प्रश्न का उत्तर दिये जाने के सम्बन्ध में दोनो काव्यों मे बहुत अन्तर है।

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनो मे वाली राम से यह प्रश्न करता है कि जब वह अन्य व्यक्ति के साथ युद्ध मे संलग्न था उस समय उस पर छिपकर आघात करना क्या धर्मविरुद्ध था ? रामायण मे वाली राम से यह प्रश्न बहुत कठोर शब्दो मे पूछता है—

न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं वेद्धुमर्हसि ।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव ॥
स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम् ।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥
सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम् ।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम् ॥
× × ×
त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः ।
राजवृत्तेषु संकीर्णः शरासनपरायणः ॥
न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता ।
इन्द्रियैः कामवृत्तः सन् कृष्यसे मनुजेश्वर ॥
हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम् ।
किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम् ॥[1]

मानस मे उसका स्वर बहुत विनम्रतापूर्ण है—

धर्म हेतु अवतरेउ गुसाईं । मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥[2]

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ४।१७।२१-२३, तथा ३३-३५

[2] —मानस, ४/८/३

वाल्मीकि ने इस सम्बन्ध मे राम का कोई पक्ष नही लिया है और इसलिये रामायण मे वाली को दिया गया राम का उत्तर तर्कसगत प्रतीत नही होता, प्रत्युत ऐसा जान पडता है मानो राम इस प्रकार की चुनौती के लिए तैयार नहीं थे और जब इस प्रकार उनके चरम मूल्य-धर्म पर आंच आने लगी तो हडबडाहट मे जैसे भी बन पडा उन्होंने अपने आचरण को उचित ठहराने का प्रयत्न किया।

राम यह कहकर वाली के प्रश्नो का उत्तर देते हैं कि समस्त पृथ्वी इक्ष्वाकु-वशी शासको की है। इसलिए उन्हे वाली को उसके अपराध के लिए दण्ड देने का अधिकार था[1] और उसका अपराध यह था कि उसने सुग्रीव की पत्नी के साथ सहवास किया था[2] उस अपराध का दण्ड उन्होने उस समय दिया जब वह किसी अन्य व्यक्ति के साथ युद्ध मे उलझा हुआ था—और वह दण्ड भी उन्होंने छिपकर दिया[1]

यहाँ पहली बात तो यह है कि राम को वाली को दण्ड देने का कोई अधिकार भी था—यह बात सदिग्ध है। यदि ऐसी ही बात थी तो सात ताल-वृक्षो के भेदन के रूप मे सुग्रीव के समक्ष अपने सामर्थ्य का प्रमाण देने की क्या आवश्यकता थी और यदि वे अपने आपको राजा भरत का प्रतिनिधि मानते थे तो सुग्रीव की शरण चाहने का कोई प्रश्न ही नही उठता।

यदि किसी प्रकार राम का यह अधिकार मान लिया जाए तो भी दण्ड की प्रक्रिया कहाँ तक सही थी, यह प्रश्न रह जाता है। राम ने इस सम्बन्ध मे वाली को उत्तर देते हुए कहा था कि वालि-वध राम के लिए मृगयावत् था। राजा लोग पशुओं का शिकार किया ही करते हैं और वाली भी एक पशु-वानर था। अतएव उसे छिपकर मारने मे कोई अनौचित्य नहीं था।[3]

स्पष्टतः दण्ड देने वाली बात का शिकार खेलने की बात से कोई सामजस्य नहीं बैठता। दण्ड देने के लिए राम ने वाली का शिकार किया था—कितनी हास्यास्पद बात प्रतीत होती है। वस्तुत राम अपने इस कृत्य को येन-केन प्रकारेण औचित्यपूर्ण सिद्ध करने का का प्रयत्न करते हैं और इस प्रयत्न मे वे जो युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं उनमे परस्पर कोई सामजस्य भी है कि नही—इस बात का ध्यान उन्हें उस समय नहीं रह जाता। औचित्यीकरण की यह प्रक्रिया[4] वाल्मीकि ने सचमुच बडी स्वाभाविकता से इस प्रसग में उतार दी है।

१—वाल्मीकि रामायण, ४।८।६

२—वही, ४।१८।१९

३—वही, ४।१८।४०

—*G. Murphy, An Introduction to Psychology*, p 422

उत्तर से संतुष्ट न होते हुए भी अन्तिम क्षणों में वाल्मीकि के वाली की प्रकृति मे बड़ा अन्तर दिखलाई देता है । वह अपने वध के औचित्य के सम्बन्ध मे राम से और अधिक तर्क नही करता, यद्यपि उसके लिए अब भी अवकाश था । वह एक प्रकार से राम के समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है[१] और राम से अपने अत्यधिक प्रिय पुत्र अंगद की रक्षा की याचना करता है ।[२] उसकी बातों से स्पष्ट हो जाता है कि उसे अपनी मृत्यु के उपरान्त सुग्रीव की ओर से अंगद के अहित की आशंका थी । उस आशंका के निवारण का और कोई उपाय नहीं था——केवल राम का आश्वासन ही चिन्ता का निवारण कर सकता था । वात्सल्य के उस अदम्य आवेग ने उस समय वाली के दर्प को एक ओर धकेल दिया और पुत्र की हित चिन्ता ने उसे राम के समक्ष आत्मसमर्पण और सुग्रीव के प्रति स्नेह-प्रदर्शन के लिये बाध्य कर दिया । सुग्रीव के प्रति स्नेह व्यक्त करने के लिए ही वह राम से अंगद के साथ-साथ सुग्रीव की देख-रेख की भी याचना करता है[३] तथा अपने वैर-भाव के लिए भी पछताने लगता है ।[४] इतना ही नहीं, मरने से पहले अपनी दिव्य स्वर्ण-माला सुग्रीव को पहना देता है ।

यह सब उसने अपने पुत्र की हित चिन्ता से किया था——यह बात इस तथ्य से प्रकट हो जाती है कि राम से अंगद की रक्षा का निवेदन करने के साथ-साथ वह सुग्रीव से उसकी रक्षा और उसके समुचित लालन पालन का अनुरोध करता है ।[५]

इसके साथ ही मृत्यु से पूर्व वह अंगद को भी परिस्थितियो के अनुसार आचारण करने, सहिष्णुता तथा सुग्रीव की आज्ञानुसार कार्य करने की शिक्षा देता है ।[६]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मृत्यु के क्षणो मे वाली की प्रकृति मे जो आकस्मिक एवं आश्चर्यजनक अंतर दिखलाई देता है वह मूलतः वात्सल्यप्रेरित था ।

उसकी प्रकृति मे परिवर्तन का परिणाम भी उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद सुग्रीव के अनुताप के रूप में दिखलाई देता है ।[७]

तुलसीदासजी ने वाली की चुनौती को उसके पूरे तेज के साथ उपस्थित

१—वाल्मीकि रामायण, ४।१८।४८
२—वही, ४।१८।५१ ५२
३—वही ४।१८।५३ ५४
४—वही, ४।२२।३ ४
५—वही, ४।२०।८ १२
६—वही ४।२२।२० २२
७—वही, किष्किधाकाड, सर्ग २४

नहीं किया है। उसके मुख से राम के लिए 'गोसाई' और 'नाथ' शब्दों का प्रयोग करा कर उन्होंने उसके प्रश्न को ही निस्तेज कर दिया—

> धर्म हेतु अवतरेउ गोसाई । मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ॥
> मैं बैरी सुग्रीव पिआरा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥[1]

यहाँ वाली की पुकार एक बराबर के योद्धा की चुनौती न रहकर एक निम्नतर व्यक्ति द्वारा उच्चतर व्यक्ति से न्याय याचना मात्र रह गई है। फलत राम के नैतिकतापूर्ण उत्तर से उसको पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किया जा सका है। वाल्मीकि मे राम का उत्तर सतोषजनक नही है, फिर भी वाली अपने पुत्र के भविष्य का विचार कर अधिक विवाद नही करता और राम के इस आचरण के बदले उनमे अंगद की रक्षा का आश्वासन लेता है। इस प्रकार वहाँ वात्सल्य उसके अहं से ऊपर उठ जाता है। यहाँ भी वाली का वात्सल्य चित्रित किया गया है,[2] किन्तु उसे वाली के संतोष के मूल मे नहीं दिखाया गया। *मानस* मे वाली किसी लौकिक और इसलिए मनोवैज्ञानिक कारण से सन्तुष्ट नही होता। वह तो केवल उनके ईश्वरत्व के ज्ञान से संतुष्ट होता है। इसलिए राम द्वारा प्राण अचल किये जाने के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए उनके प्रति भक्ति भावना से भर कर आत्मसमर्पण कर देता है।

सुग्रीव के प्रति लक्ष्मण का क्रोध और तारा द्वारा उसका शमन

स्वार्थपूर्ति के उपरात सुग्रीव की ओर से उपेक्षा की अनुभूति से राम के हृदय मे असतोष का उदय दोनों काव्यो मे लगभग एक जैसे शब्दो मे चित्रित किया गया है और दोनों मे ही राम के आदेश पर अमर्षयुक्त लक्ष्मण का सुग्रीव के पास जाना और सुग्रीव का भयभीत होना भी अंकित है किन्तु तारा द्वारा लक्ष्मण के क्रोध का चातुर्यपूर्ण शमन, जो वाल्मीकि की अन्तर्दृष्टि का परिणाम है, *मानस* मे देखने को नहीं मिलता।

वाल्मीकि रामायण मे लक्ष्मण सुग्रीव के पास अत्यन्त क्रोध के आवेश मे जाते हैं। अतएव उनके क्रोध को शान्त करने का उपाय यही हो सकता था कि लक्ष्मण को यह विश्वास दिलाया जाता कि सुग्रीव उनके कार्य की ओर से उदासीन नहीं है. यदि एकाएक लक्ष्मण की इस मान्यता का खण्डन कर दिया जाता कि सुग्रीव

---

[1] —मानस, किष्किंधाकांड, ८।३

[2] —यह तनय मम सम विनय बल कल्याणप्रद प्रभु लीजिए।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए॥
—मानस, किष्किंधाकांड, छंद २

उनके कार्य की ओर से उदासीन है तो उससे भी आत्मभाव बाधित होने के कारण लक्ष्मण का क्रोध ही उत्तेजित होता। इसलिए आवश्यकता इस बात की थी कि लक्ष्मण के आत्मभाव को सतुष्ट करके उनके क्रोध का आवेग थोडा शान्त होने पर सुग्रीव का पक्ष उनके समक्ष शनैः-शनैः इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता कि उससे उनके अह पर किसी प्रकार का आघात न हो, प्रत्युत् उसकी पुष्टि की जा सके।

लक्ष्मण के रोष के शमन के लिए सुग्रीव ने ऐसा ही किया—क्रुद्ध लक्ष्मण के आगमन का समाचार पाते ही उन्होने तारा को उनके पास भेजा। स्त्रियो के सम्पर्क से सकुचाने वाले लक्ष्मण[१] का तेज स्वभावतः तारा के सम्पर्क मे आने पर मन्द पड़ गया।[२] फिर तारा ने उस क्षण सारी बातें भी ऐसी कही जो लक्ष्मण के दृष्टिकोण का समर्थन करने के साथ सुग्रीव की चारित्रिक दुर्बलता का वर्णन करती हुई लक्ष्मण के समक्ष सुग्रीव को दयनीय तथा क्रोध के अयोग्य व्यक्ति के रूप प्रस्तुत करती थी।[३] प्रतिपक्षी की हीनता से लक्ष्मण का आत्मभाव तुष्ट हुआ होगा। इसी सदर्भ मे तारा कामासक्ति के समक्ष मानव मात्र की विवशता का उल्लेख भी विस्तारपूर्वक करती हुई कहती है कि सुग्रीव का प्रमाद एक सामान्य बात है, कोई भी मनुष्य ऐसा प्रमाद कर सकता है। सुग्रीव के लिए तो इन्द्रियासक्ति मे मग्न हो जाना और भी स्वाभाविक बात थी क्योकि वह इतने दिनो तक इन्द्रियसुख से वचित रहा था।[४] इसलिए सुग्रीव का अपराध सामान्य से कुछ अधिक सहानुभूतिपूर्वक विचारणीय था।[५]

इस प्रकार तारा उनकी प्रशसा[६] के साथ सुग्रीव की हीनता के उल्लेख द्वारा उनके आत्मभाव की तुष्टि करती हुई तथा सुग्रीव की परिस्थितिजन्य विवशता का उल्लेख करती हुई लक्ष्मण के मन मे क्रोध का आवेग शनैः-शनैः कम करने के साथ सुग्रीव के प्रति उनके मन मे सहानुभूति जगाती है जो दया का ही एक रूप है और तब कही उन्हे यह सूचना देती है कि सुग्रीव उनके कार्य की ओर से सर्वथा उदासीन भी नही है।[७]

इतना कर चुकने के उपरान्त वह उन्हे सुग्रीव की सहायता की अपरिहार्यता समझाती है।[८] क्रोध शान्त हो जाने पर आत्मरक्षण की वृत्ति उनके मन मे कोई

१—वाल्मीकि रामायण, ४।३३।२५
२—वही, ४।३३।३९
३—वही, ४।३३।५३-५४
४—वही, ४।३३।५५-५७
५—वही, ४।३५।९
६—वही, ४।३३।५२
७—वही, ४।३३।५९-६०
८—वही, ४।३५।१५-१७

स्थान पा सकती थी। अतएव उसने उसका उल्लेख उस समय किया जब लक्ष्मण का मन उस पर विचार करने की स्थिति म हो गया। सुग्रीव की सहायता की अपरिहार्यता के रूप मे तारा ने लक्ष्मण को स्वार्थ की दृष्टि से भी सुग्रीव के जीवन की आवश्यकता की ओर सकेत कर उसका अपकार न कर सकने की स्थिति मे डालना चाहा। इस प्रकार तारा ने लक्ष्मण के मन मे आत्मरक्षण की वृत्ति जगाकर उन्हे सुग्रीव के अहित से विरत करने का प्रयत्न किया।

तुलसीदासजी ने इस सदर्भ मे तारा का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु तारा द्वारा सुग्रीव के समझाने का सविस्तार वर्णन उन्होंने नहीं किया है। तारा को लक्ष्मण के पास भेजने मे सुग्रीव को क्या प्रयोजन था और उसकी किन उक्तियो और चेष्टाओ से लक्ष्मण किस प्रकार प्रभावित हुए—इसकी ओर तुलसीदासजी ने ध्यान नही दिया है। संभवत: वाल्मीकि के चित्रण की यथार्थता से अवगत होकर तुलसीदासजी ने इतना त्वरित वर्णन किया है। मानसकार ने वाल्मीकि के चातुर्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक संयोजन की ओर ध्यान न देकर इससे से ही सतोष कर लिया है—

तारा सहित जाइ हनुमाना। चरन बदि प्रभु सुजस बखाना॥
करि बिनती मदिर लै आए। चरन पखारि पलँग बैठाए॥
तब कपीस चरनन्हि सिरु नावा। गहि भुज लछिमन कठ लगावा॥[1]

कामजन्य विवशता की बात उन्होने तारा के मुख से न कहलवाकर स्वय सुग्रीव के मुख से ही कहलवाई है।[2] इसका कारण नारी-सम्बन्धी मर्यादा हो सकती है।

सुग्रीव के प्रति अङ्गद का विद्रोह

सुग्रीव के आदेश पर सीता की खोज मे अगद के नेतृत्व मे निकली हुई वानर-टोली के स्वयप्रभा की गुफा मे भटक जाने से सुग्रीव की दी हुई अवधि समाप्त होने पर सुग्रीव की ओर से आतकित अगद के गूढ़ मनोभाव प्रकट हो जाते हैं और वह सुग्रीव के प्रति लगभग विद्रोह कर देता है। वाल्मीकि ने इस विद्रोह का चित्रण बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है जबकि मानसकार इस प्रसग मे अगद को सुग्रीव से आतकित ही दिखलाया है, अगद के विद्रोह और हनुमान की बुद्धिमत्तापूर्ण भेदनीति से अगद के विद्रोह को शात करने का उल्लेख छोड दिया है क्योंकि भक्त को किसी भी प्रकार विद्रोही दिखलाना मानसकार को रुचिकर नहीं था। मानसीय प्रकृति की दृष्टि से दोनों रूपो मे अगद का आचरण सहज-सभव है।

---

[1] —मानस ४/१९/२-३

[2] —वही, २०।२ ३

सीता की खोज

जाम्बवान की प्रेरणा से हनुमान के लंका प्रयाण और मार्ग मे अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए हनुमान के लंका पहुँचने की कथा दोनो काव्यों में लगभग एक जैसी है, किन्तु लंका मे सीता की खोज के सम्बन्ध मे दोनो काव्यो मे अन्तर है। वाल्मीकि रामायण मे हनुमान लंका मे एक अजनबी के रूप मे सीता की खोज मे इधर उधर भटकते रहते है और सीता को पहले न देखने के कारण एक बार मदोदरी को ही सीता समझ लेते हैं,[1] किन्तु तर्कना के बल पर वे यह निश्चय करते हैं कि जिसे उन्होने सीता समझा है, वह सीता नहीं है क्योकि सीता न तो उस प्रकार निश्चित भाव से सो सकती हैं, न मदिरापान ही कर सकती हैं न किसी अन्य पुरुष के सान्निध्य को स्वीकार कर सकती है।[2] काफी देर तक सीता का पता न चलने पर उनकी हताशा का चित्रण भी वाल्मीकि ने अत्यन्त स्वाभाविक रूप मे किया है। हताशा के कारण सीता की मृत्यु की शंका और इस प्रकार सीता के न मिलने का समाचार लेकर राम के पास न लौटने की हनुमान की ऊहापोह का वर्णन[3] भी वाल्मीकि ने बड़ी यथार्थता के साथ किया है। अन्तत अशोक वन मे सीता का दर्शन हनुमान के लिए एक आकस्मिक घटना थी।

मानसकार ने भक्तिवश हनुमान को इस श्रम से बचाया है। लंका-प्रवेश के उपरान्त उन्हे शीघ्र ही विभीषण का घर दिखलाई दे जाता है और भक्त विभीषण से मिलने पर उन्हे सरलता से सीता का पता चल जाता है। मानस के इस प्रसंग मे उन स्वाभाविक परिस्थितियो और सहज मानवीय कथा गति का अभाव है जो ऋषि वाल्मीकि की सूक्ष्म दृष्टि ने अंकित की हैं।

सीता का क्लेश

अशोक वाटिका म हनुमान ने जो देखा उसके सम्बन्ध मे दोनो काव्यो मे मूलभूत अन्तर न होने पर भी दृश्य के विस्तारो मे सूक्ष्म विभेद है। वाल्मीकि ने अशोक-वाटिका मे रावण के आने पर सीता को भय से काँपते दिखलाया है[4] जबकि मानस मे ऐसा कोई उल्लेख नही है। इसके विपरीत मानस की सीता साहस और दृढ़ता के साथ रावण को उत्तर देती हैं। सीता को अपनी ओर अनुरक्त करने के लिए रावण जो कहता है उसके सम्बन्ध म भी दोनों काव्यो मे अन्तर है। वाल्मीकि रामायण मे वह सीता से अनुनय-विनय करता दिखलाई देता है। वह सीता के रूप-

---

१—वाल्मीकि रामायण, ५।१०।५० ४०

२—वही ५।११।२ ४

३—वही, ५।१३।९-४

४—वही, ५।१९।२ ३

सौन्दर्य की बहुल प्रशंसा करता है, उनकी दीनावस्था के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करता है, राम-मिलन को असम्भव बतलाकर सीता की सङ्कल्प-शक्ति शिथिल करना चाहता है, सीताहरण के अपराध का स्पष्टीकरण देता है, राजा जनक को लाभ पहुँचाने की बात कहता है, अपने पराक्रम का बढ़ाचढ़ाकर बखान करता है और राम को अपने समक्ष हीन बतलाता है।[1] मानस में वह सीता को सब रानियों के ऊपर प्रतिष्ठित करने का ही लोभ देता है[2] जो किसी नारी को पति निष्ठा से विपथित करने के लिये पर्याप्त आकर्षण नहीं है। कम से कम वाल्मीकि के रावण की तुलना में तुलसीदासजी के रावण की सीता को फुसलाने की चेष्टा बहुत ही चातुर्यरहित प्रतीत होती है।

सीता के उत्तर के सम्बन्ध में भी दोनों में अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में सीता भयभीत होने के कारण पहले रावण को शान्तिपूर्वक समझाती हुई शनैः-शनैः क्रोध के आवेश में आकर कठोर शब्दों का प्रयोग करने लगती हैं जबकि मानस में वे रावण को जो संक्षिप्त उत्तर देती हैं उसमें इस प्रकार के विकास के लिये अवकाश न होने से उसमें सीता की कठोरतापूर्ण प्रतिक्रिया को ही स्थान दिया जा सका है।

सीता के उत्तर से रावण के असंतुष्ट होने का उल्लेख दोनों काव्यों में है, किन्तु वाल्मीकि रामायण में वह मानस के समान सीता को मारने नहीं दौड़ता, इसके विपरीत वह यह कहता है कि सीता के प्रति उसकी आसक्ति ही उसके क्रोध का निरोध किये हुए है—

सनियच्छति मे क्रोध त्वयि काम समुत्थित. ।
द्रवतो मार्गमासाद्य हयानिव सुसारथि ॥[3]

रावण के इस आचरण की भिन्नता का कारण इस तथ्य में निहित है कि रामायण और मानस में रावण की मनोरचना भिन्न-भिन्न है। वाल्मीकि रामायण का रावण प्रधानतः कामुक है अतएव काम-प्रवृत्ति उसके क्रोध का निरोध कर देती है, किन्तु मानस का रावण प्रधानतः अहंकारी है और इसलिये अपना अपमान किसी मूल्य पर नहीं सह सकता।[4]

अपनी-अपनी मनोरचना के अनुसार दोनों काव्यों में इस प्रसंग में रावण का आचरण स्वाभाविक है।

१—वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग २०-२२
२—मानस, ५/८/२-३
३—वाल्मीकि रामायण, ५।२२।३
४—द्रष्टव्य—चरित्र-चित्रण-विषयक अध्याय

सीता की वेदना

अल्टिमेटम (अल्टीमेटम) देकर रावण के चले जाने के उपरान्त त्रस्त सीता की वेदना का चित्रण दोनों महाकवियों ने किया है। वाल्मीकि रामायण में सीता अपनी चोटी से फाँसी लगाकर आत्म-हत्या करने की सोचती हैं, किन्तु मानस में वे जल मरने के लिये त्रिजटा से आग की याचना करती हैं जो रात में नहीं मिल सकती। इस प्रकार मानसकार बड़ी चतुराई से सीता की आत्महत्या-विषयक इच्छा को स्थान देकर भी आत्महत्या को बचा गया है जबकि वाल्मीकि ने त्रिजटा के स्वप्न और शुभ अंगों के फड़कने से सीता को आत्महत्या से विरत होते दिखलाया है। त्रिजटा के स्वप्न से मानस में भी सीता को सांत्वना मिलती है, किन्तु आत्महत्या से विरति का प्राथमिक कारण रात्रि में अग्नि की अप्राप्यता है। वाल्मीकि में त्रिजटा का स्वप्न प्रतीकात्मक है जबकि मानस में वह स्पष्टतः घटनाओं का पूर्वाभास है।

हनुमान के प्रकट होने और उनके प्रति पहले सीता के अविश्वास और तदुपरान्त विश्वास का चित्रण दोनों कवियों ने किया है। वाल्मीकि रामायण में विश्वास जमने की प्रक्रिया अपेक्षाकृत मंद अतएव अधिक स्वाभाविक है।

अशोकवन-विध्वंस और लङ्का दहन

परवर्ती घटनाओं के सम्बन्ध में दोनों काव्यों में मौलिक भेद है। सीता को राम का समाचार दे चुकने के बाद हनुमान द्वारा वाटिका-विध्वंस और लंकादहन दोनों घटनाओं की मूलभूत प्रेरणा दोनों काव्यों में भिन्न भिन्न है। वाल्मीकि के अनुसार हनुमान ने उक्त कार्य शत्रु की शक्ति का अनुमान लगाने[1] और शत्रु-शक्ति का क्षय करने की प्रेरणा से[2] किये थे जबकि मानसकार की दृष्टि में ये घटनाएँ हनुमान की कौतुकी प्रकृति से प्रेरित थीं।[3]

रावण के दरबार में हनुमान के आचरण को लेकर भी दोनों काव्यों में पर्याप्त अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में हनुमान धैर्यपूर्वक बड़े आत्मविश्वास के साथ रावण को सारी ऊँच नीच समझाते हुए अन्त में कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं जबकि मानस में वे आरम्भ से ही रावण को धमकाते हुए और उसकी शक्ति की अवमानना करते दिखलाई देते हैं। दोनों का यह अन्तर पात्र की प्रकृति के अन्तर की संगति में है। *वाल्मीकि के बुद्धिमान हनुमान का प्रत्येक कार्य दूरदर्शितापूर्ण और सुविचारित* है जबकि मानस के वानर हनुमान का कार्य उनकी शाखामृग प्रकृति के अनुकूल है।

१—वाल्मीकि रामायण, ५।४१।२-४

२ - वही, ५।५४।२४

३ -(क) खायउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा ॥ —मानस, ५/२१/२

(ख) बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना ॥ —वही, ५।२४।२

विभीषण का आचरण

विभीषण के आचरण के सम्बन्ध मे वाल्मीकि और तुलसीदास की दृष्टियों मे बहुत अन्तर है। वाल्मीकि रामायण मे रावण की ओर से विभीषण के विकर्षण का क्रमिक विकास अकित किया गया है। आरम्भ मे विभीषण राम-पक्ष की ओर अपनी सहानुभूति व्यक्त नही करता, केवल नीतिवश हनुमान को मृत्यु दण्ड से बचा देता है और युद्ध-मन्त्रणा के अवसर पर दो बार रावण को राम से न लडने का परामर्श देता है, राम की प्रशसा नही करता। पहली बार वह राम रावण-युद्ध के कूटनीतिक पक्ष पर विचार करते हुए रावण को युद्ध से विरत करने का प्रयत्न करता है और दूसरी बार अपशकुनो का भय दिखलाकर रावण को राम से मैत्री कर लेने का परामर्श देता है, इन दोनो अवसरो पर असफल होकर, सभवत अपनी असफलता से खीभकर तीसरी बार रावण की युद्ध-मन्त्रणा के अवसर पर वह आवेश मे आकर रावण-पक्ष का विनाश अवश्यंभावी बतलाते हुए खुलकर राम की प्रशंसा करता है। इन्द्रजित द्वारा अपनी सम्मति का विरोध होते देखकर और अन्त मे रावण की फटकार सुनकर वह शत्रुपक्ष मे जा मिलता है। रावण के प्रति विभीषण के इस व्यवहार के मूल मे आपातत आत्मप्रतिष्ठा की बाधा दिखलाई देती है, किन्तु राम[1] और रावण[2] दोनो विभीषण के व्यवहार का आकलन जिस ढग से करते हैं उससे यही प्रतीत होता है कि उसके आचरण के मूल मे सजातियो के प्रति ईर्ष्या थी। मनोविज्ञान से भी इस प्रकार की ईर्ष्या की सभावना की पुष्टि होती है।

मानसकार ने विभीषण को आरम्भ से ही राम-भक्त दिखलाया है और इसलिये मानस में उसके व्यवहार के क्रमिक विकास का प्रश्न नहीं उठता। रावण के प्रति विरक्ति और राम के प्रति अनुरक्ति का कारण उसकी राम-भक्ति है, पद-प्रहार की घटना तो संयोग मात्र है जिससे विभीषण को शत्रु पक्ष मे जा मिलने का बहाना मिल जाता है। भक्त होने के कारण मानसकार ने उसके चरित्र की रक्षा का पूरा प्रयत्न किया है और इसलिए रावण से रूठकर जाते हुए भी उसके प्रति विभीषण का व्यवहार सम्मानसूचक बतलाया है[3] जबकि वाल्मीकि रामायण में वह रावण को फटकारकर राम-पक्ष मे जा मिलता है।[4]

इस दृष्टि से मानस के विभीषण का व्यवहार रामायण के विभीषण की तुलना मे अधिक उत्कृष्ट भले ही प्रतीत होता हो, किन्तु वैसा स्वाभाविक एव यथार्थ

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ६/१६/३-५

[2] —वही, ६/१८/१३

[3] —मानस, ५/४०/३-४१

[4] —वाल्मीकि रामायण, ६/१६/१९-२६

प्रतीत नही होता । मानस मे विभीषण का आचरण एक भक्त का आचरण है जबकि रामायण मे विभीषण का आचरण हाड मास के बने एक सासारिक व्यक्ति का आचरण है ।

युद्ध-प्रकरण

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे युद्ध-प्रकरण की मानसिक पीठिका मे ही नहीं, स्थूल कथानक मे भी व्यापक अ तर है । वाल्मीकि रामायण मे रावण को मन्त्रियो के परामर्शानुसार और पूर्ण आत्मविश्वास के साथ राम से स घर्ष करते दिखलाया गया है । वह सीता को राम की ओर से निराश करने और राम को सीता की ओर से निराश करने की चाले भी चलता है । मानस मे रावण की इस प्रकार की चालाकियो का कोई उल्लेख नही है । इसके विपरीत मानस मे रावण को शनै -शनै निराश होते दिखलाया गया है । राम के भ्रातृ शोक और रावण के पुत्र-शोक दोनो का सजीव वर्णन वाल्मीकि ने किया है, किन्तु मानसकार ने रावण के पुत्र-शोक को समुचित महत्त्व नही दिया है । रावण वध के उपरात म दोदरी के विलाप का चित्रण दोनो कवियो ने किया है किन्तु मानवीय सवेदना की दृष्टि से वाल्मीकि की म दोदरी का विलाप ही यथार्थ है, मानस की म दोदरी रावण की पत्नी से अधिक रामभक्त हो गई है ।

अ गद-रावण सवाद

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनो मे युद्ध आर भ होने से पूर्व अगद रावण के दरबार मे भेजा जाता है । रामायण मे वह रावण को अ तिम चेतावनी देने जाता है जबकि मानस मे रावण को समझाने ।[1] वाल्मीकि रामायण मे वह वही करता है जिसके लिये रावण के पास भेजा जाता है[2] लेकिन मानस मे वह रावण को समझाने के स्थान पर रावण से वाग्युद्ध करता दिखलाई देता है । इस वाग्युद्ध का भी एक प्रयोजन मानसकार की दृष्टि म रहा है और वह है रावण-पक्ष में त्रास उत्पन्न करना । इस प्रस ग के राम के ईश्वरत्व के मुहुर्मुहु उल्लेख से काव्य के मानवीय धरातल की क्षति हुई है और रावण के द्वारा बार-बार अपने पराक्रम के बखान से उसकी चारित्रिक सम्पन्नता का ह्रास हुआ है । डी ग मारने वाले और विकत्थन व्यक्ति के आचरण के रूप मे उसका व्यवहार अस्वाभाविक न होते हुए भी राम की गरिमा के अनुरूप प्रतिनायक के योग्य प्रतीत नही होता ।

२—काजु हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥ —मानस, ६।१६।४

२—वाल्मीकि रामायण, ६।४१।७६

वाल्मीकि रामायण में सीता और राम का मनोबल तोड़ने के प्रयत्न

वाल्मीकि रामायण में रावण-पक्ष द्वारा सीता और राम दोनों का मनोबल तोडने के पृथक्-पृथक् प्रयासों का वर्णन है जो युद्ध मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है। युद्ध में शत्रु-पक्ष का मनोबल तोडना बहुत आवश्यक है और वाल्मीकि का रावण इस उपाय का अवलम्बन करता है।

सीता की दृढता तोडने के लिये रावण साम, दाम और दण्ड का आश्रय ले चुका था, किन्तु उसे तनिक भी सफलता नहीं मिली थी। इसलिये अन्ततः वह भेद-नीति का उपयोग करता है। *वह माया-रचित राम का कटा सिर सीता के समक्ष उपस्थित* करता है और रामवध का कल्पित वृत्त सीता को सविस्तार सुनाता है।[1] उस वर्णन में सुग्रीव आदि का उल्लेख पाकर सीता उस पर विश्वास कर व्याकुल हो जाती हैं, किन्तु उनकी दृढता भंग नहीं होती है। सरमा द्वारा रावण की माया के रहस्योद्घाटन से उनकी व्याकुलता दूर हो जाती है।

इसी प्रकार राम का मनोबल तोडने का प्रयत्न इन्द्रजित् द्वारा किया जाता है। वह हनुमान आदि को दिखलाते हुए माया-रचित सीता के दो टुकडे कर देता है। उसका प्रयोजन कदाचित् राम को यह दिखलाना रहा होगा कि वे जिस प्रयोजन से युद्ध कर रहे थे अब उसकी सिद्धि (सीता की प्राप्ति) असंभव थी। माया-सीता के वध द्वारा इन्द्रजित राम के लंका अभियान की मूल प्रेरणा को ही समाप्त कर देने का प्रयत्न करता है, किन्तु विभीषण इन्द्रजित की योजना का रहस्योद्घाटन कर उसके इस प्रयत्न को विफल कर देता है।

मानस में रावण के मनोबल का क्रमिक ह्रास

इसके विपरीत मानस में रावण-पक्ष का मनोबल टूटता हुआ दिखलाया गया है। अंगद द्वारा रावण को आतंकित करने की चेष्टा से लेकर मंदोदरी का परामर्श तक रावण के मनोबल को तोडने में योग देता है।

अंगद रावण के समक्ष जो प्रस्ताव रखता है उसका ढंग कुछ ऐसा है जिसमें संधि के निमंत्रण की अपेक्षा प्रतिपक्षी की हीनता का निदर्शन कहीं अधिक है। अंगद का प्रयोजन रावण को आतंकित करने का प्रतीत होता है। वह नगर में घुसते-घुसते रावण के एक पुत्र को मार डालता है, राम द्वारा वाली वध के प्रसंग को बार-बार दुहराता है (यद्यपि यह बात कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होती है कि अंगद जैसा निष्ठावान् पुत्र अपने पितृ-वध की चर्चा बार-बार करे), रावण की अनेक पराजयों का उल्लेख करता है, लंका जलाने वाले महापराक्रमी हनुमान को वह सुग्रीव हरकारा तथा सब से कम पराक्रमी सैनिक बतलाता है जिससे रावण के मन

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ३२

पर यह प्रभाव पड़े कि जिस हनुमान को वह बड़ा योद्धा समझता है उसकी तुलना में सुग्रीव के अन्य सभी सैनिक कहीं अधिक पराक्रमी हैं। अंत में पदारोपण की करामात से सबको आतंकित कर देता है। रावण भी अभिभूत हो जाता है—

> भयउ तेजहत श्री सब गई । मध्य दिवस जिमि ससि सोहई ।।
> सिंघासन बैठेउ सिर नाई । मानहुँ संपति सकल गँवाई ।[1]

इस प्रकार रावण और उसके सभासदों को अभिभूत करने के उपरान्त अंगद ने रावण को समझाने का पुन प्रयत्न किया, किन्तु उसे अपने इस कार्य में सफलता नहीं मिली। तब वह चुपचाप राम के पास लौट गया।

उधर रावण के घर में उसे समझाने के प्रयत्न चल रहे थे। लंका-दहन के उपरान्त मंदोदरी ने उसे बहुत समझाया किंतु अपने पराक्रम के मद में उसने उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। तदुपरान्त राम द्वारा सेतु बंधन और समुद्रपार किए जाने का समाचार पाकर उसने पुन रावण को समझाने की चेष्टा की किन्तु अबकी बार उसके समझाने में शत्रु का भय उतना व्यंजित नहीं होता जितना राम का ईश्वरत्व। उसके समझाने में पति की हीनता के साथ साथ शत्रु के उत्कर्ष का बखान अधिक है जो भक्ति की दृष्टि से भले ही उचित ठहरे, एक पतिव्रता पत्नी के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।[2]

अखाड़े में बैठे हुए रावण के छत्र, मुकुट ताटंक आदि जब राम के बाण से हर लिए जाते हैं तब भी मंदोदरी रावण को आध्यात्मिक धरातल पर समझाने का प्रयत्न करती है। वहाँ उसकी प्रेरणा तो मनोवैज्ञानिक ही है—वह भयभीत होकर ही रावण को समझाती है, किन्तु उसकी उक्तियों में भय की अभिव्यक्ति न होकर राम के अवतारी होने का समर्थन होता है जो मनोविज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिकता से अधिक संबंधित है।

अंगद द्वारा रावण और उसके सभासदों के अभिभूत किए जाने का समाचार सुनकर मंदोदरी रावण को पुन समझाने का प्रयत्न करती है। इस बार उसकी उक्तियों में राम के ईश्वरत्व के समर्थन के साथ अपने भय की अभिव्यक्ति भी प्रचुरांश में दिखलायी देती है।

वस्तुत मानस के इन प्रसंगों में वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा अध्यात्म-रामायण तथा हनुमन्नाटक का प्रभाव अधिक होने से ये प्रसंग मनोवैज्ञानिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता से अधिक ओतप्रोत दिखलाई देते हैं।

---

[1] – मानस, ६/३४/२-३

[2] – द्रष्टव्य – डॉ० श्रीकृष्णलाल, 'मानस-दर्शन,' पृ० ८८

मन्दोदरी के अतिरिक्त प्रहस्त भी रावण को समझाने का प्रयत्न करता है, किन्तु उसके विचारो मे आध्यात्मिकता का समावेश न होकर कूटनीतिक मर्यादा (मूल्यो) का प्राबल्य है। वह रावण से स्पष्ट शब्दों मे कहता है कि हमे अपनी ओर से सीता राम को लौटा देनी चाहिए। इस पर भी यदि राम आक्रमण करेंगे तो हम डटकर उनका सामना करेंगे।

प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती । सीता देइ करहु पुनि प्रीती ॥
नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइअ रारि ।
नाहिं त सन्मुख समर महि तात करिअ हठि मारि ॥[1]

रावण अपनी स्वेच्छाचारी प्रकृति के कारण प्रहस्त के इन शब्दो को सुनकर उल्टा कुपित हो जाता है। वह अपने अहंकार के कारण न दूसरो की सम्मति का सम्मान करता है न शत्रु के पराक्रम को यथार्थ रूप मे आँक पाता है।

कुम्भकर्ण को रावण के इस दुष्कर्म का पता देर से चलता है। उसे इसका पता चलने से पूर्व ही युद्ध आरंभ हो चुका था। इसलिए वह इस संबन्ध मे रावण की आलोचना करता हुआ भी उसका साथ देता है।

रावण अपने पराक्रम के मद मे सभी की सम्मति की उपेक्षा करता है, फिर भी उसके मन पर धीरे धीरे राम का आतंक छाता जाता है। सर्वप्रथम राम द्वारा सेतु बाँधे जाने का समाचार पाकर वह बौखला उठता है—

बाँध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस ।
सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस ॥[2]

यहाँ समुद्र के लिए एकसाथ इतने पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग राम के पराक्रम के समाचार को सुनने से उत्पन्न उसकी व्यग्रता को व्यक्त करता है। यह व्यग्रता आतंक का परिणाम है। अपने अहंकार के कारण रावण अपनी इस दुर्बलता को टाल जाता है।

निज बिकलता बिचारि बहोरी । बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी ॥[3]

तदुपरांत अनेक ऐसी छोटी-छोटी घटनाएँ घटती हैं जिनमे उसके मन पर राम का आतंक बढ़ता जाता है। अंगद की बुद्धिमत्तापूर्ण बातो तथा पदारोपण की घटना से भी उस पर आतंक छा जाता है। इस सम्बन्ध मे चन्द्रबली पांडेय ने ठीक ही लिखा है कि 'एक तो जब उसके कान मे यह समाचार पड़ता है कि राम ने समुद्र

१—मानस, लंकाकांड, ८/५-९
२—वही, ५
३—वही, ५/१

बाँध लिया है तब वह घबराकर विस्मय मे पड जाता है और सोचता है कि इतना बडा कार्य राम ने यो ही कर लिया। परन्तु इससे भी गहरी चोट उसे तब लगती है जब वह अगद को पछाडने के लिए आप ही उठता है और अंगद उसे बातो मे ऐसा झटका देता है कि वह बल मे ही नही बात मे भी उससे हार मान जाता है और ऐसा झेंपता है कि अगद के सामने मुँह दिखाने योग्य नही रह जाता।''[1] हनुमान के द्वारा लकादहन की घटना से भी वह आतकित हुआ था यह बात उसके द्वारा हनुमान के पराक्रम की स्वीकृति से सिद्ध होती है। रावण के मन पर छाये आतक का पता इस बात से भी चलता है कि वह युद्ध की चिता मे कभी कभी रात-रात भर सो नही पाता। युद्ध मे राक्षसो का सहार होने पर रावण विलाप करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। जब तक मेघनाद जीवित रहता है, उसे बडा सहारा रहता है, किन्तु मेघनाद-वध के उपरान्त उसका साहस टूट-सा जाता है, फिर भी अपने अहकार के कारण वह अपना दुराग्रह नही छोडता। ससार की नश्वरता की आड लेकर वह पुत्र-शोक को भूल जाता है और अपने बल भरोसे वह राम से जूझने के लिए तत्पर हो जाता है।

इन तथ्यो के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नही होगा कि रावण अपने दुराग्रह के बावजूद शनै शनै आतकित और हतोत्साह होने लगा था। वाल्मीकि मे रावण को दुर्दम पराक्रमी चित्रित किया गया है। इसलिये वहाँ उसके मानसिक दौर्बल्य के दर्शन नही होते।

राम का भ्रातृ शोक और रावण का पुत्र-शोक

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनो मे क्रमश शक्ति लगने से लक्ष्मण के मरणासन्न होने और तदुपरान्त लक्ष्मण के हाथो मेघनाद वध के प्रसगो को स्थान दिया गया है। वाल्मीकि ने उक्त दोनो प्रसगो मे शोक का सशक्त चित्रण किया है जबकि मानसकार ने राम के शोक को ही उत्कर्ष प्रदान किया है और उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढग से की है, रावण के पुत्रशोक की प्रबलता और मनोवैज्ञानिकता की ओर ध्यान नही दिया है। वाल्मीकि रामायण मे यह प्रसग भी कवि की गहन अतर्दृष्टि का परिचायक है।

राम के भ्रातृ शोक का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने शोक के आवेग मे युद्ध, विजय और प्रेयसी की ओर राम की विरक्ति दिखलाई है, लक्ष्मण के लिये 'सहोदर' शब्द का प्रयोग करवाया है जो शोकावेग मे मानसिक असतुलन का परिणाम है, किन्तु राम की आस्था वहाँ डगमगाती हुई दिखलाई नहीं देती जबकि

---

[1] —चन्द्रबली पाडेय 'तुलसीदास', पृ० १४३

[2] —निज भुजबल मैं बयरु बढावा। देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा—मानस, ६/७०/३

मानस की एक चौपाई इस सम्बन्ध में अत्यंत व्यंजक बनकर राम के शोक की सघनता को व्यक्त कर रही है—

> जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू । पिता बचन नहिं मनतेउँ ओहू ॥[1]

इसी व्याकुलता के कारण वे कुछ ऐसी बातें भी कह जाते हैं जो तथ्यात्मक दृष्टि से असंगत प्रतीत होती हैं। वे लक्ष्मण को अपना सहोदर भ्राता तथा अपनी माता का इकलौता पुत्र कह जाते हैं, जबकि लक्ष्मण न तो राम के सहोदर थे और न अपनी माता के इकलौते बेटे, परन्तु भावावेग में इस प्रकार की असंगत बातें मुख से निकल जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है।[2]

इसी व्याकुलता के परिणामस्वरूप वे अपनी पत्नी के प्रति विरक्ति भी व्यक्त कर जाते हैं जबकि यह कोई नहीं कह सकता कि राम किसी भी प्रकार अपनी पत्नी की उपेक्षा कर सकते थे—

> जैहउँ अवध कौन मुहु लाई । नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई ॥
> बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं । नारि हानि बिसेष छति नाहीं ॥[3]

वाल्मीकि रामायण तथा रामचरितमानस दोनों में ही यह प्रसंग अत्यन्त स्वाभाविक तथा मानवीय भूमि पर अवतरित है, फिर भी मानस में शोकावेग की व्यंजना कुछ अधिक उत्कृष्ट है।

रावण के पुत्र-शोक के प्रति मानसकार ने न्याय नहीं किया है, जबकि वाल्मीकि ने रावण के पुत्र-शोक को भी उतना ही मान दिया है जितना राम के भ्रातृ-शोक को। भ्रातृ-शोक के कारण यदि राम युद्ध, विजय और प्रेयसी से विरक्त हो जाते हैं तो रावण भी इन्द्रजित के वध का समाचार पाकर इतना क्षुब्ध हो जाता है कि वह सीता को मारने दौड़ पड़ता है[4] जिसके लिए उसने अपना सब-कुछ दाँव पर लगा दिया था, बड़ी कठिनाई से वह सीता-वध से विरत किया जाता है।[5] मानस में केवल एक पंक्ति में रावण के पुत्र-शोक का उल्लेख किया गया है[6] जो प्रसंग की गम्भीरता को देखते हुए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इस प्रसंग में रावण की मनोदशा का कोई स्पष्ट चित्र मानस में नहीं मिलता।

१—मानस, ६/६/३
२—द्रष्टव्य—[illegible] पृ० १०९
३—मानस, ६/६०/६
४—वाल्मीकि रामायण, ६/९२/३६ ३७
५—वही, ६/९२/४४ ६७
६—सुत बध सुना दसानन जबहीं । मुरछित भयउ परेउ महि तबहीं ॥ —मानस ६।७६।३

रावणवध और मन्दोदरी का विलाप

रावण वध के उपरान्त मन्दोदरी के विलाप के प्रसंग में वाल्मीकि की मानवीय दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है जबकि मानसकार के भक्तिपरक आग्रह ने इस प्रसंग की मानवीय संवेदना की घोर उपेक्षा की है। वाल्मीकि रामायण में मन्दोदरी पति के पराक्रम और साथ ही उसके अत्याचारों को याद करती हुई अपने विगत वैभव की तुलना में वर्तमान दुर्दशा की चेतना से व्याकुल होती हुई दिखलाई देती है।[1] उसका हृदय विदीर्ण होता सा प्रतीत होता है जबकि मानस की मन्दोदरी उस समय राम-भक्ति के उपदेश का अवसर पाकर रावण की दुर्दशा को सामने रखकर राम विरोधियों को चेतावनी देने लगती है।[2] ऐसी उक्तियाँ वाल्मीकि में भी हैं, किन्तु उनके साथ शोकावेग निरन्तर बना हुआ है।[3]

विभीषण का शोक

उसके विपरीत मानसकार ने विभीषण को रावण-वध से वस्तुतः दुःखी होते दिखलाया है[4] जबकि वाल्मीकि ने राज्याकांक्षी और स्वार्थी विभीषण के औपचारिक शोक का ही वर्णन किया है। रावण वध के उपरान्त वह यह कहता है कि उसकी बात न मानने का यह दुष्परिणाम निकला।[5] इससे यह प्रकट होता है कि विभीषण के मन में भाई की मृत्यु और अन्तिम दिनों में उसके साथ अपनी अनबन का दुःख न होकर अपनी बात मनवाने का आग्रह अधिक था। मानसकार ने विभीषण की किसी भी शोक व्यंजक उक्ति को अपने काव्य में स्थान न देकर केवल इतना लिखा है—

बंधु दसा बिलोकि दुख कीन्हा। तब प्रभु अनुजहि आयसु दीन्हा॥
लछिमन तेहि बहुबिधि समुझाया। बहुरि बिभीषन प्रभु पहिं आयो॥[6]

इससे यही प्रकट होता है कि रावण वध से मानस के विभीषण को वास्तव में दुःख हुआ था।

अग्नि परीक्षा

रावण वध के उपरान्त वाल्मीकि के राम एकाएक सीता को स्वीकार न कर उनकी पवित्रता के प्रति जो सन्देह व्यक्त करते हैं वह सर्वथा स्वाभाविक है—विशेष-

---

१—वाल्मीकि रामायण, युद्धकांड सर्ग १११

२—राम विमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥
× × ×
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम विमुख यह अनुचित नाहीं।—मानस ६/१०३/५ ६

३—वाल्मीकि रामायण, ६/१११/१६ २९

४—मानस, ६/१०४/२ ३

५—वाल्मीकिरामायण, ६/१०९/४ ५

६—मानस, ६/१०४/३

कर राम की लोकभीरता[1] के परिप्रेक्ष्य मे उनका यह आचरण सर्वथा अपरिहार्य है। इस अवसर पर सीता के प्रति उनका कठोर व्यवहार और यहाँ तक कह देना कि इतने समय तक रावण के घर रहने से वे उनके योग्य नही रह गई और अब शत्रुघ्न, सुग्रीव अथवा विभीषण मे से जिसे चाहें स्वीकार करलें[2]—राम के व्यवहार को मानवीय धरातल पर बनाये रखता है। वास्तविकता को छिपाकर राम का सीता से यह कहना कि उन्होंने रावण का वध सीता को पुन पाने के लिये न करके अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये किया था[3]—राम के आचरण को मानव सुलभ बना देता है। एक मानव की सीमाएँ वाल्मीकि के राम की सीमाएँ हैं और इसीलिए इस प्रसंग मे साध्वी पत्नी के प्रति राम के मुख से सन्देह व्यक्त करवाकर वाल्मीकि ने उन सीमाओं का निर्वाह किया है।

राम का सन्देह जितना कठोर है सीता का उत्तर भी उतना ही वेदनामय है। वे दुःखी होकर राम के इस ओछे व्यवहार की भर्त्सना भी करती हैं।[4] इस प्रकार *पत्नी की प्रतिक्रिया को भी वाल्मीकि ने स्वाभाविक रूप मे अंकित किया है*

सीता के शुद्ध प्रमाणित होने पर राम अग्नि परीक्षा के पिछे छिपे हुए अपने प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए जो कुछ कहते हैं उससे इस प्रसंग मे राम के आचरण की मानवीय पीठिका स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं कि लोगो को सीता की शुद्धता का विश्वास दिलाने के लिए उन्होने यह नाटक किया था।[5] अपनी पत्नी के विषय मे लोक प्रवाद की चिन्ता और उसके निराकरण का प्रयत्न मानव-स्वभाव के अनुकूल है।

मानसकार ने इस अत्यन्त मानवीय प्रसंग को अतिमानवीय रंग देकर उसकी मानवीय स्वाभाविकता और विश्वसनीयता को आघात पहुँचाया है। मानस मे राम अग्नि-परीक्षा के व्याज से छाया सीता को लौटाकर वास्तविक सीता को प्राप्त करने के लिए ही 'दुर्वाद' कहते हैं। 'दुर्वाद' का कोई ब्यौरा भी मानसकार ने नही दिया है और इस प्रकार उसने अपने पाठको को एक अत्यन्त मानवीय प्रसंग की यथार्थता से वंचित कर दिया है।

अयोध्या-प्रत्यावर्तन

वनवास की अवधि समाप्त कर अयोध्या लौटने के प्रसंग मे भी मानसकार ने उस सहज मानवीय यथार्थ की रक्षा नही की है जो वाल्मीकि के काव्य का प्राण है।

१—द्रष्टव्य—चरित्र-चित्रण

२—वाल्मीकि रामायण, ६/११५/२३

३—वही, ६।११५।१५ १६

४—वही, ६।११६।१४

५—वही, ६।११८।१३

अयोध्या से लौटते हुए वाल्मीकि के राम विशेष प्रयोजन से हनुमान को पहले ही भरत के पास भेजकर उनके मनोभावों के सम्बन्ध में सूचना मँगवाने का प्रयत्न करते हैं—

एतच्छ्रुत्वा यमाकार भजते भरतस्तत ।
सच ते वेदितव्य स्यात सर्वं यच्चादि मां प्रति ॥
ज्ञेया सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च ।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्टया व्याभाषितेनच ॥
सवकामसमृद्ध हि हस्त्यश्वरथसकुलम् ।
पितृपैतामह राज्य कस्य नावर्तयेन्मन ॥[1]

राम के उपर्युक्त शब्दों में यदि भरत के प्रति अविश्वास[2] नहीं है तो कम से कम सामान्य मानव-प्रकृति के प्रति यथार्थमूलक दृष्टिकोण अवश्य है ।

मानसकार ने राम द्वारा भरत के पास हनुमान के अग्रिम प्रेषण के साथ इस प्रकार का कूट प्रसंग न रखकर केवल कुशल समाचार के आदान प्रदान का प्रयोजन रखा है और मानस में हनुमान राम के विरह सागर में डूबते हुए भरत के लिये जहाज का कार्य करते दिखलाये गये हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत ॥[3]

भरत के प्रति अविश्वाससूचक शब्दों को अपने काव्य में स्थान न देने के साथ ही मानसकार ने कैकेयी की ग्लानि को धोने के लिए उसके प्रति राम का विशेष अनुग्रह चित्रित किया है[4] जो मानस के राम की कोमल प्रकृति की संगति में है।

दो सुत सुंदर सीता जाए

राम के राज्याभिषेक के बाद भी वाल्मीकि रामायण की कथा आगे चलती है और वह कथा भी वैसे ही मानवीय धरातल पर अधिष्ठित है जैसी कि राम के राज्याभिषेक की कथा । लोकभीरु राम[5] का सीता के सम्बन्ध में लोक-प्रवाद न सह पाना और लक्ष्मण के विरोध के बावजूद गर्भवती सीता को निष्कासित करना वाल्मीकि के राम की मानव प्रकृति के अनुकूल है । रामायण में वाल्मीकि के आश्रम में सीता के पुत्र प्रसव और पुत्रों के बड़े होने पर राम के अश्वमेध यज्ञ में उनके द्वारा वाल्मीकि रचित रामचरित के गान की कथा आई है ।

१—वाल्मीकि रामायण, ६।१२५।१४ १६
२—V S Srinivas Sastri, *Lectures on the Ramayan*, pp 106 7
३—मानस ७/१(क)
४—वही, ७।६/(क), ७।८ (ख), ७/९/१
५—द्रष्टव्य—चरित्र चित्रण

मानसकार ने सीता के दो सुन्दर पुत्र उत्पन्न होने का उल्लेख तो किया है[1], किन्तु लोक प्रवाद, निष्कासन और वाल्मीकि-आश्रम की चर्चा नही की है। अश्वमेध की चर्चा तो मानस में आई है, किन्तु लव-कुश से उसका कोई सम्बन्ध नही बतलाया गया है। इतना अवश्य है कि सीता की गृह-परिचर्या का उल्लेख करते हुए उसकी निरन्तरता मे उन्होंने सीता के पुत्र प्रसव की बात नहीं लिखी है। बीच मे कुछ पंक्तियो का व्यवधान देकर तब सीता के दो पुत्रों के जन्म का उल्लेख किया है जिससे यह अनुमान भले ही लगा लिया जाए कि उन्होंने सीता के पुत्र-प्रसव को गृह वास से पृथक रखा है, लेकिन इसका कोई स्पष्ट आधार नही है और मानस मे अश्वमेध की चर्चा तो पुत्र प्रसव से भी पहले आ जाती है[2] जिससे यह प्रतीत होता है कि मानसकार ने वाल्मीकि के इस प्रसंग के ताने बाने उधेड दिए हैं और अपनी ओर से नूतन प्रसंग-सृष्टि नही की है, केवल कुछ चलते हुए उल्लेख भर किए हैं जिनमे मानवीय यथार्थ की पीठिका का कोई प्रश्न ही नही उठता।

प्रसंग-कल्पना और मानसिक तनाव

प्रबन्धकाव्य में कथा कंकाल को प्रभावशाली बनाने के लिए कवि उसके विभिन्न प्रसंगों मे हृदय स्पन्दन का समावेश कर उसे सजीवता प्रदान करते हैं। हृदय स्पन्दन का एक शक्तिशाली रूप मानसिक तनाव है। मानसिक तनाव के अन्तर्गत अन्तर्द्वन्द्व के साथ परिस्थिति और व्यक्ति की कामना की प्रतिकूलता का अन्तर्भाव हो जाता है। व्यक्ति की कामना जितनी तीव्र और परिस्थिति की प्रतिकूलता जितनी सशक्त होगी मानसिक तनाव भी उतना ही निखर सकेगा।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे से प्रथम मे उत्तरवर्ती प्रसंगो मे इस प्रकार का निखार अधिक है जबकि द्वितीय के प्रारम्भ मे मानसिक तनाव चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है।

वाल्मीकि रामायण म राम द्वारा शिवधनुषारोपण द्वन्द्वरहित है जबकि मानस के इस प्रसंग म द्वन्द्व बहुत पैनाया गया है। धनुष-यज्ञ से पूर्व राम के नगरभ्रमण के प्रसंग द्वारा राम के प्रति नगरवासियो के हृदय म अनुराग अंकुरित करके पुष्प-वाटिका मे सीता राम की पूर्वराग-योजना द्वारा सीता के हृदय मे राम वरण की कामना उत्पन्न कर, राम के 'वय किसोर मृदु गात' के प्रति सीता की माँ के मन में वात्सल्य जगाकर और पुत्री के विवाह के लिए राजा जनक की उद्विग्नता व्यक्त

---

[1] —मानस, ७/२४/३ ४

[2] —वही, ७/२३/१

करते हुए सब की कामनाओ के विरोध मे शिवधनुप की कठोरता को रखकर मानसकार ने अपूर्व मानसिक तनाव की सृष्टि की है—

> सबकर ससउ अरु अग्यानू । मद महीपन्ह कर अभिमानू ॥
> भृगुपति केरि गरब गरुआई । सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई ॥
> सिय कर सोच जनक पछितावा । रानिन्हकर दारुन दुख दावा ॥
> सभुचाप बड बोहितु पाई । चढे जाइ सब सग बनाई ॥
> राम बाहुबल सिधु अपारू । चहत पारु नहि कोउ कडहारू ॥[1]

धनुभंग के अवसर पर मानसिक तनाव की सघनता का प्रमुख कारण यह है कि वहाँ निर्णय का क्षण एकदम सन्निकट है और उस निर्णय के साथ सीता राम का *पारस्परिक आकर्षण ही नहीं, राजा जनक की प्रतिष्ठा, उनकी पत्नी का वात्सल्य* और नगरवासियो की राम के प्रति आत्मीयता की भावना भी जुडी हुई है। परशुराम का दर्प यद्यपि तब तक कथा मे प्रविष्ट नही हुआ है, किन्तु कवि के मन पर उसकी छाया पहले से ही मंडराती रही है और इसलिये मानसकार ने मानसिक तनाव के विभिन्न पक्षो मे इस पक्ष का समाहार भी कर दिया है। राम द्वारा शिव-धनुप भग कर दिया जाने पर कवि ने विभिन्न पक्षीय मानसिक तनाव का शमन उस रूपक के निर्वहण द्वारा किया है जिस रूपक के माध्यम से उसने विभिन्न पक्षीय मानसिक तनाव की सृष्टि की ओर सकेत किया था—

> *सकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहुबलु।*
> बूड सो सकल समाज चढा जो प्रथमहि मोहबस ॥[2]

धनुप टूटने पर ऐसा लगता है कि सीताराम-परिणय के मार्ग की बाधा अब समाप्त हो ही गई कि तभी पहले खीझे हुए राजाओं द्वारा बल प्रयोग का विचार व्यक्त करवाकर और उसके तुरन्त बाद परशुराम का आगमन दिखलाकर कवि ने एकबार पुनः कामनापूर्ति के मध्य अवरोध लाकर शमित होते हुए मानसिक तनाव को ऊपर उठा दिया है।

इस दृष्टि से मानस का यह प्रसग वाल्मीकि रामायण की तुलना में कहीं उत्कृष्ट है। *वाल्मीकि रामायण मे परशुराम भेंट से पूर्व सीता-राम परिणय हो चुका* होता है और वहाँ परशुराम से भेंट अयोध्या के मार्ग मे होती है जहाँ उनके द्वारा उत्पन्न की गई बाधा से जनक-पक्ष के प्रभावित होने का प्रश्न नहीं उठता। उनके अवरोध का प्रभाव बहुत सीमित रहता है। इसके साथ ही वाल्मीकि रामायण में

---

[1] १— मानस, १।२५९।२-४
[2] २—वही. २/२६१

परशुराम उतने बौखलाये हुए दिखलाई नही देते जितने मानस मे। वहां वे खल्ती अधिक प्रतीत होते हैं। इसलिए भी वाल्मीकि रामायण मे परशुराम के साथ भेंट होने पर वैसे मानसिक तनाव की सृष्टि नही होती जैसा कि मानस मे परशुराम के मिथिला-गमन के अवसर पर दिखलाई देता है।

राम के निर्वासन के प्रसंग मे मानसिक तनाव की सृष्टि दोनो कवियों ने की है, किन्तु इस प्रसंग मे वाल्मीकि को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है क्योंकि वहाँ राम के यौवराज्य के लिए दशरथ, कौसल्या और लक्ष्मण अधिक लालायित हैं—यहाँ तक कि निर्वासन का आदेश राम को भी अप्रिय लगता है, लेकिन वे धर्म बचन के कारण उसके पालन के लिये कटिबद्ध हैं। इस प्रकार मनोकामना और परिस्थिति का विरोध वाल्मीकि के इस प्रसंग मे बहुत घना है जबकि मानस मे राम निर्वासन-आदेश के पालन के लिये समुत्सुक हैं और लक्ष्मण कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नही करते हैं। कौसल्या को पहले आघात लगता है, किन्तु वे तुरंत सम्हल जाती हैं। दशरथ की व्याकुलता अवश्य ही मानसिक तनाव को सघन बना देने मे महत्त्वपूर्ण योग देती है।

राम के निर्वासन के उपरात भरत के अयोध्या-प्रत्यावर्तन के साथ दोनों काव्यो मे मानसिक तनाव नये रूप मे व्यक्त होता है। राम का निर्वासन भरत की सुरुचि और भ्रातृनिष्ठा के सर्वथा विपरीत था। इसलिये इस जानकारी से कि उनके निमित्त से राम निर्वासित हुए और उसी कारण से पिता का स्वर्गवास हुआ उनको बडा आघात लगता है और वे चित्रकूट पहुँचने तक उस आघात से तडपते रहते हैं दोनों काव्यो मे भरत की भ्रातृभक्ति और अपयश चिन्ता के परिणामस्वरूप मानसिक तनाव ने भरत के व्यक्तित्व को बुरी तरह मथ दिया है। वाल्मीकि रामायण मे राम और भरत को आग्रहारूढ दिखलाकर तनाव की सृष्टि तो की गई है, किन्तु मानस-जैसा मानसिक तनाव वहाँ दिखलाई नहीं देता। मानस म राम और भरत के धर्म संकट से इस प्रसंग के मानसिक तनाव मे बडा निखार आ गया है।

स्वर्ण मृग प्रसंग मे सीता के कठोर शब्दो मे विवश होकर राम की खोज के लिये लक्ष्मण के जाने के अवसर पर वाल्मीकि ने हल्के से मानसिक तनाव की सृष्टि की है, किन्तु मानस के कवि ने 'मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछमन मन डोला।' मे सारे प्रसग को समेटकर और ईश्वरेच्छा से लक्ष्मण को परिचालित दिखलाकर मानसिक तनाव की उपेक्षा की है।

सीता हरण के उपरात राम के हृदयविदारक विलाप और क्षोभवश उन्हें विश्व विनाश पर उतारू होते दिखलाकर वाल्मीकि ने मानसिक तनाव को कथा मे अंत प्रवाहित रखा है। मानसकार ने भी इस स्थल पर राम के विक्षोभ के सजीव चित्रण के माध्यम से मानसिक तनाव की अभिव्यक्ति की है, किन्तु उसके तुरन्त बाद राम के मुख से नारी-मोह की निन्दा करवाकर उसने सारे तनाव को धो दिया है।

वालिवध के अवसर पर वाल्मीकि ने राम को अपने मूल्यों-धर्म-के विरुद्ध आचरण करने के लिये विवश दिखलाकर वाली की चुनौती के उत्तर में उनकी सिटपिटाहट के माध्यम से मानसिक तनाव की हल्की सी झाँकी प्रस्तुत की है, और उसी प्रसंग में दृप्त वाली को वात्सल्यवश (अंगद की चिंता के कारण) पिघलते दिखलाकर मानसिक तनाव की सूक्ष्म व्यंजना की है। मानसकार ने राम के आचरण को न्यायोचित दिखलाकर और वाली के व्यवहार परिवर्तन के मूल में भक्ति को रखकर मानसिक तनाव को स्थान नहीं दिया है। कृतघ्नता की चेतना से राम की व्यथा के चित्रण में दोनों कवियों ने मानसिक तनाव व्यक्त किया है; किन्तु वाल्मीकि ने उसे विशद रूप में अंकित कर प्रसंग को अधिक प्रभावशाली बना दिया है।

सीता के त्रास के चित्रण में दोनों कवियों ने मानसिक तनाव की सफल सृष्टि की है, किन्तु मानसकार कुछ अधिक सफल रहा है। उसने सीता पर रावण के अत्याचार की मात्रा अधिक दिखलाई है और इसलिए सीता की व्याकुलता भी अधिक है। इसके साथ ही हनुमान के लंका-दहन का आतंक भी राक्षस-पक्ष पर अधिक *दिखलाया है। रही-सही कमर अंगद के दूतत्व ने पूरी कर दी है और उसका परिणाम* यह हुआ है कि प्रबल दुराग्रह के बावजूद रावण को उन्होंने निरन्तर हतोत्साह होते दिखलाया है, किन्तु मेघनाद-वध से विचलित होकर सीता को मार डालने की कल्पना के द्वारा वाल्मीकि ने रावण के मानसिक तनाव की जैसी सृष्टि की है, वैसी तुलसीदासजी नहीं कर पाये हैं।

इसी प्रकार माया-रचित राम और सीता के वध से क्रमश: सीता और राम की व्यथा के चित्रण में भी वाल्मीकि ने मानसिक तनाव की अच्छी सृष्टि की है। दूसरी ओर प्रतिनायकों की मृत्यु पर उनकी पत्नियों—तारा और मन्दोदरी के विलाप में भी मानसिक तनाव की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है : मानसकार ने माया-रचित सीता और राम के वध को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है और तारा और मंदोदरी के विलाप में भक्तिजनित पूर्वाग्रह के कारण मानसकार मानसिक तनाव की सृष्टि नहीं कर पाया है। लक्ष्मण-मूर्च्छा के प्रसंग में दोनों काव्यों में मानसिक तनाव की अभिव्यक्ति की गई है, किन्तु मानसकार ने राम को अपने मूल्यों से विचलित होते दिखलाकर शोकावेग की प्रबलता में मानसिक तनाव की शक्ति अधिक दिखलाई है।

*वाल्मीकि ने अग्नि-परीक्षा के प्रसंग में सीता के मानसिक तनाव की थोड़ी-*सी झलक दिखलाई है जो अल्पकालिक होते हुए भी प्रभावशाली है। मानसकार ने इस प्रसंग में लक्ष्मण की असहमति के रूप में मानसिक तनाव की ओर संकेत भर किया है।

रामायण में सीता-परित्याग का प्रसंग मानसिक तनाव की दृष्टि से बहुत

महत्त्वपूर्ण है। भवभूति ने उसका पूरा-पूरा उपयोग किया है, किन्तु मानसकार ने अपने आराध्य देव के जीवन के इस अध्याय को नहीं खोला है और उत्तररामचरित-सम्बन्धी प्रसंगों की ओर दो-एक बिखरे-बिखरे-से संकेत कर संतोष कर लिया है। ऐसे संकेतों में मानसिक तनाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

उदात्त प्रसंग

वाल्मीकि की दृष्टि यथार्थपरक होने के कारण उनके काव्य में अतिरंजना और नैतिक उत्कर्ष के लिए सीमित अवकाश रहा है जबकि मानसकार ने अपने काव्य में कथा को अधिकाधिक नैतिक उत्कर्ष की ओर ले जाने का प्रयत्न किया है। मानसकार के इसी प्रयत्न के कारण मानसकथा में शक्ति, शील और सौन्दर्य[1] की अपूर्व झांकी देखने को मिलती है। यद्यपि मानसकार की दृष्टि एकांगी और अतिरंजनापूर्ण रही है[2], फिर भी अतिरंजना के बल पर कवि ने कथा को उदात्त रूप प्रदान किया है। एक सीमा तक अतिरंजना उदात्त की साधक होती है।[3] इसके साथ ही मानस के अनेक प्रसंगों में जो अथाह भावात्मक गहराई मिलती है, वह अपने असीमता बोध के कारण उस प्रसंग को उदात्त की श्रेणी में पहुँचा देती है। वाल्मीकि रामायण में ऐसे प्रसंग सीमित हैं, लेकिन उनका सर्वथा अभाव नहीं है।

यदि ऐसे प्रसंगों की खोज की जाय जो दोनों काव्यों में उदात्त रूप में व्यक्त हुए हैं तो दो प्रसंगों में दोनों कवियों की उदात्त कल्पना की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। भरत की व्यथा और रावण के विरुद्ध राम का संघर्ष ये दो प्रसंग दोनों काव्यों में उदात्त रूप में व्यक्त हुए हैं। भरत की व्यथा में निहित भावावेग की प्रबलता[4] और नैतिक उत्कर्ष[5] ने उसे उदात्त रूप प्रदान किया है तो रावण के विरुद्ध राम के संघर्ष में शक्ति की असीमता ने। मानस के राम-रावण संघर्ष में रावण की शक्ति की कल्पना की व्यंजना के कारण उसके विरुद्ध लड़ने वाले राम की शक्ति की अभिव्यंजना वाल्मीकि रामायण की तुलना में हल्की पड़ती है,[6] फिर भी उस सीमा तक

---

[1] १—द्रष्टव्य—पं० रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १३३

[2] २—द्रष्टव्य—डॉ० श्रीकृष्णलाल, मानस-दर्शन, पृ० ४७-५८

[3] ३—द्रष्टव्य—लोंजाइनस, काव्य में उदात्त तत्त्व, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० १०२

[4] ४—'इस दृष्टि से उदात्त उन्मेषपूर्ण संवेग की चूडान्त घनीभूत अवस्था है।'
—डॉ० कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृ० ९९

[5] ५—'उदात्त की विशेषता यह है कि इस ससीमता अथवा हीनता की अनुभूति के क्षणों में भी मानव चित्त को पहले की अपेक्षा महानता के किंचित ऊंचे धरातल पर पहुँचा जाता है।' —वही, पृ० ९९

[6] ६—द्रष्टव्य—डॉ० श्रीकृष्णलाल, मानस दर्शन, पृ० ५१

नही कि उसकी उदात्तता लुप्त हो गई हो। धर्मरथ के रूपक ने राम के नैतिक पक्ष को सबल बनाकर प्रचुरांश मे क्षतिपूर्ति कर दी है। भरत की व्यथा की चूडान्त अभिव्यक्ति ने दोनो काव्यो मे उदात्त के समावेश मे योग दिया है,[1] किन्तु मानसकार ने वसिष्ठ द्वारा भरत के मनोभावो की परीक्षा का प्रयत्न दिखलाकर इस प्रसंग को और भी उदात्त बना दिया है। उदात्त के लक्षण निर्देश के अंतर्गत जो यह कहा गया है कि 'प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त उदात्त, एक ओर, मानव हृदय पर अपनी असीमता का रौब गांठता है और दूसरी ओर मानव-चित्त को उसकी संकोची ससीमता का बोध देना है'[2], वह उक्त प्रसंग मे मूर्तिमान होकर सामने आता है। एक ओर 'भरत महामहिमा जल रासी' हैं तो दूसरी ओर किनारे पर खडी हुई अबला के समान मुनि मति है।

भरत महा महिमा जल रासी। मुनि मति तीर ठाढि अबलासी॥
गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा।
ओरु करिहि को भरत बडाई। सरसी सीप कि सिंधु समाई॥[3]

मानसकार ने वाल्मीकि रामायण के इस प्रसंग मे राम की दृढता की कठोर अभिव्यक्ति के वैपरीत्य म राम के आचरण की स्नेहपूर्ण कोमलता को चरमता पर पहुंचाकर समस्त प्रसंग को ऐसा उदात्त रूप दिया है जिससे अभिभूत होकर सूक्ष्म द्रष्टा समीक्षक ने इस प्रसंग को आध्यात्मिक घटना की संज्ञा दे डाली है।[4]

वाल्मीकि रामायण मे भरत के चित्रकूट पहुंचने पर राम द्वारा उनके प्रति अगाध विश्वास की अभिव्यक्ति भी उदात्त का एक अच्छा उदाहरण है जबकि मानस मे आकाशवाणी होने तक राम के मौन रहने से उदात्त खंडित हुआ है। इसी प्रकार खरदूषण-वध म वाल्मीकि के राम का पराक्रम उदात्त है जबकि मानस मे वह खिलवाड-सा प्रतीत होता है। अतिरंजना की अधिकता से उदात्त को क्षति होती है।[5]

दूसरी ओर मानस मे कुछ ऐसे प्रसंगो को उदात्त बना दिया गया है जो

---

१ – द्रष्टव्य—डॉ० कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृ० ९९

२ – द्रष्टव्य—डॉ० कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृ० ३९

3 – मानस, २/२५६/१ २

४ – द्रष्टव्य—प० रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १५०

५ – निर्दिष्ट सीमा के परे चले जाने से अतिशयोक्ति अलंकार नष्ट हो जाता है और यदि ऐसी उक्तियों को बहुत खींचा जाय तो उनका तत्त्व कम हो जाता है और कभी-कभी तो सर्वथा विपरीत प्रभाव ही पड़ने लगता है।
—लौंजाइनस, काव्य में उदात्त तत्त्व, स० डॉ० नगेन्द्र पृ० १०२-३

वाल्मीकि में उदात्त नहीं हैं। धनुष-भंग के अवसर पर निराशा के वातावरण मे लक्ष्मण की उद्दीप्ति और सबकी व्याकुलता के मध्य राम की आश्वस्तता की अभिव्यक्ति तथा राम के पराक्रम के उत्तरोत्तर प्रकर्ष से यह प्रसंग उदात्त बन गया है। इसी प्रकार निर्वासन आदेश के प्रति राम की उत्साहपूर्ण प्रतिक्रिया से निर्वासन-प्रसग मे उदात्तता का समावेश हुआ है।

वाल्मीकि रामायण के कुछ अनुदात्त प्रसंगो को मानसकार ने उदात्त बनाया है। निर्वासन प्रसग मे वाल्मीकि की कौसल्या की प्रतिक्रिया मे संकुचित मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है। राजा दशरथ के प्रति उनके उपालम्भ और भरत के प्रति आरम्भिक सदेहपूर्ण व्यवहार अनुदात्त प्रतीत होता है, किन्तु मानसकार ने उनकी प्रतिक्रिया को उलटकर उनके आचरण को उदात्त बना दिया है। इसी प्रकार वाल्मीकि ने वाली द्वारा राम की धर्मपरायणता को दी गई चुनौती का राम से कोई समुचित उत्तर न दिलवाकर उक्त प्रसंग को अनुदात्त रूप मे अंकित किया है। मानसकार ने इस चित्र मे पर्याप्त संशोधन कर उसे अनुदात्त नही रहने दिया है, भले ही वह उसे उदात्त न बना पाया हो।

प्रसंग-संग्रथन-कौशल और अन्विति-संयोजन

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे कथा की मानसिक पीठिका का अंतर स्पष्ट हो जाने के उपरान्त दोनो कवियो के प्रसग-सग्रथन-कौशल और विभिन्न प्रसगों मे परस्पर अन्विति-संयोजन का विचार आवश्यक है क्योंकि कथा-सौन्दर्य संरचना-कौशल पर भी बहुत निर्भर करता है। कथा का रूप-पक्ष अधिकांशत. संरचना-निर्भर ही होता है और काव्य मे कथा-संरचना के जो दो स्तर—प्रसग-संरचना और प्रबंध-संरचना होते हैं—उनमें सर्वप्रथम-प्रसग-संरचना का विचार होना चाहिये क्योंकि प्रसंग संरचना छोटी इकाई है और ऐसी छोटी इकाइयो से ही प्रबंध के कलेवर का गठन होता है।

एक ही परम्परा के दो काव्यो की कथा के तुलनात्मक अनुशीलन मे जब कथा पीठिका मे अंतर दिखलाई देता हो और जब कवि ने स्पष्ट शब्दो मे इस बात की घोषणा की हो कि वह पूर्व परम्परा से भलीभांति परिचित है और जब वह इस ओर से सचेत भी हो कि उसकी कथा परम्परागत कथा से भिन्न है तो यह विश्वास करने के लिये पर्याप्त कारण मिल जाता है कि कवि ने जानबूझ कर कथा में परिवर्तन किया है और तब यह देखना आवश्यक हो जाता है उन परिवर्तनों को विश्वसनीय बनाने के लिये उसने किस कौशल से काम लिया है।

वाल्मीकि की दृष्टि में ग्रथन-कौशल पर उतनी नही रही है जितनी कथा-विस्तारों पर। इसलिये वाल्मीकि के काव्य मे सूक्ष्म निरीक्षण तो विस्मयजनक है, किन्तु कथा-संरचना उतनी कलात्मक नही है। इसके विपरीत मानसकार कथा-संरचना के प्रति बहुत जागरूक रहा है और विस्तार एवं संक्षेपण दोनों का संतुलन बनाये रखने का प्रयत्न भी उसने किया है।[1] इसके साथ ही वह कथागत परिवर्तनों की ओर से भी जागरूक रहा है।[2] इसलिए मानस में—विशेषकर मानस के पूर्वार्द्ध मे—कथा-संरचना बहुत ही कौशलपूर्ण दिखलाई देती है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानसकार ने बहुत सम्हल सम्हल कर परिवर्तनों को कथा मे स्थान दिया है और परिवर्तन के लिए सजगतापूर्वक बड़ी तैयारी की है।

पूर्वपीठिका-सृष्टि

वाल्मीकि की कथा निरीक्षणपरक है इसलिए उसमे किसी विशेष दिशा में कथा को मोड़ने की सचेतन चेष्टा दिखलायी नहीं देती जबकि मानस मे—विशेषकर बालकांड और अयोध्याकांड की कथा में—कथा प्रसंगों में परिवर्तन के लिए कवि की तैयारी बहुत अधिक रही है। प्रसंगोत्थान से काफी पहले से वह ऐसी भूमिका बाँधता है जिसके परिणामस्वरूप परवर्ती प्रसंग मे परिवर्तन अपरिहार्य हो जाता है और वह परिवर्तन पूर्वपीठिका की संगति मे अत्यन्त स्वाभाविक रूप से कथा की तर्कसंगत परिणति का रूप ले लेता है।

बालकांड में धनुष यज्ञ में व्यापक मानसिक तनाव के लिए मानसकार ने प्रसन्नराघव का अनुसरण करते हुए पुष्पवाटिका में सीता-राम-मिलन पहले ही करा दिया है और नगर-भ्रमण का प्रसंग उपस्थित कर सभी मिथिलावासियों के मन में राम के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया है।[3] उससे भी पूर्व विश्वामित्र के मिथिला-प्रवेश के तुरन्त बाद राजा जनक के मन में राम के प्रति अनुराग की सृष्टि कर दी है[4] और इस प्रकार सीता के वर रूप मे राम को व्यापक रूप से काम्य ठहरा कर मानसकार ने धनुष यज्ञ की पूर्वपीठिका बहुत पहले ही तैयार कर दी है और उस पीठिका पर बहुमुखी मानसिक तनाव की प्रभावशाली सृष्टि हुई है।

अयोध्याकांड की कथा मे मानसकार ने वाल्मीकि की कथा से बहुत अन्तर रखा है इसलिये उसने उसके लिए बहुत पहले से और बहुत जोरदार तैयारी की है।

१—कहेउँ रघु हरि चरित अनूपा। व्यास समास स्वमति अनुरूपा ॥—मानस, ७/१२२/१

२—कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ॥

करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी ॥—वही, १/३२/३ ४

३—मानस १/२२२/१—२२२/४

४ वही, १।२१६।३

बालकांड से ही तुलसीदासजी ने राम के भ्रातृ-प्रेम की अभिव्यक्ति आरम्भ कर दी है[1] और अयोध्याकांड में एक ओर भरत के प्रति अविश्वास सूचक कथांश को मानसकार ने छोड़ दिया है तो दूसरी ओर राम के मंगलसूचक अंगों के फड़कने के व्याज से कवि ने यौवराज्याभिषेक के अवसर पर राम के भरत-प्रेम को व्यक्त कर दिया है।[2] राज्य के प्रति पहले से ही राम की उदासीनता दिखला दी है[3] जिससे आगे चलकर निर्वासन-आदेश से उन्हें कोई आघात नहीं लगता। इसके साथ ही कवि ने मंथरा की प्रेरणा में वाल्मीकि से अन्तर रखकर निर्वासन की सारी पृष्ठभूमि ही बदल दी है जबकि वाल्मीकि में ऐसी कोई पूर्वपीठिका न होते हुए भी राजा दशरथ के परिवार की आन्तरिक कलह के संकेत व्यापक रूप से विकीर्ण हैं।[4] मानसकार ने उन संकेतों को अपनी कथा से निष्कासित करने के साथ ही नये रूप में दशरथ-परिवार का चित्र उपस्थित करने के लिए नयी पृष्ठभूमि अंकित की है। फलतः राम के निर्वासन की प्रतिक्रिया में मानस की कौसल्या की उदारता और लक्ष्मण की चुप्पी सहज संगत प्रतीत होती है जबकि वाल्मीकि में उनकी उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है जो वाल्मीकि-चित्रित दशरथ परिवार की संगति में है। पूर्वपीठिका में अन्तर के परिणामस्वरूप मानस में भरत का आचरण भी वाल्मीकि की तुलना में थोड़ा सा भिन्न दिखलाई देता है। वाल्मीकि में अपयश-चिन्ता की प्रमुखता और भरत के हठ के जो दर्शन होते हैं, मानस में उसके स्थान पर आनुत्व और समर्पणशीलता को महत्त्व दिया गया है और उसकी जड़ें उसी भ्रातृ प्रेम में निहित हैं जिसका चित्रण बालकांड से ही आरम्भ हो गया है। भरत के चित्रकूट-प्रयाण के अवसर पर कवि ने एक बार पुनः उसकी याद दिला दी है—

> मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
> सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
> मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥[5]

अरण्यकांड की कथा में वाल्मीकि रामायण और मानस में तात्त्विक विभेद न होने के कारण मानसकार को किसी पूर्वपीठिका की सृष्टि की आवश्यकता नहीं हुई है। लंकाकांड के अंत में सीता की अग्नि परीक्षा की पूर्वपीठिका की सृष्टि के लिए अध्यात्मरामायण का अनुसरण करते हुए सीता के अग्नि प्रवेश की घटना अवश्य जोड़ी गई है।

१—मानस, १/२०४ २
२—वही, २/६/२ ४
३—वही, २/९/३ ४
४—द्रष्टव्य—पिछले पृष्ठों में दोनों काव्यों के परिवार चित्रण की तुलना।
५—मानस, २/२५२/३ ४

सुग्रीव को वाल्मीकि ने राम-सखा के रूप मे उपस्थित किया है, किन्तु मानसकार ने उसे रामभक्त माना है और इसलिए किष्किधाकाड के आरम्भ मे ही हनुमान के भक्ति-विषयक उद्गारो को स्थान दिया गया है। हनुमान के ये उद्गार वानरो की रामभक्ति की पूर्वपीठिका का कार्य करते हैं।

सुन्दरकाण्ड मे कथा का मूल भाग दोनो काव्यो म समान है, किन्तु मानस के सुन्दरकाड में विभीषण के आचरण को वाल्मीकि से भिन्न रूप देने के लिए मानसकार ने हनुमान के लका-प्रवेश के तुरन्त बाद हनुमान विभीषण की भेंट कराकर भ्रातृ-द्रोह को सज्जनता मे बदलने की भूमिका बाँध दी है।

वाल्मीकि और मानस के लकाकाण्ड मे विस्तारो का तो बहुत अन्तर है, किन्तु कथा-प्रवृत्ति मे बहुत थोडा भेद दिखलायी देता है। वाल्मीकि ने रावण की माया से सीता और राम को त्रस्त होने दिखलाया है, किन्तु मानसकार ने रावण को राम के पराक्रम से आतकित और हताश होने दिखलाया है। इस आतक और हताशा की पूर्वपीठिका के रूप मे मानसकार ने अगद के दूतत्व को भिन्न रूप मे प्रस्तुत किया है और अगद के पराक्रम के समक्ष राक्षसो के हतप्रभ होने का क्रमिक विकास दिखलाया है।

सूक्ष्म विस्तार-संयोजन

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के कथा-प्रसंगो में यत्र-तत्र सूक्ष्म विस्तारगत अन्तर दिखलायी देता है जिसके परिणामस्वरूप कथा-सौन्दर्य प्रभावित हुआ है। ऐसे विस्तारगत अन्तर की चर्चा अपने आप मे भी बहुत रोचक है। विस्तारगत अन्तर बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड में बहुत है।

सर्वप्रथम विश्वामित्र-प्रसग मे इस प्रकार का अन्तर दिखलाई देता है। वाल्मीकि रामायण मे विश्वामित्र की माँग के समय राम लक्ष्मण उपस्थित नही होते, किन्तु मानस मे विश्वामित्र के आते ही उनके माँगे बिना ही चारो पुत्रो को उनकी सेवा मे उपस्थित कर तथा उनके प्रति विश्वामित्र का भक्तिभाव प्रदर्शित कर उस प्रकार के विरोध के लिए अवकाश नही रहने दिया गया है जैसा वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देता है। समस्त मिथिला-प्रसग वाल्मीकि से भिन्न है, किन्तु प्रसन्नराघव की तुलना मे भी, जहाँ से यह प्रसग लिया गया है, इसके विस्तारो मे सूक्ष्म अन्तर है। लज्जा और सकोच से कामभवरोध की कल्पना मानसकार की अपनी है। हनुमन्नाटक के रामोक्त 'वीरविहीन मही'-विषयक शब्दो को मानसकार ने राम से हटाकर जनक से कहलवाया है।

वाल्मीकि के अयोध्याकाण्ड मे भरत के आगमन से पूर्व राम के अभिषेक के लिए दशरथ की आतुरता और उसमे राम की सहमति का जो उल्लेख है वह तो

मानस मे से निकाल ही दिया गया है, उसके साथ ही भरत को राजा बनाने से सम्बन्धित राजा दशरथ के वचन की भी कोई चर्चा मानस मे नही आई है। वाल्मीकि का कौसल्या के समान मानस की कौसल्या भी पितृ आदेश की तुलना मे मातृ आदेश को रखती हैं किन्तु वे वाल्मीकि की कौसल्या के समान उस तुलना के द्वारा पिता की आज्ञा के विरोध मे राम को अयोध्या मे रोक रखने का प्रयत्न न कर पिता के आदेश के साथ माता कैकेयी की सहमति से पितृ आदेश को और अधिक बल प्रदान करती हैं। वाल्मीकि द्वारा चित्रित लक्ष्मण का निर्वासनादेश विरोध तो मानसकार ने छोड दिया है, किन्तु इस प्रसग मे आई हुई उनकी उक्तियो को अन्यत्र बडी सुन्दरता से उन्हीं के मुख से कहलवा दिया है। वाल्मीकि रामायण मे निर्वासन का विरोध करते हुए वे राम के भाग्यवाद को निरस्त करने के लिये कर्मवाद का आश्रय लेते हैं और इस सम्बन्ध मे कहते हैं कि भाग्य के भरोसे वीर्यहीन लोग रहते हैं—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीरा सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥[1]

इस उक्ति को मानसकार सागर-बन्धन के प्रसंग मे ले गया है—

कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा ॥[2]

अन्विति और वेग

वाल्मीकि रामायण और मानस मे कथा-प्रसगों के कालान्तराल मे कहीं कही अन्तर मिलता है जिसके परिणामस्वरूप कथा की अन्विति म भी अन्तर आ गया है। इसके साथ ही दोनो के कथावेग मे भी अन्तर है जिससे कथा-सगठन का सौन्दर्य प्रभावित हुआ है।

प्रथम प्रकार का उदाहरण बालकाण्ड मे मिलता है। वाल्मीकि मे चापरोपण द्वारा राजाओ के पराक्रम की परीक्षा एक बीती हुई घटना है, लेकिन मानसकार ने हनुमन्नाटक का अनुसरण करते हुए धनुष यज्ञ के रूप मे राजाओं की वीर्यहीनता के प्रकाशन के अवसर पर ही राम से चापारोपण करवाया है जिससे दोनों प्रसगो—राजाओ की असफलता और राम की सफलता—के मध्य निकटता आ जाने से वैपरीत्य बोध के कारण राम का पराक्रम निखर उठा है। इससे पूर्व मानसकार ने प्रसन्नराघव के अनुसरण पर पूर्वराग का प्रसंग भी जोड दिया है, लेकिन प्रसन्नराघव म धनुष यज्ञ और पूर्वराग मे समय का जो व्यवधान था, उसे मानसकार ने छोड़ दिया है। इसके साथ ही परशुराम-प्रसग को भी (पुन हनुमन्नाटक का अनुसरण

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, २।२३।१६

[2] —मानस, ५/५०/२

करते हुए) मानसकार धनुर्भंग के निकट ले आया है। वाल्मीकि रामायण में परशुराम से राम की भेंट विवाहोपरान्त अयोध्या लौटते समय होती है जिसमे धनुर्भंग के रूप मे राम के पराक्रम के प्रकाशन और परशुराम-पराभव के माध्यम से राम के पराक्रम की अभिव्यक्ति के मध्य समय का व्यवधान आ गया है और इन व्यवधानो के परिणामस्वरूप वाल्मीकि रामायण मे मिथिला-प्रसंग बहुत बिखर गया है, लेकिन मानसकार ने वाल्मीकि के परवर्ती और मानस के पूर्ववर्ती काव्यो की श्रेष्ठ प्रवृत्तियो का विवेकपूर्ण अनुसरण करते हुए विभिन्न स्रोतो से एकत्र सामग्री को संस्कारपूर्वक ग्रहण करते हुए अपनी प्रतिभा के बल पर उसके सौन्दर्य को और अधिक उत्कर्ष प्रदानकर उसमे जो अन्विति उत्पन्न की है उससे मानस मे सम्पूर्ण मिथिला-प्रसंग भव्य रूप मे उपस्थित हुआ है। इस अन्विति के परिणामस्वरूप मानस के बालकाण्ड में राम का पराक्रम निरन्तर प्रकृष्टतर रूप मे व्यक्त होता गया है। वाल्मीकि की तुलना मे मानस के मख-रक्षा प्रसंग और मिथिला प्रसंग मे बहुत ही कम व्यवधान दिखलाई देता है क्योंकि मानसकार ने वाल्मीकि रामायण मे वर्णित अनेक अवान्तर कथाओं को छोड दिया है। इन व्यवधानो के निकल जाने से मख प्रसंग मे ताडका सुबाहु वध, मिथिला मे धनुष-यज्ञ के अवसर पर राजाओ की असफलता के उपरांत राम की सफलता और अंतत परशुराम के आगमन से राम के पराक्रम को, अधिकाधिक उत्कर्ष के अवसर निरन्तर मिलते गये हैं जिससे राम का पराक्रम ऊपर उठता चला गया है और कथा गति मे आरोह बना रहा है।

अयोध्याकाण्ड मे दोनो काव्यो की कथा मे अन्विति बनी रही है, फिर भी वाल्मीकि की कथा मे वैसी अकुंठित गति नही है जैसी मानस में दिखलाई देती है। मानस के अयोध्याकाण्ड मे न तो कोई अवान्तर कथा है न लेखक कथा-प्रसंगो पर अनावश्यक रूप से ठहरा रहा है जबकि वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड मे श्रवणकुमार की कथा सविस्तार आने से मूल कथा कुछ समय के लिए रुक गई है। इसके साथ ही राम के यौवराज्याभिषेक के प्रसंग की विभिन्न जटिलताओ को वह एक-एक करके धीरे-धीरे सामने लाता रहा है और उसके लिये वह प्रायः पूरे विस्तार मे जाता रहा है। फलत कथा गति काफी मंद रही है जबकि मानसकार अद्भुत सम्पादन-प्रतिभा के बल पर खूब काट छाँट करके आवश्यकतानुसार विस्तारों मे गया है। आवश्यक विस्तारो को बनाये रखकर अनावश्यक विस्तारो से बचे रहने के परिणामस्वरूप मानस-कथा की सजीवता की रक्षा हुई है और उसकी मंद गति का परिहार होकर कथा मे गतिशीलता (यथावश्यक वेग) आ गई है।

आगे चलकर मानस कथा का वेग इतना तीव्र हो गया है कि उसमे अनेक आवश्यक विस्तार भी छूट गये हैं—विशेषकर आरण्यकाण्ड और किष्किंधाकाण्ड मे

वाल्मीकि ने अरण्यकाण्ड मे शूर्पणखा के विरूपीकरण का समाचार रावण को दो बार सुनाया है—पहले अकम्पन के मुख से और तदुपरात शूर्पणखा के मुख से—और दोनों बार भिन्न भिन्न स्तरो पर रावण की प्रतिक्रिया अंकित की है। मानसकार ने कथा-वेग मे अकम्पन के सन्देश-वहन का प्रसग तो छोड ही दिया है, शूर्पणखा के समाचार मे भी वह वैसी तीक्ष्ण उत्तेजना नहीं रख पाया है जैसी वाल्मीकि रामायण मे दिखलायी देती है।

इसी प्रकार कथा वेग मे तारा द्वारा लक्ष्मण को समझाये जाने के अत्यन्त मनोवैज्ञानिक प्रसग को मानसकार ने बडी त्वरा के साथ समाप्त कर दिया है जबकि वाल्मीकि ने अपनी सहज मथर गति से इस प्रकरण को बडा सजीव रूप दिया है।

हनुमान द्वारा सीता की खोज मे भी मानसकार एक अपरिचित स्थान पर अपरिचित व्यक्ति को खोजने के विस्तार को बडे कौशल से बचाकर कथा-गति को शैथिल्य से बचा गया है। शीघ्र ही विभीषण का घर मिल जाने से सीता खोज के विस्तारों से मानस कथा की गति मन्द नहीं पडी है।

युद्धकाण्ड मे वाल्मीकि ने युद्धो का जो विस्तृत वर्णन किया है वह उनकी सहज मथर गति के अनुकूल है किन्तु मानस के कवि ने अपनी वेगवती कथा गति के अनुसार युद्धों की सख्या और युद्ध-काल तथा युद्ध प्रसग सीमित रखकर प्रवाह बनाये रखा है।

मानस-कथा की स्फूर्तिमयी गति के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि वाल्मीकि की तुलना मे उसमे कही कोई शैथिल्य नही है। सीता-स्वयवर के उपरात मानसकार विवाह रीति के जिन विस्तारो में गया है उनसे मानस-कथा की गति काफी समय के लिए रुक गई है और उसमे एक ऐसा ठहराव आ गया है जिसकी समता वाल्मीकि मे भी कही दिखलायी नही देती। इसी प्रकार चित्रकूट-प्रसग मे कथा को भावात्मक ऊँचाई पर पहुँचाकर एकाएक उसे कुछ समय के लिये रोक दिया है। यदि जनक-आगमन पर कथा को उतना नही ठहराया जाता तो कथा की अपनी सहज गति बनी रहती।

सच तो यह है कि कथा गति वाल्मीकि रामायण मे अपेक्षाकृत मन्द और मानस मे अपेक्षाकृत स्फूर्तिमयी होते हुए भी वाल्मीकि रामायण मे अयोध्याकाण्ड से युद्धकाड तक उसका एक सतुलित रूप बना रहा है[1] जो मानस मे दिखलाई नही देता। मानस मे कथा कही अपनी स्वाभाविक गति को छोड कर एकदम ठहर जाती है तो कहीं ऐसे वेग से चलने लगती है जिसमे कथा सौन्दर्य की अनेक

---

[1] —वाल्मीकि मे बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड मे यह सतुलन नही है।

सम्भावनाएँ छूट जाती हैं और इस प्रकार दोनों ही कृतियो से जहाँ-तहाँ कथा-सौन्दर्य विक्षत हुआ है।

आरोह-अवरोह

वाल्मीकि रामायण और मानस मे कथा-प्रवाह के आरोह-अवरोह मे भी पर्याप्त अन्तर है। वाल्मीकि रामायण मे कथा-प्रवाह का आरोहण अयोध्याकाण्ड से आरम्भ होता है, उससे पूर्व कथा समतल भूमि पर चलती है। कथा का यह आरोहण चित्रकूट-प्रसंग तक चलता है। उसके उपरात अरण्यकाण्ड मे जयन्त-प्रसंग से कथा नया मोड़ लेती है जो पूर्ववर्ती प्रसगों से बहुत ही सूक्ष्म तन्तु से जुड़ा है। शूर्पणखा-विरूपीकरण, खर-दूषण-वध से होती हुई राम के विलाप मे कथा द्वितीय उत्थान पर पहुँच जाती है। सुग्रीव मैत्री और वालि-वध के प्रसग मे कथा-प्रवाह मे थोडी देर के लिये दिशातरण दिखलाई देता है, किन्तु सीता-शोधाभियान के साथ कथा मे पुनः आरोह आरम्भ होता है। युद्ध-प्रकरण मे कथा चरम सीमा पर पहुँच जाती है और रावण-वध से कथावरोह आरम्भ हो जाता है जो राम-राज्य तक चलता है; तदुपरात सीता-परित्याग के प्रसग मे कथा पुन. एक बार उठती है और वहाँ स समतल भूमि पर आगे बढती हुई सीता के भूमि-प्रवेश तक पहुँचकर अन्त की ओर ढल जाती है।

मानसकार ने कथा का आरोह-अवरोह भिन्न रूप मे रखा है। वहाँ विश्वामित्र की याचना के साथ ही आरोह आरम्भ हो जाता है जो परशुराम-दर्प-दलन तक बना रहता है। इस प्रकार कथा को प्रथमोत्थान पर पहुँचाकर विवाह-प्रसंग मे उसे समतल भूमि पर प्रवाहित किया गया है। अयोध्या पहुँचने पर द्वितीय उत्थान आरम्भ होता है जो चित्रकूट-प्रसग तक चलता है। तदुपरात ऋषि-मिलन में कथा पुनः समतल भूमि पर चलने लगती है। जयन्त-प्रसंग के साथ कथा लडखडाती हुई ऊपर उठने लगती है (बीच-बीच मे राम-भक्ति विषयक प्रसंगों ने उसके प्रवाह को काफी ठेस पहुँचाई है)। सीता की शोध के साथ मानस मे कथावरोह आरम्भ हो जाता है क्योंकि वहाँ हनुमान के लकादहन के साथ राक्षस-पक्ष का पतन निश्चित दिखलाई देने लगता है जबकि वाल्मीकि मे ऐसा कोई निश्चित अभिप्राय व्यक्त नहीं होता। कथावरोह के मध्य लक्ष्मण-मूर्च्छा के अवसर पर कथा में एक अल्पकालिक आरोह अवश्य दिखलाई देता है किन्तु तुरन्त पुनः अवरोह आरम्भ हो जाता है जो रावणवध तक चलता है। रावणवध से राम-राज्य-स्थापन तक कथा समतल भूमि पर चलकर समाप्त हो जाती है।

पूर्वसंकेत

वाल्मीकि ने प्राय. कथा-विकास कालक्रमानुसार रखा है जबकि मानसकार

ने कहीं-कहीं आगामी प्रसंगो की पूर्वसूचना भी दी है जो कथा के सहज विकास की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होती। परशुराम के आगमन से पूर्व ही रघुवर-बाहुबल रूपी सागर में डूबने वाले 'मकर चापु जहाजु' के समाज मे 'भृगुपति केरि गरब गरुआई'[1] का उल्लेख इस प्रकार के पूर्व संकेतों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमे काल-विपर्यय दोष स्पष्ट दिखलाई देता है। मथरा के भड़काने पर कैकेयी का यह कथन कि 'सकौं पूत पति त्याग' उसके आसन्न वैधव्य का संकेत है। इसी प्रकार शूर्पणखा-विरूपीकरण के उपरांत खर दूषण के आक्रमण के अवसर पर कवि का यह कथन कि वे लोग मृत्यु-विवश होने के कारण अपशकुनों की चिन्ता नहीं कर रहे हैं ये[3], कथा-परिणति की पूर्वसूचना है जो उसकी सहज विवृति के प्रतिकूल होने के कारण सौन्दर्य-व्याघातक है। त्रिजटा के मुख से उसके स्वप्न-वर्णन के प्रसंग मे रावण के पराभव, राम की विजय और विभीषण के राज्य-स्थापन की पूर्वघोषणा[4] भी इसी प्रकार के दोष से युक्त है। वाल्मीकि रामायण मे भी इस स्वप्न का समावेश है और वहाँ भी कथा की भावी-परिणति की पूर्वसूचना से उसकी विकास-दिशा के विषय मे सहृदय के कुतूहल के लिये अवकाश उतना नहीं रह गया है जितना ऐसे किसी पूर्वसंकेत के न होने पर रह सकता था।

अवान्तर कथाओं का समायोजन

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे अवान्तर कथाओं के समावेश और आधिकारिक कथा के साथ उनके समायोजन की पद्धति भिन्न-भिन्न रही है। वाल्मीकि रामायण मे अवान्तर कथाओं को सम्पूर्ण काव्य का लगभग षष्ठांश दिया गया है—६४५ सर्गों मे से १०७ सर्ग अवान्तर कथाओं को दिये गये हैं। अवान्तर कथा-भाग की इस विपुलता की तुलना मे मानस मे अवान्तर कथा-विषयक अंश बहुत कम है।[5] केवल बालकांड और उत्तरकांड के एक एक अनतिदीर्घ अंश मे अवान्तर कथाओं को स्थान दिया गया है।

वाल्मीकि रामायण में भी अवान्तर कथाओं को बालकांड और उत्तरकांड मे अधिक स्थान मिला है। बालकांड मे ७७ सर्गों मे से ३६ सर्ग अवान्तर कथाओं को दिये गये हैं और इस प्रकार बालकांड का प्राय अर्धांश अवान्तर कथाओं से परिपूर्ण

१—मानस, १/२५२/२-४

२—वही, २/२१

३—वही, ३/१७/४

४—वही, ५/१०/२ ३

५—मानस-कथा का सर्गों में विभाजन न होने से निश्चित रूप से अवान्तर कथा-भाग का अनुपात निर्देश कठिन है।

है। ये अवान्तर कथाएँ आधिकारिक कथा के बीच बीच मे आकर दीवाल की तरह अड गई हैं जिनसे आधिकारिक कथा की गति कुंठित हुई है। आधिकारिक कथा थोडी दूर चलती है कि कोई पात्र अवान्तर कथा सुनाने लगता है और पूरे विस्तार मे जाकर जब तक कई सर्गो मे कथा सुना नही लेता तब तक आधिकारिक कथा ठहरी रहती है। राजा दशरथ के पुत्र-यज्ञ की कथा ऋष्यशृंग की कथा के कारण दो सर्गों तक रुकी रही है। मिथिला प्रकरण से पूर्व विश्वामित्र का स्ववंश-वृत्त, गंगावतरण-कथा, समुद्र-मन्थन, अहल्या प्रकरण, विश्वामित्र-पूर्वचरित आदि ने पूरे ३३ सर्ग ले लिये हैं और तब तक आधिकारिक कथा जहाँ की तहाँ रुकी रही है।

अयोध्याकाड से युद्धकाड तक अवातर कथाओ के प्रति ऐसा मोह दिखलाई नही देता। अयोध्याकाड मे ११६ सर्गों मे २ सर्ग ही मुनिकुमार-विषयक अवातर कथा को दिये गये हैं। यह कथा आधिकारिक कथा के एक अत्यंत मार्मिक प्रसंग से जुडी होने के कारण प्रासंगिक रूप मे आई है और इसलिये इसका समावेश आधिकारिक कथा के भीतर भली भाँति हो गया है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के अनुसार इस प्रकार के छोटे-छोटे व्यवधान समग्र की प्रतीति मे बाधक नही बनते।[1] यही बात अरण्यकाड के संबंध मे भी कही जा सकती है क्योंकि वहाँ भी ७५ सर्गों मे से २ सर्ग अवातर कथाओ को दिये गये हैं। एक एक सर्ग मे माडकीर्णि मुनि की कथा (सर्ग ११) और कबंध की आत्मकथा (सर्ग ७१) कही गई है। माण्डकीर्णि मुनि की कथा अप्रासंगिक प्रतीत होती है।

किष्किधाकाड मे अवान्तर कथाओ को अपेक्षा कृत अधिक स्थान दिया गया है। वहाँ ६७ मे से ८ सर्गों मे अवान्तर कथा कही गई है। इन अवान्तर कथाओ मे सुग्रीव और वाली के परस्पर विरोध की कथा सर्वथा प्रासंगिक और अपरिहार्य होने से आधिकारिक कथा के साथ उसकी अन्विति हो गई है। सम्पाति की कथा भी आधिकारिक कथा से जुडी हुई है, किन्तु उसके अवांछनीय विस्तार ने आधिकारिक कथा की गति अवरुद्ध करदी है। सुग्रीव का भूमण्डल-भ्रमण वृत्तांत अप्रासंगिक रूप से आधिकारिक कथा के मध्य आ गया है।

उत्तरकाड में एक बार पुन: अवान्तर कथाओ का लम्बा क्रम आरंभ होता है—आरम्भ मे ही द्वितीय सर्ग से छत्तीसवें सर्ग तक रावण और उसके पूर्वजों की तथा अन्य राक्षसो की कथाएँ हैं। आधिकारिक कथा की समाप्ति से पूर्व निरन्तर १५ सर्गों मे अवान्तर कथा प्रस्तुत करने से आधिकारिक कथा के प्रवाह मे एक भारी व्यवधान आ गया है। तदुपरात आधिकारिक कथा के बीच-बीच मे अवान्तर कथाएँ बराबर आती रही हैं और आधिकारिक कथा-क्रम बारबार टूटता रहा है। उत्तरकाड के

---

[1] १—R.S Woodworth, *Contemporary Schools of Psychology*, p 129.

१११ सर्गों में से ५६ सर्ग अवान्तर कथाओं से सम्बन्धित हैं और इस प्रकार उत्तरकाण्ड का आधे से अधिक भाग अवान्तर कथाओं को दिया गया है।

अवान्तर कथाओं की ऐसी भरमार उत्कृष्ट कथा-शिल्प का लक्षण नहीं है, लेकिन उसके आधार पर वाल्मीकि को निकृष्ट कथा-शिल्पी कह देना अनुचित होगा। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में ही अवान्तर कथाओं का ऐसा आधिक्य क्यों है? अन्य काण्डों में अवान्तर कथाएँ उस प्रकार आधिकारिक कथा में गतिरोध उत्पन्न नहीं करतीं जैसा आरम्भिक और अन्तिम काण्ड में। यदि कवि ने उक्त दोनों काण्डों में आधिकारिक कथाओं के आरम्भ से पहले और अन्त के उपरान्त अवान्तर कथाओं को रखा होता तो उसके कथा शिल्प की एक विशिष्ट योजना हो सकती थी, लेकिन ऐसा भी नहीं हुआ है। अन्य काण्डों के अपने सन्तुलित कथा-प्रवाह को देखते हुए बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में वाल्मीकि जैसे कथा-शिल्पी का कर्तृत्व मानने का मन नहीं होता।[1]

मानसकार ने अवान्तर कथाओं को बड़ी सावधानी के साथ ग्रहण किया है। अप्रासंगिक कथाओं का उसने बहिष्कार किया है—कम से कम आधिकारिक कथाओं के मध्य उन्हें नहीं आने दिया है और जिन प्रासंगिक कथाओं को मानस में स्थान दिया गया है उनके विस्तारों में कवि नहीं गया है। कभी कभी तो कथा का उल्लेख भर कर कवि ने आधिकारिक कथा को आगे बढ़ा दिया है। बालकाण्ड में अहल्या और गंगावतरण की कथाएँ, अयोध्याकाण्ड में श्रवणकुमार, अरण्यकाण्ड में विराध, और कबन्ध की कथाएँ तथा किष्किन्धाकाण्ड में स्वयंप्रभा की कथा इसी प्रकार की हैं। सुग्रीव-बालि की कथा तथा सम्पाति की कथा में कवि कुछ विस्तार में अवश्य गया है, किन्तु वाल्मीकि की तुलना में ये विस्तार भी बहुत संक्षिप्त प्रतीत होते हैं। प्रासंगिक कथाओं से आधिकारिक कथाओं में गतिरोध उत्पन्न होने का प्रश्न तो यहाँ उत्पन्न ही नहीं होता।

सम्भवतः आधिकारिक कथा के प्रवाह को अवान्तर कथाओं के अवरोध से बचाने के लिए ही कवि ने उनका समावेश आधिकारिक कथा के प्रारम्भ से पूर्व और उसके अन्त के उपरान्त किया है। प्रारम्भिक अवान्तर कथाओं में दो प्रकार की कथाओं का समावेश है (१) पृष्ठभूमि-कथा—शिव-चरित और (२) हेतु-कथाएँ- पृष्ठभूमि-कथा के माध्यम से कवि ने अपने प्रतिपाद्य की व्याख्या की है और हेतु-कथाओं के माध्यम से रामावतार का प्रयोजन स्पष्ट करने के साथ भानुप्रताप के राक्षस होने की कथा के रूप में वह आरम्भ से ही प्रतिपक्ष को सामने ला

---

[1] १—प्रक्षिप्तांशों के लिए द्रष्टव्य—डॉ० कामिल बुल्के, रामकथा : उद्भव और विकास, पृ० १२२-३७

सका है जिससे कथा में संघर्ष का बीज-वपन आरम्भ में ही हो गया है, किन्तु प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटकादि के समान उसको आरम्भ में ही अंकुरित होने नहीं दिखलाया गया है।

इस प्रकार अवान्तर कथाओं के समावेश में वाल्मीकि की तुलना में मानसकार ने अधिक कौशल से काम लिया है। अवान्तर कथाओं से आधिकारिक कथा में कहीं भी बाधा नहीं आने दी है, लेकिन दूसरी ओर उसने अनेक प्रासंगिक कथाओं की ओर संकेत-भर करके आधिकारिक कथा को आगे बढ़ा ले जाने की जो प्रवृत्ति व्यक्त की है वह भी दोषमुक्त नहीं है। राम कथा-परम्परा से अपरिचित मानस अध्येता के लिये उन प्रासंगिक कथाओं का समझ पाना एक समस्या बन जाता है और तब उसके लिए उन कथाओं का समावेश निरर्थक हो जाता है फिर भी वाल्मीकि रामायण के समान अवान्तर कथाओं से यहाँ आधिकारिक कथाओं में व्याघात न होने से वैसा सौन्दर्य बाध नहीं हुआ है जैसा वाल्मीकि रामायण के प्रथम एवं अन्तिम काण्डों (जो सम्भवतः प्रक्षिप्त हैं) में दिखलायी देता है।

निष्कर्ष

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के कथा-विन्यास के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है एक ही कथा फलक पर निर्मित होने पर भी दोनों काव्यों के कथाविधानगत सौन्दर्य में व्यापक अन्तर है। इस अन्तर का मूल दोनों कवियों की काव्य दृष्टि में निहित है। वाल्मीकि यथार्थ द्रष्टा हैं जबकि तुलसी की दृष्टि आदर्शपरक रही है। यथार्थ दृष्टि के कारण वाल्मीकि पूर्वाग्रहरहित दृष्टि से मानव-व्यवहार को उसकी सहज प्रेरणाओं के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं जबकि तुलसीदास सुरुचि के आग्रह से मानव व्यवहार को सदसत् के द्वन्द्व में रखे बिना नहीं रहते।[1] इसलिए वाल्मीकि रामायण की कथा का सौन्दर्य मानव व्यवहार की यथार्थता के चित्रण में निहित है और मानस का सौन्दर्य उसकी आदर्शनिष्ठा में। इसलिए मात्रा और उत्कर्ष दोनों दृष्टियों से रामायण की तुलना में मानस कहीं अधिक उदात्तसम्पन्न है, किन्तु विस्तारगत सजीवता की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण से मानस की कोई समता नहीं है।

दोनों कवियों की काव्य दृष्टि के अन्तर के परिणामस्वरूप दोनों की कथा की दिशाएँ आरम्भ से ही भिन्न भिन्न रही हैं और उनका विकास अपनी अपनी पीठिका के अनुसार उसकी संगति में हुआ है। वाल्मीकि की दृष्टि से सहजता का मूल्य अधिक

---

[1] १—जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं परिहरि बारि बिकार॥ —मानस, १/६

होने से रामायण मे कलात्मक संयोजन की वैसी सम्पन्नता दिखलायी नहीं देती जैसी मानस मे, किन्तु मानस के परवर्ती प्रसंगों में भक्ति के आधिक्य से कथा-गति अवरुद्ध होती दिखलायी देती है जबकि वाल्मीकि रामायण मे बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड को छोड़कर शेष भाग मे कथा धीर-मन्थर गति से चली है, फिर भी उसकी गति का सन्तुलन निरन्तर बना रहा है। वाल्मीकि मे अवान्तर कथाओं के विस्तार मे जाने की प्रवृत्ति व्यापक रूप से रही है। इसके विपरीत मानस मे अवान्तर कथाओं को आधिकारिक कथा के मध्य अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। आरम्भिक कथा प्रारम्भ होने से पूर्व और उसकी समाप्ति के उपरान्त मानस मे एक निश्चित प्रयोजन से अवान्तर कथाओं को सविस्तार स्थान दिया गया है। इससे आधिकारिक कथा का प्रवाह कुण्ठित नहीं होने पाया है। मानस मे प्रासंगिक कथाओं को त्वरित गति से समाप्त कर देने से कहीं-कहीं आवश्यक सूचनाएँ छूट जाने से उसका कथा-सौन्दर्य आहत अवश्य हुआ है, किन्तु अवान्तर कथाओं की उपेक्षा से मानस-कथा में अन्विति की रक्षा कहीं अधिक हुई है।

रामायण और मानस की कथाओं मे मानस-जीवन का जैसा विराट् और उदात्त चित्रण है, कथा का जैसा विस्तृत और गतिपूर्ण उन्मेष है, प्रसंगों का जैसा तनावपूर्ण और आरोह-अवरोह-सम्पन्न उपस्थापन है, उसकी समता अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत और हिन्दी साहित्य मे क्रमश: रामायण और मानस को जो शीर्षस्थ स्थान दिया जाता रहा है, उसका श्रेय प्रचुरांश मे उनके कथा विन्यास को भी है।

३

चरित्रविधानगत सौन्दर्य

सौन्दर्य-शास्त्रियो का एक वर्ग सौन्दर्य को चित्प्राण मानने पर बल देता है। यूनान मे प्लाटिनस ने दार्शनिक ढग से चिति-उन्मेष को सौन्दर्य का प्राण-तत्त्व सिद्ध किया था[1] और भारत मे काव्य-सौन्दर्य के संदर्भ मे रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए विश्वनाथ ने उसे "अखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मय" कहा।[2] भारतीय काव्य-चिन्तन मे व्यक्ति-चेतना गौण रहने के कारण चितिउन्मेष का विचार प्रायः काव्यास्वादन-प्रक्रिया के रूप में ही हुआ है और इसलिये रस और ध्वनि-सम्प्रदायो मे चिति उन्मेष की बात काव्यास्वाद के संदर्भ मे ही आई है जिसमे साधारणीकरण पर बल होने के साथ ही व्यक्ति-वैचित्र्य उपेक्षित रह गया है, जबकि चिति-उन्मेष का एक सशक्त माध्यम चरित्र-विधान है। जार्ज संतायना ने पात्रो के रूप मे कवि-चेतना के संक्रमण का उल्लेख करते हुए चरित्र-विधान मे भौतिक अस्तित्व-शून्य चिति-प्रणिधान की चर्चा की है।[3] इस प्रकार चरित्र-विधान चेतना व्यापार का सर्वाधिक भास्वर रूप प्रतीत होना है।

दृष्टिबोध

पात्र का स्वतन्त्र व्यक्तित्व

पात्र अपने स्रष्टा की सृष्टि है, लेकिन उसका वशवर्ती नही। यदि पात्र अपने विधाता के हाथ ही कठपुतली रहा तो उसके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाएगी; वह कठपुतली के समान जड अभिनेता-भर रह जाएगा। उसका आचरण उसकी अपनी अन्तःप्रकृति का सहज स्फुरण प्रतीत होना चाहिये। भौतिक अस्तित्व के अभाव मे भी वह हाड-मास के प्राणियों से भिन्न नही होना चाहिये। स्रष्टा अपने पात्र की अन्तःप्रकृति निर्धारित करके उसे अपने स्वभाव की संगति मे आचरण

---

[1] १—Dr. K.C. Pandey, *Comparative Aesthetics, Vol II.*

[2] २—साहित्य दर्पण, १/२

[3] ३—George Santayna, *The Sense of Beauty, p. 186.*

करने की स्वतन्त्रता दे— एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप मे अपने पात्रों को निजी स्वभावानुसार आचरण करने दे–तभी उसके पात्र जीवत व्यक्तित्व लेकर काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि मे सहयोगी हो सकते हैं। आरोपित व्यक्तित्व चरित्र कल्पना के सौन्दर्य मे घातक सिद्ध होता है।

चरित्र की यथार्थता और मनोविज्ञान

आधुनिक युग मे मनोविज्ञान का सहारा लेकर पात्र-सृष्टि करने की प्रवृत्ति भी चल पडी है। मनोवैज्ञानिकता यदि अन्तर्दृष्टि समन्वित हो तो वह मानव-प्रकृति की जटिलता के समावेश से चरित्र-कल्पना को बहुत ही सजीव बना देती है, लेकिन कलाकार की अन्तर्दृष्टि के अभाव मे उसके पात्र कुछ सिद्धान्तों की यन्त्रचालित मूर्ति भर रह जाते है और प्राण-तत्त्व के एकान्त अभाव के कारण उनका व्यक्तित्व निर्जीवसा प्रतीत होने लगता है। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक ज्ञान से असम्पृक्त अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न कलाकारो की पात्र सृष्टि अत्यत प्राणवान होती है।

व्यक्तित्व की जीवन्तता—विश्वसनीयतामूलक यथार्थता—मानव-पात्र के चरित्रांकन के लिए जितनी आवश्यक है, उतनी ही देवतादि अलौकिक पात्रो के लिये भी[1] क्योंकि इन पात्रो की अलौकिकता नही, उनका लौकिक आचरण ही हमारे बोध का विषय हो सकता है। इसलिये तुलसीदास जैसे भक्त कवि ने भी राम को मानव-प्रकृति के अनुसार आचरण करते हुए दिखलाया है[2]—

जो तुम कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।[3]

उदात्तता

पात्र की सजीवता के साथ यदि उसके चरित्र मे शील का समावेश हो तो उसके चरित्र का सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। शील के अभाव म पात्र की सजीवता विकर्षक भी हो सकती है, लेकिन उच्चकोटि का कलाकार दुष्ट पात्र के भीतर भी कहीं कुछ ऐसा संस्पर्श कर देता है जो उस पात्र के प्रति हमारे अन्तर मे घृणा के स्थान पर करुणा उत्पन्न कर देता है, दुर्बलता का बोध जगाता हुआ भी उसके चरित्र का प्रभावशाली बना सकता है और यह प्रभावशालिता सौन्दर्य-बोध का विषय बन जाती है। पात्रो की दुर्दम प्रकृति कभी-कभी उनके चरित्रो मे उदात्त तत्त्व का समावेश भी करती है। ऐसा तभी होता है जबकि उसके व्यक्तित्व के प्रत्यक्षीकरण

---

[1] —George Santayna, *The Sense of Beauty*, p 183

[2] —द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११५-११८

[3] —मानस, २/१२६/४

से सहृदय के भीतर आकर्षण विकर्षण की एक समन्वित प्रतिक्रिया उत्पन्न हो—उसकी दुर्दमता आतंकोत्पादक हो, लेकिन साथ ही उसकी उत्कृष्टता हमे उस पर मुग्ध होने के लिये विवश कर दे।

लेकिन उदात्त का दुर्बलता से अनिवार्य सम्बन्ध नही है, कई बार पात्र की श्रेष्ठता भी उदात्त होती है। जब किसी पात्र की श्रेष्ठता इस सीमा तक पहुँच जाती है कि उसके गुण-गाम्भीर्य या चरित्रोत्कर्ष की थाह नही ली जा सकती, तब वह भी उदात्त रूप मे हमे प्रभावित करता है।

भारतीय काव्य शास्त्र मे धीरोदात्त की कल्पना मे 'उदात्त केवल सद्गुण-सूचक है, किन्तु पाश्चात्य दृष्टि से सद्गुण हो या अवगुण, जब उसकी उत्कटता एक साथ ही आतंकित और मुग्ध होने के लिए सहृदय को विवश कर दे तो उसकी वह प्रभाव-शक्ति उदात्त की कोटि में आती है। उदात्त मे आतंक और मुग्धता की समन्वित प्रतिक्रिया से सहृदय को विस्मयाभिभूत करने की क्षमता रखती है।[1]

चरित्र-बिम्ब

चरित्रविधानगत सौन्दर्य प्रत्यक्षीकरण का विषय होने के नाते बोध-निर्भर होता है। कथा-चक्र के भीतर से उसके वाहक पात्रो का व्यक्तित्व झलकने लगता है। जैसाकि जार्ज सतायना ने लिखा है, पात्र-कल्पना कथा-संघटन मे पिरोई हुई रहती है, पात्रों के व्यक्तित्व के विभिन्न सूत्र कथा-प्रसगों की विभिन्नता के साथ गुथे रहते हैं, फिर भी हमारे समक्ष प्रत्येक पात्र एक इकाई के रूप मे सग्रथित होकर आता है—व्यक्ति-विशेष के रूप मे हमारे बोध का विषय बनता है।[2] पात्र-स्रष्टा की सफलता इस विशेषता मे निहित रहती है कि वह अपनी ओर से पात्र के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कुछ न कहे, विभिन्न प्रसगो मे स्वय पात्र के आचरण से ही उसके व्यक्तित्व को प्रकाशित होने दे और फिर भी पात्र का व्यक्तित्व एक स्पष्ट एवं अखंड बिम्ब के रूप मे उभर कर हमारे सामने आये।

संगति

चरित्र-बिम्ब की सृष्टि कथा बिम्ब की रचना की तुलना मे एक कठिन कार्य है क्योंकि कथा-बिम्ब मे समय का व्यवधान नहीं रहता जब कि चरित्र-बिम्ब

---

[1] -द्रष्टव्य—ए०सी० ब्रेडले की पुस्तक *Oxford Lectures on Poetry* में *The Sublime* शीर्षक निबंध

[2]—'*They seem to be persons, that is, their actions and words seem to spring from the inward nature of an individual soul*'

—George Santayne, *The Sense of Beauty, p. 179*

विभिन्न अवसरों पर किये गये आचरण में सम्बन्धित होने के कारण काल व्यवधान से बाधित हो सकता है। इसलिए पात्रों के आचरण की संगति के प्रति कवि की सतर्कता अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी पात्र का एक अवसर पर आचरण अन्य अवसर के आचरण से भिन्न है तो उसके लिए कोई विशेष कारण होना चाहिए जो विसंगति की व्याख्या कर सके अन्यथा विसंगति से चरित्र-कल्पना का सौन्दर्य नष्ट हो सकता है।

अन्विति

संगति का ध्यान रखने के साथ ही कवि को चरित्रान्विति की ओर विशेष प्रयत्नशील रहना पड़ता है। उसे विभिन्न प्रसंगों में पात्र विशेष के आचरण के सूत्र मिलाते रहना होता है। यदि यह सूत्र नहीं मिल पाते तो चरित्र-बिम्ब की सृष्टि नहीं हो पाती और वह कथा, वर्णनों, आदि में ऐसा बिखर जाता है कि उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता। यह स्थिति चरित्र-विधान–विषयक कौशल-हीनता की सूचक और अंततः काव्य–सौन्दर्य की विघातक होती है।

तुलना-पद्धति

एक ही कथा-फलक पर प्रतिष्ठित पात्रों का चरित्र विभिन्न कवियों की कल्पना में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर अपनी समग्रता में स्वतंत्र व्यक्ति से सम्बद्ध होता है। अतएव भिन्न कवियों की कल्पना-सृष्टि के रूप में एक ही पात्र के भिन्न व्यक्तित्वों की समग्रता चरित्र विषयक तुलना के लिये आधार भूमि का कार्य करती है। व्यक्तित्व की समग्रता पात्र की चरित्रगत विशेषताओं का योग नहीं है, प्रत्युत उसके व्यक्तित्व की समग्रता का प्रकाशन उसके आचरण में विभिन्न विशेषताओं के रूप में होता है। जैसा कि मेकडूगल ने लिखा है, 'एक स्थायी भाव की प्रधानता के द्वारा अंतर्ग्रंथित होने पर ही स्थायीभाव समवाय 'चरित्र' की संज्ञा का अधिकारी हो सकता है।[1] अतएव चरित्र-तुलना के लिये पात्रों की एक-एक विशेषता की तुलना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। पात्रों के व्यक्तित्व को उनकी समग्रता में रखकर उसकी तुलना करने से ही उनके समग्र व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य प्रकाशित हो सकता है क्योंकि प्रत्येक पात्र एक गतिशील समग्र (Dynamic whole) होता है।

पात्रों के चरित्र–समग्र व्यक्तित्व—की तुलना से कवियों के चरित्रांकन नैपुण्य की तुलना का मार्ग प्रशस्त होता है और तभी कवियों की चरित्रालेखन–प्रतिभा की तुलना उचित हो सकती है। पात्रों के व्यक्तित्व की स्वायत्तता, यथार्थता, शीलाभिव्यंजना, उदात्तता और बिम्ब-संघटना विषयक कवि-कौशल पात्रों के व्यक्तित्व की समग्रता की तुलना के प्रकाश में स्वतः आलोकित होने लगता है। अतएव सर्वप्रथम पात्रों के चरित्रों की तुलना उनके व्यक्तित्व की समग्रता में समीचीन होगी।

---

[1] —W. McDougall, *Charcter and the Conduct of life*, *p* 95

वर्गीकरण का प्रश्न

चरित्र-चित्रण के संदर्भ में पात्रों के वर्गीकरण की परिपाटी भी हिन्दी समीक्षा में रही है और मानस के पात्रों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत भी किया गया है, किन्तु वाल्मीकि की अन्तर्भेदी व्यक्ति-दृष्टि वर्गीकरण की प्रवृत्ति का प्रतिवाद सा करती है। उन्होंने पक्ष और प्रतिपक्ष स्त्री और पुरुष सभी को उदार दृष्टि से अपने काव्य में अंकित किया है इसके विपरीत मानसकार की चरित्र दृष्टि स्पष्ट रूप से वर्ग-चेतना से प्रभावित रही है। उनका वर्गीकरण मानव प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता पर आधृत है। मानस-कथा में सदसत् का जो द्वन्द्व दिखलायी देता है उसका मूल तुलसीदासजी के इसी द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण में निहित है—

भलेउ पोच सब बिधि उपजाए। गनि गुन दोष बेद बिलगाए।
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना।।[1]

इस उक्ति से जहाँ एक ओर मानसकार के द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण का पता चलता है दूसरी ओर वहीं उनके मूल्यपरक दृष्टिकोण का परिचय भी मिलता है। उन्होंने भले और बुरे दोनों का अवश्यम्भावी अस्तित्व तो स्वीकार किया है, किन्तु साथ ही अच्छाई के परिग्रहण और बुराई के परित्याग पर बल भी दिया है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं परिहरि बारि बिकार।।[2]

वे भले और बुरे का अस्तित्व पृथक्-पृथक् मानते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि सुख दुःख, पाप पुण्य दिन रात आदि विरोधी युग्मों का अस्तित्व रहता है—

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती।।
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सुजीवनु माहुरु मीचू।।
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा।।
कासी मग सुरसरि क्रमनासा। मरु मारव महिदेव गवासा।।
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगमागम गुन दोष बिभागा।।[3]

फिर भी वे यह मानते हैं कि भला व्यक्ति परिस्थितिवश बुरे कार्य कर सकता है और इसी प्रकार बुरे व्यक्ति से संयोगवश भला कार्य बन सकता है—

काल सुभाउ करम बरिआईं। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाईं।।
सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं।।
खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू।।[4]

१— मानस, १/५/२
२—वही, १/६
३—वही, १/५/३ ५
४—वही, १/६/१ २

इससे यह सिद्ध होता है कि तुलसीदास जी परिस्थितियों का महत्त्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु परिस्थितिवश किए गए स्वभाव-विरुद्ध आचरण को वे अपवाद मात्र मानते हैं, उससे व्यक्ति-विशेष की स्थायी प्रकृति की अक्षुण्णता का बाधित होना नही मानते हैं।

भले-बुरे के भेद पर तुलसीदास को इतना विश्वास है कि वे बार-बार सत और असत के रूप मे मानव प्रकृति का द्विविध वर्णन करते हैं। उनके लिए सत और असत के वर्ग इतने सुस्पष्ट और सुनिर्धारित हैं कि उनके अन्तर्मिश्रण का कोई उल्लेख उन्होने नही किया है। प्रकृति मे सामयिक परिवर्तन अन्तर्मिश्रण नही कहा जा सकता।

समग्र व्यक्तित्व-समीक्षा

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के कवियो की पात्र सृष्टि मे जो व्यापक अन्तर है वह दोनो कवियो के प्रमुख पात्रो के चरित्र-विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। समान कथानक के परिणामस्वरूप दोनो काव्यो के पात्रो के व्यक्तित्व मे कुछ समान तत्त्व भी दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु समग्रत. दोनो कवियों के पात्र प्राय भिन्न भिन्न व्यक्तियो के रूप मे प्रत्यक्षीकृत होते हैं जिससे 'अपार काव्य संसार मे कवि का प्रजापतित्व' सिद्ध होता है। यह भिन्नता सर्वप्रथम कथानायको के चरित्र में ही स्पष्ट रूप मे व्यक्त हुई

राम

वाल्मीकि के राम

बालकाण्ड के आरम्भ मे रामायण की रचना का प्रयोजन राम के रूप मे एक आदर्श महापुरुष के चरित्र का उपस्थापन बतलाया गया है।[1] कदाचित् इस प्रयोजन की गवेषणा रामायण लिखे जाने के उपरान्त किसी पाठक ने की होगी। रामायणकार का प्रयोजन ऐसा नही जान पडता। राम का जो चरित्र यहाँ देखने मे आता है उसे आदर्श कहना बहुत कठिन है।[2] यद्यपि राम के व्यक्तित्व मे आदर्श मानव के अनेक

१—वाल्मीकि रामायण, १।१।७ ८

२—यदि हम उनकी 'दौर्बल्यसूचक' उक्तियों को अलग कर दें तो वे हमारी सहानुभूति से बहुत ऊपर उठ जाएंगे और हम उन्हें पकड़कर छू भी नहीं सकेंगे। रामचन्द्र का चरित्र एक विशाल वनस्पति के समान है— वह कभी झुककर भूमि को स्पर्श करता है, पर उसका यह झुकना उसके नभस्पर्शी गौरव को कम नहीं कर सकता वरन् पार्थिव ज्ञातित्व का परिचय देकर हमें आश्वासन मात्र देता है।

—प्रो० दीनेशचन्द्र सेन रामायणी कथा (मूल बंगला' हिन्दी अनुवाद बा० भगवान दास हालना, प० बदरीनाथ शर्मा वैद्य पृ० ११३

गुण पाये जाते हैं, फिर भी राम का समग्र व्यक्तित्व आदर्श नहीं है। उनका चरित्र जटिल[1] और अन्तर्विरोध से परिपूर्ण है।

राम एक ओर परम पितृभक्त दिखलाई देते हैं तो दूसरी ओर पिता के व्यवहार के प्रति असन्तोष भी व्यक्त करते हैं—

> को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत् ।
> छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ॥[2]

एक ओर भरत पर उनका अगाध विश्वास व्यक्त होता है—

> न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः ।[3]

तो दूसरी ओर वे भरत के प्रति शंकालु भी जान पड़ते हैं—

> एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः ।
> न च ते वेदितव्यं स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति ॥[4]

एक ओर सीता को प्राणाधिक प्रेम करते हैं तो दूसरी ओर उनका भीषण तिरस्कार करते दिखलाई देते है। रावण की अन्त्येष्टि तथा विभीषण के अभिषेक के उपरान्त राम हनुमान को सीता को देखने के लिए भेजते हैं—उन्हें लाने का आदेश नहीं देते। सीता द्वारा प्रार्थना की जाने पर वे उन्हें अपने पास बुलाते भी हैं तो उन्हें ग्रहण न कर अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण शब्दों से उनका स्वागत करते हैं—

> यदर्थं निर्जिता मे त्वं सोऽयमासादितो मया ।
> नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥
> तदद्य व्याहृतं भद्रे मयैतत् कृतबुद्धिना ।
> लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम् ॥
> शत्रुघ्ने वाथ सुग्रीवे राक्षसे वा विभीषणे ।
> निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मना ॥[5]

राम के चरित्र की यह उलझन मनोविज्ञान के प्रकाश में भली भाँति सुलझाई जा सकती है।

---

[1] १—प्रो० दीनेशचन्द्र सेन, रामायणी कथा (मूल-बंगला) हिन्दी अनुवाद, डा० भगवानदास हालना, पं० बदरीनाथ शर्मा वैद्य पृ० ११२

[2] २—वाल्मीकि रामायण, २।५३।१०

[3] ३—वही, ६।१८।१५

[4] ४—वही, ७।१२५।१४

[5] ५—वही, ६।११५।२१-२३

राम के चरित्र की धुरी—उच्चाह है (superego)। यदि उक्त विरोधो को मनोविज्ञान के प्रकाश मे देखें तो उसका आधार स्पष्टत: समझ मे आ जाता है। वंश-परम्परा से ही राम के व्यक्तित्व मे उच्चाह का सन्निवेश था। दशरथ लोकमत का बहुत विचार रखते थे[1] और राम के व्यक्तित्व मे भी उसका सक्रिय योग था। राम ऐसा कोई कार्य नही करना चाहते थे। जो लोकमत, नैतिक मान्यताओ और परम्परागत आदर्शों के विरुद्ध पडता हो। उनके वन गमन के प्रसंग यह मे बात स्पष्ट परिलक्षित होती है।[2] स्वयं राम एक स्थान पर यह स्वीकार करते देखे जाते हैं कि वे धर्म और परलोक के भय से वन मे चले आए थे, अन्यथा उसके लिये उन्हें कोई बाध्य नहीं कर सकता था।

रावण-वध के उपरान्त सीता को ग्रहण करने मे राम ने जो हिचकिचाहट व्यक्त की थी उसके मूल मे भी उनका उच्चाह सक्रिय था। उन्होने सीता से कहा था कि अपने पौरुष पर लगे कलक को मिटाने के लिए ही उन्होने रावण-वध किया था, सीता को पाने की इच्छा से नही। सीता के वियोग मे तडपते हुए राम का वर्णन जिस पाठक ने पढ़ा है-वह राम की इस उक्ति को स्वीकर नहीं कर सकता। सीता के शुद्ध प्रमाणित होने पर स्वय राम अपनी इस उक्ति को प्रयोजन-गर्भित बतलाते हैं। वे शुद्ध प्रमाणित सीता को अपनाते हुए बतलाते हैं कि उन्होंने लोकापवाद से अस्पृष्ट रहने के लिए ही ऐसी बात कही थी।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि राम का उच्चाह उनके प्रेम से भी अधिक सशक्त था। उसकी प्रबल शक्ति का एक और प्रमाण अयोध्या लौट जाने पर भद्र से सुनी हुई लोक-निन्दा के आधार पर सीता-परित्याग के रूप मे मिलता है।

उच्चाह आत्मभाव की रक्षा का एक साधन है। उसी का दूसरा रूप औचित्यी-करण है। वालि-वध के प्रसंग मे राम के व्यक्तित्व का यह रूप स्पष्टत: उभर आता है। वाली द्वारा राम की धार्मिकता को ललकारे जाने पर वे अपने इस कृत्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए जो तर्क देते हैं वे राम की धार्मिकता के स्थान पर अपयश-प्रक्षालन की चिंता अधिक व्यक्त करते हैं। राम अपने आपको राजा भरत का प्रतिनिधि बतलाते हुए अपने को वाली को दण्ड देने का अधिकारी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु पूर्वप्रसंगो से ऐसा कोई सकेत नही मिलता—वहाँ वे सुग्रीव के शरणागत मात्र जान पडते हैं।[4] राम ने वाली को छिपकर मारने का

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, २/१२/८२-८३
[2] —द्रष्टव्य—वही, २/२२
[3] —वही, ६/११८/१८
[4] —सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्य शरण पुरा।
गुरुर्मेराघव सोऽय सुग्रीव शरणं गत ॥ —वही, ४/४/२०

औचित्य सिद्ध करने के लिए वालि वध को मृगया का रूप दिया है, किन्तु मृगया का सम्बन्ध दण्ड देने के अधिकार से कैसे माना जा सकता है ? वस्तुत. वहाँ वाल्मीकि ने राम के व्यक्तित्व मे निहित आत्मभाव-रक्षा की प्रक्रिया को बडे कौशल से चित्रित किया है—उनके चरित्र पर सफेद रग पोतने का प्रयत्न नही किया है।[१]

सचाई यह है कि 'वाल्मीकि अकित रामचन्द्र का चरित्र अतिमात्रा मे जीवंत है—इस चित्र मे सुई चुभोने से मानो रक्त विन्दु निकलते हैं। यह चरित्र छाया अथवा धूम-विग्रह में परिणत होकर पुस्तक ही के भीतर का आदर्श नहीं रह जाता।'[२] राम की विरक्ति या निवृत्ति वस्तुतः ससार की असारता की अनुभूति पर *निर्भर नही थी, प्रत्युत लोकमत, नैतिक मान्यताओ और परम्परागत आदर्श—धर्म—पर* निर्भर थी। 'एक हाथ पर चन्दन छिडकने और दूसरे हाथ मे तलवार लगने पर जो दोनो को समान समझते हैं, रामचन्द्र उस प्रकार के योगी नहीं थे।'[3] उनके चरित्र को समझने के लिए राम के जीवन मूल्य—धर्म—को निरन्तर दृष्टि-पथ मे रखना चाहिए।

मूल-प्रवृत्तियों के बाधित होने पर राम अनेक स्थलों पर भाव-विह्वल दिखलायी देते हैं। वन की आज्ञा मिलने पर वे उसे उस समय बडे धैर्य के साथ ग्रहण करते हैं, किन्तु माँ के पास पहुँचते-पहुँचते उनके मन का वेग फूट पडता है—

देवि नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम्।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्यच ॥[४]

जब वे सीता के पास यह दुःसवाद पहुँचाने गए तो 'उनका वह सौम्य अविकृत भाव जाता रहा।'[५] उनकी मनोवेदना उनके मुख पर स्पष्ट झलक रही थी।

उनके भ्रातृत्व की अभिव्यक्ति चरम रूप मे उस समय होती दिखलायी देती है जब वे लक्ष्मण के शक्ति लगने पर अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। 'रामचन्द्र की सेना मे लक्ष्मण की उस हृदय-भेदी शक्ति को निकालने की किसी की भी हिम्मत नही हुई और उस समय उसके निकाले विना लक्ष्मण प्राण त्याग कर देते। रामचन्द्र के अश्रु-पूर्ण नेत्रो से उस शक्ति को निकाल कर फेंक दिया और मुमूर्षु लक्ष्मण को छाती से लगाकर उनकी शत्रु के हाथ से रक्षा करने लगे। उस समय रावण के बाणो से उनकी

---

[१] —रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १८५
[२] —प्रो० दीनेशचन्द्र सेन—रामायणा कथा, पृ० ११४
[३] —वही, पृ० ३७
[४] —वाल्मीकि रामायण, २/२०/२७
[५] —प्रो० दीनेशचन्द्र सेन, रामायणी कथा, पृ० ४०

पीठ छिन्न भिन्न हो रही थी पर भ्रातृवत्सल राम ने उस ओर दृष्टिपात तक नही किया ।[1]

राम की विह्वलता सबसे अधिक सीता हरण के उपरान्त व्यक्त हुई है । *वहाँ राम का सयम पूरी तरह छूट जाता है । सीता की खोज या उसकी प्राप्ति के* मार्ग मे जो भी बाधक जान पडता है राम का क्रोध उसे भस्म करने पर उतारू हो जाता है । जटायु को सीता का भक्षक समझ कर राम उसके प्राण हर लेने पर उतारू हो जाते हैं ।[2] इसी प्रकार समुद्र द्वारा रास्ता न दिए जाने पर राम का प्रचण्ड क्रोध उसे सोख लेने के लिए उन्हे सरसन्धान की प्रेरणा देता है । जब राज्य पाकर सुग्रीव राम के उपकार का बदला देने की बात भूल जाता है तब वे उसे भी वाली के रास्ते भेजने की धमकी देते हैं ।

न स सकुचित पन्था येन वाली हतो गत ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगा ।।[3]

इसके विपरीत सीता की प्राप्ति मे सहायता देने वाले व्यक्ति राम के लिए अत्यन्त प्रिय बन गए । सुग्रीव ने सीता की खोज के लिए जो वचन दिया था उससे प्रेरित होकर राम ने वालि वध के औचित्य-अनौचित्य का विचार किए बिना उसे मार गिराया और भ्रातृ-विरोधी तथा राज्य लोलुप विभीषण को शरण प्रदान की—

न वय तत्कुलीनाश्च राज्यकांक्षी च राक्षस ।
पण्डिता हि भविष्यन्ति तस्माद् ग्राह्यो विभीषण ।।
अव्यग्राश्च प्रहृष्टाश्च ते भविष्यन्ति सगता ।
प्रणादश्च महानेषोऽन्योन्यस्य भयमागतम् ।
इति भेद गमिष्यन्ति तस्माद् ग्राह्यो विभीषण ।[4]

यद्यपि अपनी नैतिक प्रकृति के अनुसार उसे शरणागत वत्सलता का रूप दे दिया—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम ।।[5]

राम की निस्वार्थ शरणागत वत्सलता के दर्शन ऋषियो को दिए गए अभय-

---

[1] —प्रो० दीनेशचन्द्र सेन, रामायणी कथा, पृ० ९७

[2] —वाल्मीकि रामायण, ३।६७।१२

[3] —वही, ४।३०।८१

[4] —वही, ६।१८।१३ १४

[5] —वही, ६।१८।३३

दान मे होते हैं। यद्यपि वहाँ भी आसन्न प्राप्त राज्य से वंचित होने का आक्रोश उपयुक्त आलम्बन की प्रतीक्षा मे था, फिर भी उनके क्रोध का आलम्बन राक्षस ही बने--इसका श्रेय उनकी शरणागत वत्सलता को है।

राम के व्यक्तित्व मे भावावेग और संवेदनशीलता की प्रचुर मात्रा थी, किन्तु लोकमत, सामाजिक मान्यताओ और परम्परागत आदर्शों के प्रति उनका लगाव और भी प्रबल था। इसलिए जहाँ जहाँ दोनो का संघर्ष हुआ है वहाँ वहाँ राम ने लोक को प्राधान्य देते हुए अपने मनोवेगो का संवरण किया है --चाहे उन्हे भीतर ही भीतर उससे खेद भी हुआ हो। राम के मन का भावावेग उन्मुक्त रूप से वही व्यक्त हो सका है जहाँ उच्चाह--लोक भय--उसके रास्ते मे नहीं आया है। अतएव राम के चरित्र मे जो अन्तर्विरोध दृष्टिगत होता है--वह उच्चाह के कारण। राम सीता को अत्यधिक प्रेम करते थे--यह बात वियोग के क्षणो मे राम की विह्वलता से स्पष्ट हो जाती है किन्तु रावण-वध के उपरात उन्होने सीता का जो तिरस्कार किया वह केवल उच्चाह की प्रेरणा से--लोकापवाद के भय से। राम को यौवराज्याभिषेक मे विघ्न पडने से खेद हुआ था--यह बात अयोध्याकाण्ड मे स्पष्ट परिलक्षित होती है, किन्तु वे निर्वासन के आदेश को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं--उच्चाह की प्रेरणा से--परम्परागत आदर्शों और सामाजिक मान्यताओं की प्रेरणा से। लका से लौटने पर सीता की पवित्रता के प्रति सर्वथा आश्वस्त होने पर भी उन्हे घर से निकाल देते हैं--केवल उच्चाह की प्रेरणा से लोकापवाद के भय से।

वास्तव मे वाल्मीकि के राम का चरित्र न तो एकान्तत धार्मिक--आदर्शवादी--है और न एकान्तत व्यावहारिक--लाभान्वेषी। उनके व्यक्तित्व मे इन दोनो पक्षो का सतुलित सामजस्य दिखलायी देता है। एक ओर वे शुद्धान्तकरणवादी और अन्तर्मुखी हैं तो दूसरी ओर व्यावहारिक और बहिर्मुखी। राम के व्यक्तित्व का यह सामजस्य ही उनके चरित्र के अन्तर्विरोध को जन्म देता है और साथ ही उनके चरित्र को मानवीय रूप भी प्रदान करता है।

तुलसीदास के राम

वाल्मीकि रामायण की तुलना मे मानस के राम को देखने से तो यही बात सिद्ध होती है कि जहाँ वाल्मीकि के राम का चरित्र बहुत ही जीवन्त (यथार्थ) है वहाँ मानस के राम का चरित्र कहीं अधिक शीलवान (आदर्शवादी एव नैतिक) है। वाल्मीकि के राम धर्म (परम्परागत तथा लोक प्रतिष्ठित नैतिक मूल्यो) से बाध्य होकर ही निर्वासन-आदेश स्वीकार करते हैं लोक भय के कारण ही सीता की अग्नि परीक्षा करते है उसी कारण से वे सीता का त्यागते हैं भरत के प्रति सदेह शील तथा ईर्ष्यालु हैं, स्वार्थवश बालि-वध करते हैं और राजनीतिक प्रयोजन से

विभीषण को शरण देते हैं। तुलसीदासजी ने शील अथवा सामाजिक चेतना के समावेश द्वारा राम के चरित्र का चित्र ही बदल दिया है।

राम की सामाजिक चेतना का उत्कृष्ट चित्र सर्वप्रथम यौवराज्य का संदेश पाने के अवसर पर दिखलाई देता है। महर्षि वसिष्ठ द्वारा यौवराज का संदेश दिये जाने से पूर्व राम के दाँए अंग फड़कते हैं जिन्हें वे भरत-आगमन का सूचक समझते हैं। थोड़ी देर बाद यौवराज्य का समाचार पाकर भी उन्हें यही चिंता होती है कि राज्य मिल जाने पर उनमें तथा अन्य भाइयों में जो अन्तर आ जाएगा वह अनुचित है। राम की यह चिन्ता उनकी सामाजिक मनोवृत्ति--सहयोग और समभाव—की प्रतीक है।

वन-गमन का आदेश सुनते ही उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना, मुख पर विकलता का चिह्न तक न आने देना उनकी सामाजिकता का ही परिणाम है। वाल्मीकि के धर्मभीरु राम ने धर्म बंधन के कारण निर्वासन आदेश स्वीकार किया तथा उसी भावना के आग्रह से विद्रोही लक्ष्मण को शांत किया, किन्तु जब माता कौसल्या को उन्होंने अपने निर्वासन का संदेश दिया तब वे व्यग्र हो उठे। वन में जाकर उन्होंने अपने निर्वासन के प्रति असंतोष व्यक्त किया और राजा दशरथ की स्त्रैणता की भर्त्सना की। तुलसीदास के राम के आचरण में इस प्रकार की विवशता, खिन्नता तथा पछतावे के दर्शन नहीं होते। इसका कारण ही यह है कि वे अन्तर्मन की प्रेरणा से वन जाते हैं, किसी नैतिक दबाव के कारण नहीं। उनका अन्तर्मन उनका साथ इसलिए देता है कि उनके व्यक्तित्व में सामाजिकता--सामाजिक हित में कार्य करने की प्रवृत्ति[2]--का प्रचुर समावेश है। वन में सुमंत्र को अयोध्या के लिए विदा करने समय लक्ष्मण द्वारा कुछ कड़वी बातें कहने पर वे संकोच का अनुभव करते हैं और शपथ दिलाकर उससे अनुरोध करते हैं कि पिता को इस बात की सूचना न दें।

चित्रकूट प्रसंग में राम की यही विशेषता और भी अधिक उभरकर पाठक के समक्ष आती है। वहाँ मानस के राम वाल्मीकि के राम के समान नहीं लौटने के आग्रह पर अलट नहीं रहते।[3] भरत के प्रति ईर्ष्या की बात तो दूर रही, वे भरत

---

[1] मानस, अयोध्याकांड, ६।३

[2] *It is the mood of giving, or serving or helping, which brings with itself a certain compensation and psychic harmony, like the gift of the gods which takes roots in him who gives it away*

—A Adler, *Understanding Human Nature, p. 211*

[3] मानस, अयोध्याकांड, २६३।४

के कहने पर पितृ-आदेश की अवहेलना के लिए भी तैयार हो जाते हैं। परछंदानुवर्तन की यह प्रधानता उनकी समाज-चेतना का ही परिणाम है।

जनकपुर की यज्ञ भूमि में बालकों के साथ उनका स्नेहपूर्ण एवं आत्मीयतामय व्यवहार, गुह के साथ सखा-भाव, शबरी पर कृपा आदि प्रसंग भी उनकी सामाजिक चेतना का ही निदर्शन करते हैं।

उनके व्यक्तित्व में सामाजिक तत्त्व वात्सल्य के योग से और अधिक निखर उठा है। राम के प्रधान कार्य इसी मूलप्रवृत्ति में चरितार्थ हुए हैं। विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा, धनुष भंग द्वारा जनक का संताप-हरण, देवकार्य के लिए वन-गमन, राक्षस वध की प्रतिज्ञा, रावण वध आदि सभी कार्य इसी मूलप्रवृत्ति से संचालित हुए हैं। दुर्बलों की रक्षा भावना वात्सल्य प्रवृत्ति के परिवर्तन के अन्तर्गत ही आती है।

राम की सामाजिकता विनम्रता के संयोग से बड़ी आकर्षक बन गई है। परशुराम के विसंगत व्यवहार के कारण राम को मन ही मन हँसी अवश्य आती है, किन्तु वे प्रकट रूप से परशुराम का अपमान नहीं करते। उन्हें वे सम्मानसूचक शब्दों से ही संबोधित करते हैं और अपने आपको उनकी तुलना में सदैव छोटा मानते हैं।

वन गमन के समय वे सीता से घर ही रहने का अनुरोध करते हुए सास की सेवा सम्बन्धी कर्त्तव्य पर बल देते हैं—

आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥
एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सास ससुर पद पूजा॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम बिकल मति भोरी॥
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुन्दरि समुझाएहु मृदु बानी॥
कहउँ सुभाय सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखउँ तोही॥[1]

इसी प्रकार लक्ष्मण को समझाते हुए भी परिवार और प्रजाजन के परिपालन का विचार उनके समक्ष रखते हैं—

भवन भरत रिपुसूदनु नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥[2]

निर्वासन के क्षणों में परिवार का ही नहीं प्रजाजनों के परिपालन सम्बन्धी दायित्व का निर्वाह राम के चरित्र की सामाजिकता—शील—का ज्वलंत प्रमाण है।

१—मानस, २/६०/२
२—वही, २/७०/१-३

मानस से पूर्व रामकाव्य मे कही भी उनकी सामाजिकता इस रूप मे व्यक्त नहीं हो पाई है। वाल्मीकि मे भी राम सीता को घर ही छोडना चाहते, हैं किन्तु वन की असुविधाओ के विचार से और लक्ष्मण का छोडना चाहते हैं भरत पर निगरानी रखने के लिए। तुलसीदासजी ने इस प्रसंग का मूलभूत प्रयोजन बदलकर राम के व्यक्तित्व को असाधारण स्नेह, विश्वास और कर्तव्य-भावना से युक्त बना दिया है। राम की इन विशेषताओ का आधार है उनकी सामाजिकता।

राम की सामाजिकता का एक और रूप मानस मे दृष्टिगोचर होता है। मानसकार ने राम को व्यथा के क्षणो मे भी समाज विरोधी व्यवहार करते हुए नही दिखलाया है। सीता-हरण के उपरांत उनकी उद्विग्नता नारी जाति और अपने प्रति कटूक्तियो के रूप मे ही व्यक्त हुई है। वाल्मीकि रामायण के समान वहाँ वे जगत के विनाश की बात वे नही सोचते। समुद्र द्वारा मार्ग न दिये जाने पर भी वे एकाएक क्रुद्ध नही हो उठते। पहले उसे सत्याग्रह द्वारा प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, जब वह यो नहीं मानता तभी वे उसे सोख लेने की बात सोचते हैं। और तो और रावण पर आक्रमण करने से पूर्व भी वे उसे समझाने और युद्ध टालने का प्रयत्न करते है। इसलिए तो अगद को रावण के दरबार मे भेजते समय वे कहते हैं—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करिअ बतकही सोई ॥[1]

इस सामाजिकता के बावजूद राम के व्यक्तित्व मे आक्रोश के दर्शन होते हैं किन्तु इस आक्रोश का सम्बन्ध सामाजिक न्याय भावना से है। वत्सलता (दुर्बलो की रक्षा भावना) मे बाधा उपस्थित होने से क्रोध को जन्म मिलता है। राम मे इस प्रकार का अमर्ष हमें दिखलायी देता है जो सामाजिक हित का सम्पादन करता है और न्याय की रक्षा के लिए संघर्ष करता है। इस न्याय-भावना के लिए जिस उत्साह की आवश्यता है वह भी राम के चरित्र मे दृष्टिगोचर होता है। राम के चरित्र मे आत्मप्रकाशन भी उन्ही अवसरो पर व्यक्त हुआ है जब वे सामाजिक हित के लिए उत्साह प्रदर्शित करते हैं। राक्षस-वध की प्रतिज्ञा इस बात का बहुत अच्छा उदाहरण है। यहाँ उनकी प्रतिज्ञा मे उनका आत्मविश्वास-मिश्रित उत्साह व्यक्त हो रहा है जो आत्मस्थापना का ही परिणाम है—

१—मानस, लंकाकाण्ड, १६/४

२—*It is in virtue of such extensions to similar that when we see, or hear of the illtreatment of any weak, defenceless creature (Especially of course if the creature be child) tenderness and the protective impulses are aroused on its behalf but are apt to give place atonce to the anger we call moral indignation against the operations of the cruelty.*

—W McDougall, *Social Psychology, p. 64*

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्ह जाइ जाइ सुख दीन्ह॥[1]

इस प्रकार राम की वीरता इन्ही तीन प्रवृत्तियों—वात्सल्य (दुर्बलों की रक्षा-भावना), आतताइयो के प्रति क्रोध तथा उसके उन्मूलन के लिए उत्साह (आत्म प्रकाशन) की ही अभिव्यक्ति है।

उनके इस शौर्य के साथ ही उनके पत्नी प्रेम की अन्त सलिला बहती है। काम-प्रवृत्ति गौण रूप से उनके शौर्य को उद्दीप्त करती है। धनुष-यज्ञ के अवसर पर राम का जो पराक्रम व्यक्त होता है, उसमे सीता के प्रति उनका आकर्षण भी सहायता देता है। जब सीताजी प्रेम-पन ठानकर रामचन्द्रजी की ओर देखती हैं तो वे बड़े आश्वस्त भाव से धनुष की ओर देखते हैं—

प्रभु तन चितइ प्रेम पन ठाना। कृपा निधान राम सब जाना॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघु ब्यालहि जैसे॥[2]

इससे स्पष्ट है कि धनुर्भंग के पीछे सीता के प्रति राम का प्रेम भी एक प्रेरक का काम कर रहा था।

मानस के उत्तरार्ध की प्रमुख घटना—रावणवध—के साथ राम का सीता-प्रेम अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, लेकिन राम की चेष्टाओ की प्रमुख प्रेरणा दुर्बलो के प्रति उनका वात्सल्य है—सीता के प्रति उनका प्रेम उन्हे गौण रूप से प्रेरित करता है।

मानस के राम का पत्नी प्रेम भी वाल्मीकि के राम के पत्नी-प्रेम से भिन्न कोटि का है। वाल्मीकि के राम सीता के वियोग मे बुरी तरह तड़पते दिखलायी देते हैं, किन्तु रावणवध के उपरान्त सीता से मिलने पर उनके साथ सद्व्यवहार नहीं करते।[3] वहाँ आत्मप्रतिष्ठा पत्नी-प्रेम से बाजी मार ले जाती है। मानस के राम सीता के विरह मे उतने तड़पते नही, बड़े सांकेतिक ढंग से अपने प्रेम का संदेश सीता के पास भेजते हैं। रावणवध के उपरान्त सीता से मिलने पर दुर्वाद अवश्य कहते हैं, किन्तु उनके वे दुर्वाद प्रयोजन-गर्भित होने से सीताके प्रति उनकी प्रेम-भावना को दबा नहीं पाते। मानस मे सीता के प्रति राम का प्रेम वाल्मीकि के समान न तो प्रारम्भ में उग्र है और न अन्त मे आत्मप्रतिष्ठा की भावना से कुण्ठित।

१—मानस, अरण्यकाण्ड, ९
२—वही, बालकाण्ड, २५८/४
३—वाल्मीकि रामायण, ६/११५ (सम्पूर्ण सर्ग)

मानस के राम प्रायोपान्त समान भाव से सीता को प्रेम करते दिखलायी देते हैं। इस प्रकार प्रेम के क्षेत्र मे मानस के राम का चरित्र उदात्त है।

वस्तुत यह उदात्तता मानस के राम की विशिष्टता है जो न वाल्मीकि मे है न और अध्यात्म रामायण मे। वाल्मीकि के राम का चरित्र अत्यन्त लौकिक है और अध्यात्म रामायण मे आत्यंतिक रूप से अलौकिक। मानस के राम इन दोनो के मध्यवर्ती है। उनमे भगवद्रूपता और मानवसुलभता की समन्वित अभिव्यक्ति उदात्त मानवता के रूप मे हुई है।

लक्ष्मण

वाल्मीकि रामायण के लक्ष्मण

उच्चाह्-प्रेरित उदात्तता के प्रभाव से राम का समग्र व्यक्तित्व पाठक को अपनी उज्ज्वलता एवं भव्यता से प्रभावित करता है। रामायण का पाठ समाप्त करने पर रामचन्द्र की यह उज्ज्वल और साधु मूर्ति ही हमारे मानसपटल पर सदा के लिए अंकित रह जाती है।[1] इसके विपरीत लक्ष्मण के चरित्र की साधुता उनके उग्र व्यवहार की ओट मे छिप-सी गई है। लक्ष्मण की उग्रतापूर्ण उक्तियो को देखकर आलोचको ने उन्हे अन्यथा समझ लिया है--उनकी उक्तियो को 'रूखी और दुर्विनीत'[2] बतलाया है। आलोचकों ने ही नहीं उत्तरवर्ती कवियो ने भी शायद इसलिए उन्हे वाल्मीकि से भिन्न दूसरा ही रूप दे दिया है। अतएव चरित्र समीक्षक के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य लक्ष्मण की अन्त:प्रेरणा को समझना है।

वाल्मीकि के लक्ष्मण के व्यक्तित्व को समग्र रूप मे देखने से पता चलता है कि उग्रता उनके व्यवहार की प्रकृति न होकर अन्य प्रेरणाओ की परिणति मात्र है। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लक्ष्मण सर्वत्र उग्र नहीं है—अनेक स्थलो पर तो उनका व्यवहार राम की तुलना मे भी कहीं अधिक संयत दिखलायी देता है। सीता का पता न चलने पर राम सारी सृष्टि के विनाश पर उतारू हो जाते हैं[3] और सागर द्वारा मार्ग न दिए जाने पर सागर को सोख लेने के लिए शर-संधान कर लेते हैं,[4] उक्त दोनो स्थलो पर लक्ष्मण ही उनके क्रोध का निवारण करते हैं। माया-रचित सीता के वध को देखकर राम जब शोकार्त हो जाते हैं उस समय लक्ष्मण ही उनके भावावेश को शान्त करते है।[5]

---

[1] १—प्रो० दीनेशचन्द्र सेन रामायणी कथा, पृ० ११७

[2] २—वही, पृ० १३५

[3] ३—वाल्मीकि रामायण, ३/६४/५७ ७३

[4] ४—वही, ६/११/१४ २५

[5] ५—वही, ६/८३ (सम्पूर्ण सर्ग)

ऐसे विचारशील एवं संयमी व्यक्तित्व में जो प्रचण्ड उग्रता दिखलायी देती है—वह केवल उस समय जब वे न्याय का गला घुटता हुआ देखते हैं। अन्याय और प्रवचना के विरोध में ही उनका क्रोध भड़का है। राम यौवराज्य की उपेक्षा कर निर्वासन आदेश को शिरोधार्य करते हैं, किन्तु उससे लक्ष्मण को संतोष नहीं होता। इसका कारण यह नहीं है कि राम शान्त स्वभाव के हैं और लक्ष्मण उग्र स्वभाव के। वस्तुतः दोनों की भिन्न प्रतिक्रियाओं का कारण जीवन मूल्यों की भिन्नता में निहित है। राम की दृष्टि में धर्म—लोकमत, सामाजिक मान्यता और परम्परागत आदर्शों—का मूल्य अधिक है[1] जबकि लक्ष्मण की दृष्टि में अर्थ—प्रयोजनोपलब्धि का। इसलिए राम निर्वासन आदेश को धर्म—कर्त्तव्य—के रूप में ग्रहण करते हैं और लक्ष्मण उसे अर्थ-हित—उपलब्धि में व्याघात के रूप में। उस अवसर पर दोनों के जीवन-मूल्यों सम्बन्धी दृष्टिकोणों के अन्तर और विरोध का चित्रण वाल्मीकि ने बड़ी सजीवता से किया है। इस प्रसंग में लक्ष्मण अपने पिता के प्रति जो असम्मानपूर्ण बातें कहते हैं, उन्हें राम-लक्ष्मण के दृष्टिकोण भेद की सापेक्षता में रखकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ-यथोचित—उपलब्धि—में व्याघात आने से ही लक्ष्मण का क्रोध भड़कता है क्योंकि वे राम के निर्वासन के आदेश को अर्थ प्रवचना के रूप में देखते हैं। सुग्रीव के प्रति भी लक्ष्मण का रोष इसलिए भड़कता है कि लक्ष्मण सुग्रीव के प्रमाद को अर्थ—प्रवचना राम की सहायता के वचन को भुलाकर उनके प्रयोजन की सिद्धि में बाधक होने के रूप में देखते हैं। भरत के चित्रकूट आगमन को भी वे इसी रूप में देखते हैं और इसलिए क्रुद्ध हो उठते हैं। माया-रचित सीता का वध देखकर अत्यन्त व्याकुल हुए राम को समझाते समय भी लक्ष्मण थोड़े आवेश में आकर उनकी विपन्नता का मूल अर्थ—प्रयोजनोपलब्धि—की अवहेलना तथा उनके धर्मपरायण आचरण को मानते हैं—

> येषां नश्यत्ययं लोकश्चरतां धर्मचारिणाम् ।
> तेऽर्थास्त्वयि न दृश्यन्ते दुर्दिनेषु यथा ग्रहाः ।।[3]

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उग्रता लक्ष्मण की सहज प्रकृति नहीं है—वह तो अर्थ बाधा की प्रतिक्रिया मात्र है। इसलिए लक्ष्मण के चरित्र की धुरी अर्थ—प्रयोजनोपलब्धि है। क्रोध तो विशेष परिस्थिति में उसका प्रतिफलन मात्र है। क्रोध कारण नहीं, कार्य है। इसलिए उसे लक्ष्मण के चरित्र की विशेषता नहीं माना जा सकता। उनके क्रोध के मूल में निहित अर्थपरायणता ही वस्तुतः उनके

१—वाल्मीकि रामायण, २/२१/४१
२—वही, २/२१/३-१९
३—वही, ६/८३/४०

चरित्र की मूल विशेषता है जिसको लेकर वे राम के धर्मपरायण दृष्टिकोण का प्रतिवाद करते हैं—

शुभे वर्त्मनि तिष्ठन्त त्वमार्यं विजितेन्द्रियम् ।
अनार्थेभ्यो न शक्नोति त्रातु धर्मो निरर्थक ॥[1]

जीवन मूल्यो सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण की भिन्नता को लक्ष्मण अपनी भ्रातृ-भक्ति मे बाधक नही बनने देते । दृष्टिकोण की भिन्नता होते हुए भी राम की इच्छा के समक्ष वे अपने आग्रह का उत्सर्ग कर देते हैं । वन-गमन के प्रसग मे ऐसा ही हुआ है । लक्ष्मण राम की धर्मपरायणता को कभी अच्छा नही मानते, किन्तु राम की इच्छा के विरुद्ध वे कभी आचरण नही करते । मतभेद होने पर वे राम के निर्णय को सर्वोपरि स्थान देते हैं ।[2] लक्ष्मण जैसे स्वतन्त्र चेता के व्यक्तित्व मे विनय का जो समावेश यहाँ दिखलायी देता है उसका श्रेय उनकी भ्रातृ निष्ठा को है ।

भ्रातृनिष्ठा के परिणामस्वरूप ही हम लक्ष्मण को सदा राम की हितचिन्ता में सलग्न देखते हैं । सीता हरण के उपरान्त उनके व्यक्तित्व का नया पक्ष प्रकाश में आता है । अब उन पर भावविह्वल राम का सम्हालने का दायित्व भी आ जाता है । इसलिए राम की भाव-विमुग्धता के क्षणों मे लक्ष्मण की बुद्धिमत्ता का प्रकाशन बड़े प्रभावशाली रूप मे हुआ है ।[3]

अथ व्याघात-प्रयोजनोपलब्धि बाधा से उत्पन्न क्रोध के अतिरिक्त लक्ष्मण को भावावेग की अवस्था मे प्राय बहुत कम देखा गया है । आत्मसयम का निर्वाह उनके चरित्र म प्रचुर अशो मे दिखलाई देता है । यौनावेग के तो दर्शन भी उनके चरित्र म कही नही होते —सवरण अवश्य दिखलाई देता है । सीता के आभूषणो की पहिचान के अवसर पर[4] तथा सुग्रीव के अन्तपुर म पहुँचने पर उनका यौनावेग सवरण (Inhibition) स्पष्ट दिखलायी देता है ।[5]

उनके चरित्र का यह उज्ज्वल पक्ष उनके व्यवहार की उग्रता के आगे दब सा गया है—उनकी इस उग्रता को राम तक ने गलत समझ लिया । भरत के चित्रकूट-आगमन के अवसर पर लक्ष्मण के क्रोध को देख कर राम ने यहाँ तक कह डाला कि

१—वाल्मीकि रामायण ६/८३/१४

२—दीनेशचन्द्र सेन, —रामायणी कथा, पृ १५०

३—वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड सर्ग ६५ ६६

४—नाह जानामि केयूरे नाह जानामि कुण्डले ।
   नूपुरे त्वभिजानामि नित्य पादाभिवन्दनात् ॥ —वाल्मीकि रामायण, ४/६/२२ २३

५—वही ४/३ २ २५

'यदि तुम्हें राज्य की आकांक्षा हो तो हम भरत से कहकर तुम्हें राज्य दिलवा देंगे ।'[1] परन्तु लक्ष्मण के चरित्र की महानता इस तथ्य से और भी अधिक बढ़ जाती है कि उनका धर्मपरायण दृष्टिकोण भी अपने लाभ के लिए नहीं था । भ्रातृ-भक्ति में लक्ष्मण ने अपने व्यक्तित्व को आकण्ठ निमज्जित कर दिया था । दृष्टिकोण-भेद के होते हुए भी भ्रातृ-भक्ति में आत्म-विसर्जन करने की क्षमता लक्ष्मण के चरित्र को असाधारण बना देती है ।

मानस के लक्ष्मण

मानस के लक्ष्मण के चरित्र में धर्म-चेतना के स्थान पर भ्रातृ भक्ति की प्रबलता दृष्टिगोचर होती है । डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र ने उन्हें भ्रातृत्व के संयोग-पक्ष का प्रतीक कहकर उनके चरित्र की मूल चेतना का का उद्घाटन किया है । डॉ० मिश्र के शब्दों में 'संयोग पक्ष की तदीयता लक्ष्मण में पूर्ण प्रस्फुटित हुई है । उन्होंने अपना सर्वस्व राम को अर्पित कर दिया था । और आजीवन उनके साथ रहकर जैसी उनकी सेवा की थी वह सभी प्रकार से आदर्श कही जा सकती है ।'[2]

मनोवैज्ञानिक शब्दावली में लक्ष्मण के चरित्र-चित्रण की 'तदीयता' तादात्म्य-प्रक्रिया का परिणाम है ।[3] राम के साथ लक्ष्मण के तादात्म्य की बात वन-गमन के अवसर पर कवि ने लक्ष्मण के मुख से ही कहलवा दी है—

> गुरु पितु मातु न जानउँ काहू । कहउ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
> जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
> मोरे सबहि एक तुम्ह स्वामी । दीन बंधु उर अन्तरजामी ॥[4]

इसलिए लक्ष्मण को जहाँ-जहाँ राम की प्रतिष्ठा पर आँच आती प्रतीत होती है वहाँ वहाँ वे राम से भी पहले सन्नद्ध हो जाते हैं । धनुर्यज्ञ के अवसर पर राजा जनक की 'वीर विहीन मही मैं जानी' जैसी अपमानजनक उक्ति को सुनते ही लक्ष्मण भड़क उठते हैं और अपने पराक्रम का बखान कर डालते हैं । आलोचक लक्ष्मण की इस उग्रतापूर्ण उतावली पर विस्मित हो सकता है, किन्तु लक्ष्मण के शब्दों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाएगा कि लक्ष्मण की ये उक्तियाँ आत्मप्रकाशनमूलक न होकर राम के साथ उनके तादात्म्य का परिणाम थीं । लक्ष्मण के उग्रतापूर्ण शब्दों के

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, २/९७ १७

[2] २—मानस माधुरी, पृ० ११७

[3] 3—*This is 'Feeling oneself into' the other person.*
—N L. Munn, *Psychology*, *p. 131*

[4] ४—मानस, २/७१/२-३

मध्य जो राउर अनुसासन पावौं'[1] 'और तव प्रताप महिमा भगवाना'[2] आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मण को अपने बल का गर्व नहीं था—राम कृपा का गर्व था। वही उनके समूचे आत्मविश्वास का आधार था।

भरत के चित्रकूट-आगमन के समय लक्ष्मण का क्रोध तादात्म्य का परिणाम था। उन्होंने भरत-आगमन के समय जैसे ही राम को थोड़ा चिंतित होते देखा वे तुरन्त उसके प्रतिकार के लिए तैयार हो गये और उन्होंने घोषणा कर दी—

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फल पाई। सोवहु समर सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू[3]

'आजु रामु सेवक जसु लेऊँ' का संकेत भी तादात्म्य की ओर ही है।

कभी-कभी लक्ष्मण राम की इच्छा के विरुद्ध आचरण करते दिखलाई देते हैं। परशुराम के साथ वाग्युद्ध के अवसर पर राम उन्हें अनेक बार बरजते हैं, किन्तु वे परशुराम को छकाते चले जाते हैं, समुद्र से रास्ता माँगने के अवसर पर वे राम के विनयपूर्ण दृष्टिकोण के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करते हैं[4] और राम द्वारा सीता की अग्नि-परिक्षा का आदेश दिया जाने पर वे विषण्ण हो उठते हैं।[5] इस सम्बन्ध में डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र ने बड़े पते की बात कही है 'जब कभी राम के व्यक्तिगत हित और राम के आदेश का द्वन्द्व उपस्थित होता दिख पड़ा है तो लक्ष्मण ने आदेश की अवहेलना करके उनके हित की ही ओर ध्यान दिया है।'[6] आदेश की अपेक्षा हित का ध्यान भी तादात्म्य प्रक्रिया का परिणाम होने के कारण उनकी उग्रता का परिहार कर देता है।

वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण का तादात्म्य दूसरी श्रेणी का, हित-चिन्ता-विषयक होने के कारण उनका आक्रोश सबसे अधिक उन प्रसंगों में उभरा है जहाँ राम का अहित हुआ है अथवा होता जान पड़ा है। वे सबसे उग्र राम के निर्वासन-प्रसंग में दिखलाई देते हैं और उससे कुछ कम चित्रकूट में भरत-आगमन के अवसर पर। प्रथम अवसर पर वे खुलकर राम के भाग्यवाद का विरोध करते हैं।[7]

१—मानस, १/२५२/२
२—वही १/२५२/२
३—मानस, अयोध्याकाण्ड, २२९।२-३।
४—मानस, सुंदरकाण्ड, ५०।१।
५—मानस, लंकाकांड, १०८।२।
६—मानस माधुरी, पृ० ११५।
७—वाल्मीकि रामायण, २/२३/१६

तुलसीदासजी ने लक्ष्मण के इस आचरण को अपने सामाजिक मूल्यों के प्रतिकूल होने के कारण समुद्र से रास्ता माँगे जाने के अवसर पर स्थानान्तरित कर दिया है। इस प्रसंग में वाल्मीकि के लक्ष्मण जहाँ क्रुद्ध राम को शान्त करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ तुलसीदासजी के लक्ष्मण राम के भाग्यवाद का प्रतिवाद करते दिखलायी देते हैं—

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा।।
कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।।[1]

परन्तु मानस के लक्ष्मण की यह उक्ति उनके सिद्धान्त की सूचक नहीं है। इसे प्रासंगिक उक्ति से बढ़कर महत्त्व देना ठीक नहीं होगा क्योंकि अयोध्याकाण्ड में ये ही लक्ष्मण भाग्यवाद का प्रतिपादन कर चुके हैं—

कोउ न काहू सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता।।[2]

वाल्मीकि और तुलसीदास के लक्ष्मण में अन्तर है। बाल्मीकि के लक्ष्मण भी सदैव राम की हित चिन्ता में संलग्न हैं—संकट के क्षणों में वे ही राम को सम्हालते हैं, किन्तु वे भ्रातृ-हित-चिन्ता के साथ अपने निजी जीवन-दर्शन—अर्थ-परायण जीवन-मूल्यों—पर सदैव बल देते हैं। राम की धर्मपरायण जीवन-दृष्टि के समक्ष आत्म समर्पण करते हुए भी वे राम को अर्थ की महत्ता समझाने से नहीं रुकते। युद्ध भूमि में हताश राम को भी वे अर्थ की उपेक्षा के लिए भला बुरा कहते हैं।[3] तुलसीदास ने लक्ष्मण के स्वतंत्र दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। वहाँ वे जो कुछ करते हैं सो सब भ्रातृ-हित-चिन्ता के कारण। इसलिए जब वे 'दैव-दैव आलसी पुकारा' आदि शब्द कहते हैं तब उसे उनका सिद्धान्त वाक्य नहीं समझ लेना चाहिए।

वाल्मीकि के लक्ष्मण का अर्थ-विषयक स्वतन्त्र दृष्टिकोण होने के कारण उनकी उग्रता उन्हीं अवसरों पर प्रकट हुई है जहाँ अर्थ-हानि की आशंका जान पड़ी है, अन्यत्र वे बड़े ही सौम्य स्वभाव के व्यक्ति जान पड़ते हैं। तुलसीदासजी ने लक्ष्मण के इस अर्थ-प्रधान दृष्टिकोण का बहिष्कार कर उनकी उग्रता को राम की प्रतिष्ठा की संभावित क्षति से सम्बद्ध कर दिया है। इस सम्बन्ध में वे हनुमन्नाटक से प्रभावित हुए हैं।

राम की प्रतिष्ठा के साथ-साथ आत्मप्रतिष्ठा की भावना भी मानस के लक्ष्मण में दृष्टिगोचर होती है, पर बहुत कम। स्वर्णमृग के पीछे गये हुए राम को पुकार

---

[1] —मानस, सुन्दरकांड, ५०/२
[2] —वही, अयोध्याकांड, ९१/२
[3] —वाल्मीकि रामायण, ६/११६/३०

(जो वस्तुत मारीच की पुकार थी) सुनकर जब सीता व्यग्र हो उठती हैं और लक्ष्मण से राम की रक्षा के लिए जाने को कहती हैं तब वे राम के आदेशानुसार सीता को को अकेली छोडना उचित नही समझते, किन्तु जब सीता कुछ आक्षेपपूर्ण वचन (मरम वचन) कहती हैं तब लक्ष्मण विचलित हो उठते हैं और उन्हें छोडकर राम की रक्षा के लिए निकल पडते हैं। लक्ष्मण की आत्मप्रतिष्ठा अह से ही सम्बन्धित है, किन्तु यह आत्म प्रकाशन उनके चरित्र की मुख्य विशेषता नहीं है।

तुलसीदास के लक्ष्मण जो इतने उग्र प्रतीत होते हैं उसका एक कारण यह है कि वाल्मीकि द्वारा चित्रित उनके चरित्र के दूसरे पक्ष-धैर्य को तुलसीदासजी ने उनके चरित्र मे बहुत गौण बना दिया है। वाल्मीकि मे जब-जब राम अधीर हो उठे हैं लक्ष्मण ने ही उन्हे धैर्य बँधाया है, किन्तु तुलसीदासजी के लक्ष्मण गुहराज को ही धैर्य बँधाते दृष्टिगोचर होते हैं, राम को नही। तुलसीदासजी ने सभवत ऐसा इसलिए किया है कि वे राम को अधीर दिखाना उचित नहीं समझते होगे। साथ ही लक्ष्मण द्वारा राम को धैर्य बधाये जाने से उन्हे लक्ष्मण के चरित्रोत्कर्ष के साथ राम के चरित्र पकर्ष की आशका हुई होगी। इसलिए उन्होने चरित्र के उस पक्ष पर पर्दा डाल दिया है।

तुलसीदासजी को अभीष्ट यही था कि वे लक्ष्मण को छायावत् राम का अनुसरण करते दिखलाते। लक्ष्मण के चरित्र को तादात्म्य प्रक्रिया पर प्रतिष्ठित कर वे अपने इस उद्देश्य मे पूर्ण सफल हो सके हैं।

भरत

रामायण के भरत

रामायण के समीक्षकों को भरत का चरित्र सब से अधिक निर्दोष जान पडा है।[1] वस्तुत रामायण का कोई पात्र उतना शुद्धान्त करणवादी नहीं है जितने भरत दिखलायी देते हैं। भरत की भ्रातृ भक्ति के साथ-साथ अन्त करण की शुद्धि के प्रति उनकी सचेष्टता उनके चरित्र को अत्यन्त भव्य रूप दे देती है।

मामा के घर से लौटते ही राम के निर्वासन का समाचार पाकर वे एकाएक तडप उठते हैं। उनकी उस तडप मे भ्रातु-वियोग की पीडा उतनी नहीं दिखलायी देती जितनी राम से हुए अपराध की आशका जन्य चिन्ता इसलिए उनके निर्वासन का समाचार पाते ही वे तुरन्त पूछते हैं कि राम ने किसी ब्राह्मण का धन हर लिया या किसी निरपराध व्यक्ति की हत्या कर दी या उनका मन किसी पराई स्त्री की ओर चला गया—

तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशकया ।
स्वस्यवशस्य माहात्म्यात् प्रष्टु समुपचक्रमे ।।

---

[1] —प्रो० दीनेशचन्द्र सेन, रामायणी कथा, पृ० १३५

> कच्चिन्न ब्राह्मण-धनं हृतं रामेण कस्यचित् ।
> कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ।।
> कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।
> कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ।।[1]

राम के निर्वासन मे किसी अपराध के दण्ड की आशका भरत के शुद्धान्त करणवादी स्वभाव का ही परिणाम है।

अपनी माँ की क्रूरता को वे अपने ही सम्बन्ध से देखते हैं और इसलिए अपयश की आशका से व्याकुल हो उठते हैं राम को लौटाकर लाने का प्रयत्न भी वे अपयश प्रक्षालन-हेतु करते हैं। अपनी माँ के षड्यन्त्र से वे अपने आदर्श रूप मे भ्रंश की आशका करते हैं और उससे उन्हे बडी तीव्र आत्मग्लानि होती है ।

उनकी ग्लानि का प्रधान कारण उनका सिद्धातवादी तथा अन्तमुखी स्वभाव है जो मूलत. आत्मभाव-रक्षण की प्रक्रिया का परिणाम है। राम को अयोध्या लौटा लाने का प्रयत्न तथा स्वय नन्दिग्राम मे राम के समान निर्वासित का जैसा जीवन व्यतीत करने का निश्चय भी उसी प्रक्रिया का प्रतिफलन है।

राम के विरुद्ध षड्यन्त्र मे सम्मिलित होने के सम्बन्ध मे राम, लक्ष्मण, आदि सभी को उनके प्रति आशका होती है किन्तु भरत किसी के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त नही करते—यदि उनके मन मे आक्रोश उत्पन्न होता है तो अपनी माता या स्वय अपने प्रति। उच्चाह की अन्तर्मुखी परिणति की स्थिति मे व्यक्ति अपने आप पर ही आक्रोश करता है।[2]

आत्म ग्लानि और दूसरे लोगो की आशंकाओ के ताप से भरत का चरित्र और भी उज्ज्वल, और भी अधिक आभा से सम्पन्न हो उठा है। रामायण की विस्तृत कथा के अल्पभाग मे भरत की भूमिका सीमित रहने पर भी समस्त काव्य उनके चरित्र की आभा से जगमगा उठा है। सुग्रीव और विभीषण जैसे भाइयों के अस्तित्व ने उनके चरित्र की कांति को और भी निखार दिया है।

मानस के भरत

भरत के चरित्र का जो अंश मानस में चित्रित किया गया है उसके केन्द्र मे उनका शुद्धान्तकरण समन्वित भ्रातृ-प्रेम है। 'राम के प्रति उनका जितना स्नेह संचित था वह एक गहरी ठोकर लगते ही बडे वेग मे उमड पडा।'[3] यह ठोकर थी

१—वाल्मीकि रामायण, २/३२/४३-४५

२—R S Woodworth, *Contemporary Schools of Psychology*, p. 190

3—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, मानस माधुरी, पृ० ११५

लोकापवाद की आशंका जो उनके शुद्धान्त करण (Conscience) मे निहित थी। यद्यपि मानस मे वाल्मीकि रामायण के समान भरत को लोकापवाद का उतना लक्ष्य नहीं बनना पड़ा है, फिर भी शुद्धान्त करण की अभिव्यक्ति की दृष्टि से मानस वाल्मीकि रामायण से पीछे नही है। वाल्मीकि ने लोकापवाद की अग्नि मे भरत के चरित्र को बहुत तपाया है। राम, कौसल्या, लक्ष्मण, गुहराज, भरद्वाज आदि सभी भरत पर थोड़ा-बहुत सन्देह अवश्य करते हैं। उस सन्देह के परिप्रेक्ष्य मे निखरा है भरत का चरित्र। मानस मे लक्ष्मण, गुह और थोड़े से अयोध्यावासी ही भरत के प्रति सन्देहशील दिखलाये गए हैं, राम अथवा कौसल्या के मन मे भरत के प्रति सन्देह का लेश भी नही है फिर भी भरत का बार-बार शपथपूर्वक अपनी निर्दोषता प्रमाणित करना उनके शुद्धान्त करण के अतिरेक का ही परिणाम है।

शुद्धान्त करण के परिणामस्वरूप ही भरत निरन्तर अपराध-भावना से ग्रस्त और आत्मावमूल्यन की व्यथा[१] से त्रस्त दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि राम के निर्वासन के लिए वे उत्तरदायी नही थे, फिर भी निमित्त तो बनाये ही गए थे। निमित्त मात्र होने से वे अपनी ही दृष्टि मे गिर गए थे। इसीलिए वे अपनी माता को धिक्कारते हैं जिसने उनके माथे पर कलंक का टीका लगा दिया। अपने शुद्धान्त करण के कारण ही उन्हें अपनी माँ की यह करतूत कुरुचिपूर्ण प्रतीत होती है—

जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही।[२]

इसी शुद्धान्त करण के परिणामस्वरूप वे अपने आपको पातकी समझ बैठते हैं—

मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनवासू ॥[३]
× × ×
मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू ॥[४]
× × ×
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहउँ सब सूला ॥[५]

१—*Superego corresponds to what we ordinarily call conscience ... They feel guilty for acts which they have not performed if they have merely thought of doing them, and they may go through elaborate rituals of self punishment making life miserable. Their superego is fierce and relentless. In general freud held that the superego is motivated by aggressive tendency turned inward against the ego.*

—R.S. Woodworth, *Contemporary chools of Psychology, p. 190.*

२—मानस, अयोध्याकाण्ड, १६०/४

३—मानस, अयोध्याकाण्ड, १७८/२

४—वही, १७८/३

५—वही, १६१/२

भरत की इस व्यथा का अन्त तब होता है जब राम उनके समक्ष यह स्पष्ट कर देते हैं कि उन्हें भरत पर कोई सन्देह नहीं है—वे भरत को पूरी तरह शुद्ध समझते हैं।

अपडर डरेउँ न सोच समूलें। रबिहि न दोषु देव दिसि भूलें।।
× × ×
लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू।।[1]

निर्वासन की अवधि बीतने पर राम के अयोध्या पहुँचने में जब एक दिन रह जाता है तब भरत की यह चिन्ता कि राम मुझे पापी समझकर न आये होंगे उनके शुद्धान्तःकरण का ही परिणाम है।

वाल्मीकि के भरत के समान मानस के भरत राम को लौट चलने के लिए बाध्य नहीं करते यद्यपि राम उनकी इच्छा के समक्ष पितृ आदेश की अवहेलना के लिए भी तत्पर हो जाते हैं। भरत अपनी ओर से राम को धर्म संकट में डालना उचित नहीं समझते। इसलिए वे राम की इच्छा पर ही सारा निर्णय छोड़ देते हैं। भरत का यह आचरण उनके दैन्य—आत्मावमानना—की मूलप्रवृत्ति का परिणाम है। जैसाकि डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र ने कहा है—'किसी सेवक के मन में स्वामीच्छा की पूर्ति प्रधान रहती है। वह स्वामी के आदेशों के आगे ननु नच कर ही नहीं सकता। वह मान लेता है कि स्वामी की इच्छा ही परम कल्याणकारिणी होगी, अतएव उस इच्छा का आभास पाकर तदनुकूल कार्य कर उठना ही उसका परम कर्त्तव्य है। यदि स्वामी की ऐसी ही इच्छा हो तो वह अपने और आराध्य के बीच बड़े-बड़े व्यवधान भी सह लेगा।'[2] वस्तुतः यह सेवक-भाव आत्मावमानना की मूलप्रवृत्ति से ही उद्भूत होता है और भरत का आचरण उसका उत्कृष्टतम उदाहरण है। वन में राम से मिलने जाते समय उनके चरित्र की यह विशेषता स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरम कठोरा।।[3]

उत्तरकांड में राम से सज्जन-असज्जन-सम्बन्धी प्रश्न भरत स्वयं न पूछकर हनुमान से पुछवाते हैं[4]—इसका कारण भी उनका दैन्य—आत्मावमनना ही है।

दैन्य के साथ साथ सामाजिक चेतना का समावेश भी मानस के भरत के चरित्र में दिखलायी देता है। ननिहाल में दुःस्वप्न देखकर अपने माता-पिता, भाइयों आदि के सम्बन्ध में उन्हें जो चिन्ता होती है। वह उनकी परिवार-चेतना (जो समाज-

---

१—मानस, अयोध्याकांड, १६१/२
२—मानस-माधुरी, पृ० १११
३—वही, बालकांड, २०२/४
४—वही, उत्तरकांड, ३५/३

चेतना का ही अंग है) का परिणाम है। इसी प्रकार वन मे राम से मिलने जाते समय सभी अयोध्यावासियो की सम्हाल उनकी सामाजिकता का ही निदर्शन करती है—

जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा। भरत सोधु सब ही कर लीन्हा ॥[1]

× × ×

दण्ड चारि महँ भा सब पारा। उतरि भरत तब सबहि सँभारा ॥[2]

भरत के चरित्र की समस्त विशेषताएँ सुरुचि सम्पन्न हैं। सुरुचि समन्वित दैन्य, शुद्धान्तकरण और सामाजिकता ने उनके चरित्र को कुछ ऐसा निखार दिया है कि मानस मे उनका चरित्र राम के चरित्र से भी ऊँचा उठ गया है। इसलिए तुलसीदासजी ने उनके के लिए लिखा है—

दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू ॥[3]

सीता

वाल्मीकि की सीता

वाल्मीकि की सीता का चरित्र परिस्थितियो के उत्ताप के मध्य विकसित हुआ है। विस्तृत रामायण काव्य मे सीता की आद्योपान्त भूमिका होने पर भी मुख्यतः उनके चरित्र की दो विशेषताओ का प्रकाशन देखने को मिलता है। एक है उनका पातिव्रत-पति के प्रति प्रगाढ एवं अटूट प्रेम सकल्प तथा दूसरी है—आत्म-दीप्ति। प्रथम विशेषता उनके चरित्र के केन्द्र मे रही है जबकि द्वितीय का स्थान गौण रहा है।

पति के प्रति प्रगाढ एवं अटूट प्रेम सकल्प पाणिग्रहण के उपरान्त बहुत शीघ्र ही व्यक्त होता है। दशरथ केवल राम को निर्वासन का आदेश देते हैं, किन्तु सीता लाख समझाने पर भी उनके साथ जाने के अपने आग्रह से विरत नही होती। वन मे स्वर्णमृग के पीछे गये अपने पति के जैसे स्वर मे लक्ष्मण का आह्वान सुनकर और आश्वस्त लक्ष्मण को जाते न देखकर प्रेम-सकल्प की प्रगाढता के कारण ही उन्हे मर्मभेदी वचनो से पीडित करती हैं—

तमुवाच ततस्तत्र क्षुभिता जनकात्मजा ।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥
यस्त्वमस्यामवस्थाया भ्रातरं नाभिपद्यसे ।
इच्छसि त्वं विनश्यन्त रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥

१—मानस, अयोध्याकांड, १९७।१

२—वही, २०१।५

३—वही, ३२५।२

लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम् ।
व्यसननं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥
तेन तिष्ठसि विस्रब्ध तमपश्यन् महाद्युतिम् ।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत् ॥
कर्त्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः ।[1]

रावण द्वारा अपहरण किया जाने पर वे उसे पूरी शक्ति के साथ दुतकारती हैं तथा अनेक प्रकार के प्रलोभनो एवं उत्पीड़न के मध्य भी वे निरन्तर अविचलित बनी रहती हैं[2]–प्रबल प्रेम संकल्प के सहारे ही।

प्रेम संकल्प की प्रबलता के साथ-साथ ही उनके चरित्र मे यत्र-तत्र आत्म-प्रतिष्ठा की चेतना के दर्शन भी होते हैं। बहुत अधिक आग्रह करने पर भी जब राम उन्हें अपने साथ वन मे ले जाने के लिए तैयार नहीं होते तब वे उनके पुरुष कलेवर मे स्त्री का मन होने की बात कह बैठती हैं—

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातारं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ।[3]

रावण-वध के उपरान्त राम द्वारा उनकी पवित्रता के सम्बन्ध में आशंका व्यक्त की जाने पर वे अपमानपूर्ण जीवन की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना पसंद करती हैं और इसीलिए लक्ष्मण को चिता तैयार करने का आदेश देती हैं।[4] भद्र से लोकापवाद की चर्चा सुनकर राम द्वारा निष्कासित किये जाने पर वे राम के इस अन्याय के प्रति यह कहकर असंतोष व्यक्त करती हैं कि ऋषियों द्वारा पूछे जाने पर मैं अपने निर्वासन का क्या कारण बतलाऊँगी—

किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो।
कस्मिन् वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना ।[5]

अन्त मे वे जीवन भर के तिरस्कार से ऊब कर धरती माता की गोद मे समा जाती हैं।

इस प्रकार सीता की परम प्रेममयी मूर्ति आत्म गौरव की दीप्ति से जगमगा रही है।

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ३।४५।६-९
[2] —द्रष्टव्य—वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकांड, सर्ग २१ २२।
[3] —वही, २/३०/३।
[4] —वही, ६।११६।१८।
[5] —वही, ७।४८।७।

मानस की सीता

मानस की सीता अपने पति के समान सौजन्य की प्रतिमूर्ति हैं। उनका सौजन्य उनके पातिव्रत-मनोवैज्ञानिक शब्दावली में पति के प्रति दृढ संकल्प-शक्ति--विनम्रता (आत्मावमानना की मूलप्रवृत्ति) और सामाजिकता की अन्विति का परिणाम है वाल्मीकि रामायण के समान मानस में भी सीता के चरित्र की अभिव्यक्ति के अवसर बहुत कम आए हैं, फिर भी समस्त मानस सीता के चरित्र की दीप्ति से आलोकित है।

रामायण के समान ही मानस में भी सीता के चरित्र की धुरी उनका पातिव्रत है। अनुसूया ने उनकी इस विशेषता को लक्ष्य करके ही कहा था--

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित ।।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सीता का पातिव्रत पति के प्रति उनकी दृढ संकल्प-शक्ति और अटूट निष्ठा का परिणाम है। वाटिका प्रसंग में राम के प्रति 'उनके मन में जो रागात्मक आकर्षण उत्पन्न होता है उसी का विकास शनै-शनै' उनके चरित्र में होता जाता है और अशोक-वाटिका में वह चरम स्थिति पर पहुँच जाता है। डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र ने अशोक-वाटिका में सीता की दृढता को 'मनोबल' की संज्ञा दी है[2] जो उचित ही है, किन्तु सीता का यह मनोबल आकस्मिक और एकांगी नहीं है --इसकी जड़ें बहुत गहरी है और यह एक लम्बी प्रतिक्रिया का प्रतिफलन है।

मूलप्रवृत्ति की दृष्टि के सीता का यह संकल्प काम विषयक है। उनके मन में इसकी प्रतिष्ठा राम के प्रथम दर्शन के साथ ही हो जाती है। प्रथम साक्षात्कार के उपरान्त ही सीता राम का मानसिक वरण कर लेती हैं और इसीलिए वे गौरी से प्रार्थना करती है---

मोर मनोरथ जानहु नीकें। बसहु सदा उर पुर सबही कें।।
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही ।।[3]

इसीलिए वे शिव-धनुष से अनुनय विनय करती हैं--

सकल सभा कै मति भै भोरी। अब मोहि संभु चाप गति तोरी।।
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी।।[4]

१—मानस, अरण्यकाण्ड, ५
२- मानस माधुरी, पृ० १२५
३—मानस, बालकाण्ड, २३५।२
४—मानस, बालकाण्ड २५७।३

इस मनोकामना के पूर्ण हो जाने पर जब राम के साथ अयोध्या आ जाती हैं और कैकेयी के कुचक्र के परिणामस्वरूप जब राम को वन जाने की आज्ञा मिलती है तब वे राम द्वारा समझाए जाने पर भी उनके साथ चलने के हठ पर अड़ जाती हैं। यद्यपि राम उन्हें पहले ही यह समझा दी हैं कि—

आपन मोर नीक जौं चहहू। बचन हमारा मान गृह रहहू॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनी भवन भलाई॥[1]

फिर भी सीता अपने अनुरोध पर दृढ़ रहती हैं। सास ससुर की सेवा के ऊपर पति के महत्त्व की इतनी स्पष्ट प्रतिष्ठा, यदि सीता के सरल स्वभाव से निरपेक्ष रूप में देखी जाए तो भारतीय आदर्शों के अनुसार निर्लज्जता की सीमा तक पहुँच जाती है, परन्तु सरल चरित्र की पहिचान तो यही है कि वह अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति से निर्देशित होता है और इस बात का विचार नहीं करता कि वह अच्छा कर रहा है या बुरा। दूसरों की दृष्टि में उसका आचरण अच्छा या बुरा हो सकता है, उसके अपने लिए तो उसका संकल्प प्रधान है।[2] पति के साहचर्य के लिए सीता का यह आग्रह संकल्प शक्ति की बहुत ही सुंदर अभिव्यक्ति है।

इस दृढ़ संकल्प के बल पर वे मानस में भी वाल्मीकि रामायण के समान रावण के सारे प्रलोभनों और अत्याचारों की उपेक्षा करती हुई अपने व्रत पर अडिग रहती हैं। रावण को दिये गये सीता के उत्तर में राम के प्रति उनकी अटूट निष्ठा की बड़ी ही सशक्त अभिव्यक्ति हुई है—

तृन धरि ओट, कहत बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥
सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करहि बिकासा॥
अस मन समुझि कहत जानकी। खल नहिं सुधि रघुबीर बानकी॥
सठ सूनेहि हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥[3]

---

[1] १—मानस, अयोध्याकांड ६०/२

[2] २—*The simplest type of character is that which results from the cultivation of sheer will power in the absence of all moral sentiments Characters of this type, or approximation to it are not uncommon The 'hustler' the 'go getter', the man who persues his aims with ruthless determination, regardless of decency, of all manners and morals, exemplifies this type This aim may be in the judgement of others good or bad or indifferent, but to him such subtile distinctions mean nothing*

—W. McDougall, *Character and the Conduct of Life*, *p* 130

[3] ३—मानस, ५/८/३ ४

यहाँ पर सीता की पति के प्रति वही दृढ अनुरक्ति एक आदर्श के रूप मे व्यक्त हुई है जो राम-वन-गमन के अवसर पर हठधर्मी के रूप मे दिखलायी देती है। इस बात मे कोई सन्देह नही कि सीता के चरित्र मे पातिव्रत—दृढ संकल्प शक्ति—की ही प्रधानता है, फिर भी उनका आचरण कही भी सामाजिकता के विरुद्ध दिखलायी नहीं देता।

राम वन गमन के अवसर पर भी वे अपनी प्रेम-जन्य विवशता के बावजूद अपने सामाजिक दायित्व--सामाजिक चेतना--के प्रति जागरूक हैं और इसीलिए वे इस बात के लिए खेद प्रकट करती हैं कि पारिवारिक दायित्व के निर्वाह के अवसर पर वे उससे विमुख होकर वन मे जा रही है--

तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सफल न कीन्हा॥
तजब छोभु जनि छाँडिअ छोहू। करम कठिन कछु दोषु न मोहू॥[1]

वनवास से लौटने ने के बाद वे स्वयं अपने घर-बार की देख-रेख करती हैं उससे भी पारिवारिक दायित्व के प्रति उनकी चेतना का, जो सामाजिकता का ही एक अंग है, पता चलता है--

यद्यपि गृह सेवक सेवकिनि। विपुल सदा सेवा विधि गुनी।
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥
जेहि विधि कृपा सिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबइ मान मद नाहीं॥[2]

उपर्युक्त उद्धारण की अंतिम पंक्ति से सीता की एक और विशेषता का पता चलता है। वह विशेषता है उनका निरभिमानी स्वभाव जो आत्मावमानना की मूलप्रवृत्ति से सम्बन्धित है। यह आत्मावमानना एक ओर निरभिमानी स्वभाव के रूप मे व्यक्त हुई है तो दूसरी ओर सीता की संकोची प्रकृति भी उसी की उपज है। संकोच की बडी सूक्ष्म अभिव्यक्ति उस समय होती है जब सीता राम के साथ वन चलने की इच्छा प्रकट करना चाहती हैं। उनकी इच्छा बहुत सशक्त होने के कारण यद्यपि प्रकट हुए बिना तो नहीं रहती फिर भी उसकी अभिव्यक्ति से पूर्व सहज संकोच के कारण सीता की जो स्थिति होती है वह दर्शनीय है। संकोचवश कहते नहीं बनता और बिना कहे रहा नही जाता। यह द्वन्द्व--उनके हृदय का यह उद्वेलन--नाखून से धरती कुरेदने की क्रिया के रूप मे प्रकट होता है—

---

[1] —मानस, २/६८/२

[2] —वही, उत्तरकाण्ड, २३/३-४

चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना॥
चारु चरन नख लेखत धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी॥
मनहुँ प्रेम बस बिनती करहीं। हमहि सीय पद जनि परिहरहीं॥[1]

तुलसीदासजी ने सीता के चरित्र-चित्रण में अपनी ओर से बहुत कम परिवर्तन किया है, फिर भी उनकी लेखनी के संस्पर्श से सीता का एक नूतन चित्र हमारे समक्ष आता है। वाल्मीकि की सीता संकल्प की दृष्टि से बहुत दृढ़ है, किन्तु उनके चरित्र में सामाजिकता और विनम्रता का ऐसा उन्मेष दिखलायी नहीं देता। तुलसीदास ने जनक-वाटिका से ही सीता के परम प्रेम-संकल्प का उदय दिखाकर उसकी दृढ़ता को मनोवैज्ञानिक भूमि प्रदान की है। काम-सूत्र के लेखक महर्षि वात्स्यायन ने इस बात की ओर संकेत किया है कि थोड़ी आयु का लगाव आगे चलकर बड़ा प्रबल हो जाता है।[2] राम के प्रति सीता की दृढ़ता इसी आधार पर प्रतिष्ठित है।

इस संशोधन के साथ ही तुलसीदासजी ने सीता के चरित्र में कुछ ऐसी विशेषताओं का समावेश भी किया है जो वाल्मीकि की सीता की चरित्रगत विशेषताओं के विपरीत दिखलायी देती हैं। वाल्मीकि की सीता विनीत न होकर थोड़ी उग्र हैं।[3] वे राम तक के अपमानजनक शब्दों को सहन नहीं करतीं—तुरन्त अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देती हैं। वन गमन के अवसर पर राम द्वारा घर पर ही रहने का परामर्श दिया जाने पर वे उनसे यहाँ तक कह बैठती हैं कि 'मुझे पता नहीं कि तुम्हारे पुरुष-कलेवर में स्त्री का हृदय है।'[4] इसी प्रकार राम द्वारा अग्नि-परीक्षा का आदेश दिया जाने पर भी वे शांत नहीं रहतीं।[5]

इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास की सीता का चित्र वाल्मीकि की सीता से बहुत भिन्न है, यद्यपि दोनों की केन्द्रीय विशेषता एक ही है।

दशरथ

वाल्मीकि के दशरथ

वाल्मीकि रामायण में दशरथ का जो चरित्र प्रत्यक्षीकृत होता है, वह बहुत गौरवशाली नहीं है। विश्वामित्र द्वारा राम की माँग की जाने पर वात्सल्य की प्रबलता के कारण राम को उनके साथ न भेज कर स्वयं चलने की इच्छा व्यक्त करते

१—मानस, अयोध्याकाण्ड, ५७/२-३
२—कामसूत्र, पृ० ११० (अनु० कविराज विपिनचन्द्र बंधु)
३—रामकाव्य की भूमिका, सीता का चरित्र
४—वाल्मीकि रामायण, ३/३०/३
५—वही, युद्धकाण्ड, सर्ग ११६

हैं, किन्तु विश्वामित्र के मुख से यह सुनकर कि रावण प्रेरित मारीच और सुबाहु के विरुद्ध संघर्ष करना है, वे तुरन्त कह उठते हे—'मैं रावण के समक्ष युद्ध मे नही ठहर सकता। आप मुझ पर तथा मेरे पुत्रो पर कृपा कीजिये।'[1] यह चित्र दशरथ की तेजस्विता नही, उनकी भीरुता और दीनता का है।

वाल्मीकि ने दशरथ को जिस रूप मे प्रस्तुत किया है उसमे उनकी कान्ति निखरी हुई नही दिखलायी देती—उसमे उसका पौरुष और पराक्रम दृष्टिगोचर नही होता। दशरथ का जो चित्र वहाँ दिखलायी देता है वह एक ऐसे कूटनीतिपरायण व्यक्ति का चित्र है जो अपनी चतुराई का शिकार स्वय बन जाता है। दशरथ ने कैकेयी के पिता को वचन दिया था कि कैकेयी-सुत उनका उत्तराधिकारी होगा—

पुरा भ्रात: पिता न स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥[2]

किन्तु कालान्तर मे राम के प्रति प्रेमाधिक्य तथा ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार की परम्परा[3] के कारण वे राम को उस समय युवराज बनाना चाहते है जब भरत अपने ननिहाल गए हुए होते है। वे भरत के लौटने से पहले ही राम का अभिषेक कर देना चाहते हैं।[4] 'वे ऐसी उतावली और शंकित चित्त से इस अभिषेक के कार्य मे प्रवृत्त हुए कि मानो किसी अमगल की छाया उन पर पडी हो, भावी अनर्थ के पूर्वाभास ने मानो अलक्षित भाव से उनके मन पर अधिकार कर लिया हो और किसी अशुभ ग्रह के फल से मानो वे स्वय रामचन्द्र के अभिषेक के समय अचिन्तित-पूर्व विघ्नो को आशका द्वारा खीच लाए हो। भरत के आने और अपने सम्बन्धियो के बुलाने पर, इस कार्य मे प्रवृत्त होने से इस प्रकार के अनर्थ की संभावना नहीं थी, क्योंकि भरत के उपस्थित रहने पर कैकेयी का षड्यन्त्र व्यर्थ जाता।'[5] यहाँ भी दशरथ के हृदय की भीरुता—आत्म-विश्वास और आत्मबल की शून्यता के ही दर्शन होते हैं।

फिर भी उनके चरित्र का आकर्षण वात्सल्य की अतिशयता और लोक-मर्यादा की रक्षा के कारण अक्षुण्ण रह सका है। जब उक्त दोनो प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के विरोध मे उपस्थित हुई तो दशरथ ने अपने प्राण देकर दोनो की एक साथ रक्षा की रामायण मे दशरथ का आचरण यत्र तत्र आत्म सम्मानशून्य जान पड़ता है। रूठी कैकेयी को मनाने का प्रयत्न करते समय वे उसके पैरों पडने तक की बात कह जाते

१—वाल्मीकि रामायाण, १/२०/२०-२१
२—वही, पृ० २/१०७/३
३—द्रष्टव्य—डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास, रामायणकालीन समाज, पृ० १०३
४—वाल्मीकि रामायण, २/२४/२५
५—प्रो० दीनेशचन्द्र सेन, रामायणी कथा, पृ० ७

अञ्जलि कुर्मि कैकेयी पादौ चापि स्पृशामि ते ।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥[1]

किन्तु उनका कारण आत्मसम्मान की भावना का अभाव नहीं है—वात्सल्य की प्रबल प्रेरणा के साथ-साथ उनका स्त्रैण स्वभाव उन्हें उस सीमा तक खींच ले जाता है।

रामायण मे उनकी स्त्रैणता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। भरत ननिहाल से लौटने पर कहते हैं कि राजा कैकेयी के प्रासाद मे होंगे क्योंकि वे बहुधा वहीं रहते हैं। स्वयं वाल्मीकि ने लिखा है कि वृद्ध राजा तरुणी पत्नी को प्राणों से भी अधिक प्रेम करते थे।[3] कदाचित् स्त्रैणता के कारण ही उन्होंने कैकेयी के पिता को वचन दिया था कि वे कैकेयी के पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाएँगे, परन्तु उनकी स्त्रैणता उनके वात्सल्य की तुलना मे निर्बल सिद्ध होती है। राम के निर्वासन से पूर्व जो कैकेयी राजा को प्राणाधिक प्रिय थी वही उनके निर्वासन के उपरान्त त्याज्य हो जाती है।[4]

उनके व्यक्तित्व का यह रूप उनके चरित्र की सारी दुर्बलता को ढक लेता है और इसलिए उस ओर सामान्यतया पाठक का ध्यान नहीं जा पाता।

तुलसीदास के दशरथ

तुलसीदासजी ने दशरथ की अन्तर्वृत्तियों का संयोजन कुछ ऐसे ढंग से किया है कि उनका चरित्र वाल्मीकि रामायण के दशरथ की तुलना मे बहुत निखर उठा है। यद्यपि वाल्मीकि रामायण और मानस, दोनों में ही दशरथ के चरित्र की केन्द्रीय वृत्ति है उनका वात्सल्य, फिर भी इतर वृत्तियों और विशेषताओं मे हेर-फेर के साथ तुलसीदासजी ने मानस के दशरथ का वात्सल्य भी नूतन रूप मे चित्रित किया है।

वाल्मीकि के दशरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को इतना अधिक प्यार करते दिखलाई देते हैं कि उसके कारण उनका आचरण पक्षपात और कपट की सीमा तक पहुँच गया है। भरत के लौटने से पहले-पहले वे चुपके से राम को युवराज बना देना चाहते हैं। असंतुलित वात्सल्य से उद्भूत उनका कपटपूर्ण आचरण ही उनके संकट का कारण बन जाता है। कैकेयी के दुराग्रह को देखकर वे अपने वचन की रक्षा के लिए राम को निर्वासन का आदेश तो दे देते हैं, किन्तु इसके साथ ही वे अपनी

१—वाल्मीकि रामायण, २/१२/३६

२—राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने ॥ —वही, २।७२।१२

३—स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ —वही, २।१०।२३।

४—वाल्मीकि रामायण, २।४२।६-८।

वास्तविक इच्छा भी प्रकट कर देते हैं—'मुझे बलपूर्वक बन्दी बना कर राजा बन जाओ।'[1] दशरथ की इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि दशरथ का यह आदेश केवल कहने भर के लिए था, उनका अंतर्मन उस आदेश का साथ नहीं दे रहा था।

तुलसीदास ने राजा दशरथ के चरित्र को इस असंतुलन से बचाया है। इसके लिए उन्होंने राम को युवराज बनाने का निर्णय किसी दुरभिसंधि के रूप मे न कराकर सार्वजनिक रूप से करवाया है। वे सबकी सम्मति से ही इस संबंध मे निर्णय करते हैं—

जो पाँचहि मत लागहि नीका। करहु हरषि हिय रामहि टीका॥[2]

इसके साथ ही उन्होने राजा दशरथ और राम की गुप्त बातचीत आदि का कोई उल्लेख नही किया है। राम को युवराज बनाने के निर्णय की सूचना भी उन्होंने राजा दशरथ से न दिलवाकर वसिष्ठ मुनि से दिलवाई। कवि की इस सावधानी के कारण 'मानस' के दशरथ पक्षपात और कपट-व्यवहार के लाछन से बच गए हैं।

यह सब होते हुए भी कवि ने दशरथ के वात्सल्य मे किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी है। विश्वामित्र द्वारा राम की याचना की जाने पर उन्हे देने मे दशरथ की हिचकिचाहट दिखाकर[3] तो कवि ने उनके वात्सल्य की अभिव्यक्ति की ही है, किन्तु उससे भी अधिक सूक्ष्म रूप मे उनके वात्सल्य की व्यजना उस अवसर पर दिखलाई देती है जब राजा जनक के दूत उनके पास धनुर्भंग की सूचना लेकर आते हैं। उस समय राजा दशरथ उनके साथ जो व्यवहार करते हैं उससे उनका वात्सल्य प्रकट होता है—

तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे।
भैया कहहु कुसल दोउ बारे। तुम्ह नीकें निज नयन निहारे॥
स्यामल गौर धरे धनु भाथा। बय किसोर कौसिक मुनि साथा॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेम बिबस पुनि पुनि कहि राऊ॥
जा दिन ते मुनि गए लवाई। तब तें आजु साँचि सुधि पाई॥
कहहु बिदेह कवन बिधि जाने। सुनि प्रिय बचन दूत मुसकाने॥[4]

दूतो को 'भैया' कर सम्बोधन करना और निकट बिठाना वात्सल्य का ही परिणाम है। मनोविज्ञान के अनुसार संतान या बालक से संबन्धित व्यक्तियो और वस्तुओ तक वात्सल्य का विस्तार होता है।

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, २।३४।२६

[2] —मानस, अयोध्याकांड, ४।२

[3] —मानस, बालकांड, २०७।१-३

[4] —मानस, बालकांड, २९०।२-४

इसके उपरांत उनका वात्सल्य तभी प्रकट होता है जब कैकेयी द्वारा आघात पहुँचाया जाता है। यहाँ उनकी सिद्धांतवादिता उनके वात्सल्य की प्रतिरोधक बनकर आई है। सिद्धांतवादिता के कारण उन्हें वचन के समक्ष झुकना पड़ता है और वे राम के निर्वासन के लिए बाध्य हो जाते हैं, किन्तु अपनी इस विवशता के कारण उन्हें जो प्राणांतक व्यथा होती है। वह उनके वात्सल्य को सर्वोपरि सिद्ध करती है। राम के वन मे चले जाने पर वे उनके वियोग की पीड़ा से तड़प-तड़प कर प्राण दे देते हैं—

धरि धीरज उठि बैठि भुआलू। कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू॥
कहाँ लखन कहँ राम सनेही। कहँ प्रिय पुत्र बधू बैदेही॥
बिलपति राउ बिकल बहुभाँती। भई जुग सरिस सिरात न राती॥
तापस अंध साप सुधि आई। कौसिल्यहि सब कथा सुनाई॥
भयउ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा॥
सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा॥
हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिन जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर।

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम॥[1]

उनके चरित्र मे वात्सल्य से दूसरा स्थान काम-प्रवृत्ति का दिखलाई देता है। यों कहने को तो दशरथ एकाध स्थान पर अपने प्रेम (काम) को वात्सल्य से भी अधिक महत्त्व दे गए हैं—

प्रिया प्रान सुत सरबस मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥[2]

लेकिन जैसे ही कैकेयी उनसे यह वरदान माँगती है कि राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास दिया जाए वैसे ही उनका मुख विवर्ण हो जाता है और वे उसे थोड़ी देर समझाने के बाद फटकारने लग जाते हैं। इससे पता चलता है कि राजा दशरथ के चरित्र मे काम का स्थान वात्सल्य के बाद है।

काम का स्थान दूसरा होने पर भी उनके चरित्र मे उसका रूप बड़ा उग्र है। अत्यंत प्रतापी महाराज दशरथ कैकेयी के कोप भवन मे जाते समय काँप जाते हैं। उनकी इस दुर्बलता को लक्ष्य कर तुलसीदास ने लिखा है—

---

[1]—मानस, अयोध्याकांड, १५४।१ १५५
[2]—वही, २।२५।२।

कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड परइ न पाऊ ।।
सुरपति बसइ बाहू बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें ।।
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बढाई ।।[1]

काम की प्रबलता के कारण ही वे दंभियों के समान बढ बढ कर बातें करने लगते हैं—

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। कहि दुइ सिर केहि जम चहि लीन्हा।
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु कहि नृपहि निकासौं देसू ।।
सकउँ तोरि अरि अमरउ मारी। काहू कीट बपुरे नर नारी ।।
जानसि मोर सुभाउ बरारू। मन तव आनन चन्द चकोरू ।।[2]

फिर भी मानस के दशरथ वाल्मीकि के दशरथ के समान कामी प्रतीत नही होते। काम की प्रधानता के कारण उन्होने कैकेयी को कोई ऐसा वचन दिया हो कि वे उसी के पुत्र को राजा बनाएँगे—ऐसा कोई उल्लेख मानस मे नही है जबकि वाल्मीकि मे यह बात स्पष्ट रूप से उल्लिखित है।

इसी प्रकार तुलसीदासजी ने राजा दशरथ की भीरुता को उनके चरित्र से निकाल दिया है। वाल्मीकि म दशरथ विश्वामित्र के मुख से राम की बात सुन कर उन्हे राम न देकर उनके स्थान पर स्वयं चलने की इच्छा प्रकट करते हैं किन्तु जैसे ही उन्हें यह पता चलता है कि रावण के भेजे राक्षसो का सामना करना है वे इस संबंध मे तुरत अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं।[3] राम के विवाहोपरात अयोध्या लौटते समय मार्ग म क्रुद्ध परशुराम को देखकर भी भय से व्याकुल हो जाते हैं।[4] तुलसीदासजी इन दोनो परिस्थितियो को टाल गए हैं। विश्वामित्र प्रसंग मे वसिष्ठ को बीच में लाकर उन्होने इस स्थिति को बचा लिया है और परशुराम को विवाह से पहले ही मिथिला मे बुलाकर राजा दशरथ की अनुपस्थिति दिखा दी है।

इसके विपरीत 'सुरपति बसइ बाँह बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें।।' लिखकर उनके पराक्रम की ओर संकेत कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने राजा दशरथ के चरित्र को उज्ज्वल बनाने का पूरा प्रयत्न किया है और उसमे वे पूरी सफल रहे हैं।

---

[1] —मानस, २/२४/२
[2] —वही, २/२५/१ २
[3] —वाल्मीकि रामायण, १/२१/२० २४
[4] —वही, २।७५।५ ९

कौसल्या

वाल्मीकि की कौसल्या

वाल्मीकि की कौसल्या का व्यक्तित्व वात्सल्य से आपूरित है। कौसल्या के जीवन का समस्त आनन्द अपने पुत्र पर अवलम्बित है। अपने परिवार मे तिरस्कृत रहने के कारण[1] उनके जीवन की उमंग राम के प्रति अनुराग मे केन्द्रित हो गई है।[2] इसलिए राम के निर्वासन का समाचार उनके लिए अत्यन्त भयकर सिद्ध होता है।

पारिवारिक अवमानना की प्रतिक्रिया और राम के प्रति अनुराग के परिणामस्वरूप कौसल्या राम को निर्वासन-आदेश के उल्लघन की प्रेरणा देती हैं।[3] उनके इस आचरण के आधार पर उनके व्यक्तित्व को अविनीत नही मान लेना चाहिए। वे लम्बे समय तक अपमान सहती रही थीं और राम का निर्वासन उनके तिरस्कार की चरम परिणति के रूप मे उपस्थित हुआ था। इसलिए यहाँ उनका कुंठित आत्मभाव विस्फोटक रूप मे व्यक्त होता है, किन्तु राम के आग्रह के समक्ष वे झुक जाती हैं। यह घटना उनके वात्सल्य की प्रधानता का एक और उदाहरण उपस्थित करती है।

आवेश में वे राजा दशरथ को भी खरी-खोटी सुना जाती हैं[4] और भरत पर व्यग्य करने में भी नहीं चूकती,[5] किन्तु उनके समग्र व्यक्तित्व को इस आधार पर नहीं परखा जा सकता। जैसे ही उन्हे राजा दशरथ की वेदना का पता चलता है, वे अपने वचन-प्रहार के प्रति लज्जित होती हैं[6] और भरत द्वारा शपथपूर्वक अपनी निर्दोषता का उल्लेख करने पर वे निश्छल भाव से उन्हें प्रेम करने लग जाती हैं।[7]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि की कौसल्या न तो दुर्विनीत हैं न क्रोधी। वे तो वात्सल्य की प्रतिमूर्ति हैं और उनका क्रोध वात्सल्य के बाधित होने तथा कुंठित आत्म-भाव के विस्फोट का परिणाम है।

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, २।२०।४१-४३

[2] २—वही, २।२०।४५

[3] ३—वही, २।२१।२५-२८

[4] ४—वही, २/६१।२२-२६

[5] ५—वही, २।७५।११

[6] ६—वही, २।६२।१२

[7] ७—वही, २।७५।६१-६२

मानस की कौसल्या

उदात्तीकरण की दृष्टि से मानस मे कौसल्या का चरित्र संभवतः सबसे अधिक उल्लेखनीय है। वाल्मीकि का कौसल्या का चरित्र वात्सल्य के आधिक्य से असंतुलित हो उठा है, साथ ही उनमें स्वविषयक चेतना की प्रबलता भी दृष्टिगोचर होती है। वात्सल्य के आवेग मे वे राम को पितु-आदेश के उल्लंघन की प्रेरणा देती हैं। इसके विकल्प मे वे स्वयं राम के साथ चलने की इच्छा व्यक्त करती हैं। राम के निर्वासन के प्रसंग को वे अपने दीर्घकालीन तिरस्कार के संदर्भ मे देखती है। जिससे उनकी स्वविषयक चेतना का संकेत मिलता है।

तुलसीदासजी ने बड़ी जागरूकता के साथ कौसल्या के चरित्र का नवसंयोजन प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम उन्होंने उनके चरित्र के असंतुलन को दूर करने के लिए प्रबल वात्सल्य के साथ सामाजिक मूल्यो के प्रति उनकी प्रबल जागरूकता उपस्थित की है। उनके चरित्र मे इन दो प्रबल विरोधी तत्त्वो के समावेश के द्वारा अन्तर्द्वन्द्व की असाधारण सृष्टि कर दी है। राम-वन गमन का समाचार सुनते ही मूर्च्छित हो जाने से उनके वात्सल्य की प्रबलता व्यंजित होती है तो दूसरी ओर वात्सल्य के ऊपर 'तिय-धरम' की प्रतिष्ठा से सामाजिक मूल्यो के प्रति उनकी निष्ठा प्रमाणित होती है। कवि ने उनके चरित्र की इन विरोधी शक्तियों का चित्रण बड़े ही सजीव रूप मे किया है—

> राखि न सकइ न कहि सक जाऊ। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥
> लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि गति बाम सदा सब काहू॥
> धरम सनेह उभय मति घेरी। भई गति साँप छुछुंदरि केरी॥
> राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरम जाइ अरु बंधु बिरोधू॥
> कहउँ जान बन तो बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भई रानी॥
> बहुरि समुझि तिय धरम सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी॥
> सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥
> तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥
> राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
> तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥
> जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
> जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥[1]

अंतिम पंक्ति वाल्मीकि की कौसल्या द्वारा दी गई आनन्द के अधिकार की

---

[1] —मानस, अयोध्याकांड, ५४।१ ५५।१

दुहाई[1] के उत्तर में लिखी गई प्रतीत होती है। मातृत्व के अधिकार को मानसकार ने स्वीकार किया है, किन्तु दूसरी ओर भी मातृत्व का बल दिखा कर कौसल्या को अपने ही तर्क के समक्ष स्वत झुका दिया है। वे मातृत्व के सम्बन्ध में अपने अधिकार की अपेक्षा कैकेयी के मातृत्वाधिकार को अहंत प्रदान करती हैं। इससे पता चलता है कि मानस की कौसल्या के चरित्र मे आत्म चेतना की अपेक्षा दूसरो की चिंता अधिक है। इसीलिए राम निर्वासन के प्रसंग मे उन्हें राम के कष्टो की उतनी चिन्ता नहीं है जितनी उनके वियोग के कारण भरत दशरथ और प्रजाजनो के कष्ट की।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदासजी ने किस कुशलता के साथ कौसल्या के चरित्र की स्वविषयक चेतना को दूसरो की ओर उन्मुख कर दिया है। मानस मे कौसल्या के चरित्र का यह विपर्यय और भी अनेक प्रकार से चित्रित किया गया है।

जहाँ वाल्मीकि की कौसल्या राम के साथ वन मे चलने का आग्रह करती है[2] वहाँ तुलसीदास की कौसल्या अपने आप ही इस प्रकार के विचार के अनौचित्य की ओर संकेत कर जाती हैं—

जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू॥[3]

इसी प्रकार जहाँ वाल्मीकि की कौसल्या भरत के प्रति संदेहशील है, वहीं तुलसीदास की कौसल्या भरत की भ्रातृ निष्ठा के प्रति सर्वश आश्वस्त और उनकी राम वियोग-जनित चिंता के प्रति जागरूक दिखलाई देती हैं। चित्रकूट मे भी वे बराबर इस चिंता से उद्विग्न दृष्टिगोचर होती हैं।[4]

उनकी पति निष्ठा को भी तुलसीदासजी ने निखार दिया है। वाल्मीकि की कौसल्या वात्सल्य बाधित होने के कारण क्षुब्ध होकर राजा दशरथ को धिक्कार उठती हैं,[5] किन्तु तुलसीदासजी की कौसल्या सर्वत्र अपने पति के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हैं और संकट के क्षणो मे उनको धीरज बँधाती हैं—

उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनहारी॥
नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाज॥

१—वाल्मीकि रामायण, २।२१।५२
२—वाल्मीकि रामायण, २।२४।९
३—मानस, अयोध्याकांड, ५५।३
४—मानस, २।२८३।२
५—वाल्मीकि रामायण, २।६१।३ २६

धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूडिअ सब परिवारू॥
जौं जिय धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥[1]

इस प्रकार तुलसीदासजी ने कौसल्या के चरित्र की समस्त संकीर्णता को धोकर उसे उदार एवं महान बना दिया है। उसमे से स्वार्थमूलक तत्त्वो को निकालकर उनके स्थान पर उदात्त सामाजिक मूल्यो की प्रतिष्ठा कर दी है।

कैकेयी

वाल्मीकि की कैकेयी

कैकेयी के आचरण मे भी वात्सल्य का प्रचुर अंश दिखलाई देता है। अपने पुत्र की हित-कामना उनके दुराग्रह की प्रेरणा थी, फिर भी यह कहना कठिन है कि उस अवसर पर कैकेयी का आचरण सर्वथा वात्सल्य-प्रेरित था। वात्सल्य ने कैकेयी को दुराग्रह के लिए प्रेरित अवश्य किया था, किन्तु वात्सल्य से भी कहीं अधिक बलवती प्रेरणा कैकेयी की अहं चेतना थी जो अपने तिरस्कार की आशंका के रूप मे कैकेयी को आत्म रक्षा के लिए प्रेरित कर रही थी।

मथरा की जो बात कैकेयी के हृदय मे घर कर गई वह यह थी कि राम के राजा होने से उस पर सकट आ जाएगा। अब तक उसने जिस प्रकार कौसल्या का तिरस्कार किया है, उसी प्रकार अब वह स्वय तिरस्कार की पात्र बन जाएगी।[2] यह आशका बहुत कुछ आत्मदोष जनित[3] है, किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि कैकेयी की अहं-चेतना क्षुब्ध होकर राम को निर्वासित कराने का निश्चय करती है। राजा से वर मांगते हुए कैकेयी यह बात और भी स्पष्ट कर देती है। राज माता बनकर लोगों से हाथ जुड़वाते हुए कौसल्या को देख पाना उसके लिए सह्य नहीं था।[4] अपने समक्ष किसी अन्य का महत्त्व न सह पाना अहं-चेतना का ही लक्षण है। प्रो० दीनेशचन्द्र सेन ने इसे आत्म सुख की प्रवृत्ति बतलाया है[5] जो अहं-चेतना के अन्तर्गत ही आ जाती है।

कैकेयी को अपने आग्रह से विचलित करने के लिए राजा गिड़गिड़ाते हैं[6]

१—मानस, २।१५३-२-४

२—वाल्मीकि रामायण, २/३५/३९।

३—दीनेशचन्द्र सेन, रामायणी कथा, पृ० १९१।

४—वाल्मीकि रामायण, २/१२/४८।

५—दीनेशचन्द्र सेन, रामायणी कथा, पृ० १९१।

६—वाल्मीकि रामायण २'१२/३४-३६।

उसे डाटते-फटकारते हैं[१] राम के साथ राजकोष को भी वन में भेजने की धमकी देते हैं,[२] किन्तु कैकेयी पर उस सबका कोई प्रभाव दिखलाई नही देता । वह अपनी बात पर बराबर डटी रहती है। गुरु[३] और मन्त्री[४] की बातो का भी उस पर कोई असर नहीं होता । प्रतिरोध की यह प्रबल क्षमता भी यह सिद्ध करती है कि कैकेयी अपने आगे किसी अन्य के विचारो को कोई महत्व नही देती । अन्य लोगों की तुलना मे केवल अपने विचार को महत्त्व देने से भी कैकेयी का स्वभाव अहकारी सिद्ध होता है।

वैधव्य का दुख भी उसकी अह चेतना मे कही खो गया जान पडता है। दशरथ की मृत्यु भी उसे अपने अपराध की गुरुता का ज्ञान नहीं करा पाती। भरत के अयोध्या पहुँचने पर वह दशरथ की मृत्यु का समाचार इस प्रकार देती है मानो किसी सामान्य बात की चर्चा कर रही हो--

या गति सर्वभूतानां तां गति ते पिता गत ।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूक सतां गति ॥[५]

अपने आग्रह की सफलता के समक्ष दशरथ की मृत्यु का प्रसग उसे नगण्य जान पडता है—

स प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद् घोरमप्रियम् ।
अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ।[६]

अपने आपको इतना महत्व देना प्रबल अह-चेतना का परिणाम है ।[७]

भरत द्वारा राज्य ठुकरा दिये जाने पर भरत के प्रति कैकेयी की ममता के दर्शन नही होते और न यही कही दिखलायी देता है कि उसे अपने किए पर कभी ग्लानि हुई हो । भरद्वाज मुनि के आश्रम पर कैकेयी दुखी अवश्य दिखलायी देती है, किन्तु उस दुख का कारण आत्मग्लानि नहीं है । वहां वह अपने प्रयत्न की विफलता और लोकनिन्दा से दुखी है ।[८] भरत द्वारा अपनी योजना विफल कर दिये जाने से कैकेयी के अह को ऐसा प्रबल आघात लगता है कि वह भरत से भी रुष्ट हो जाती है ।

१—वाल्मीकि रामायण २/१२/९२-१०२ ।
२—वही, २/६३/२ ९ ।
३—वही, २/३७/२२ ३६ ।
४—वही, २/३५/५ ३५ ।
५—वही, २/७२ १५
६—वही, २/७२/१४
७—W. McDougall, *Social Psychology*, *p.*
८—वाल्मीकि रामायण, २/९२/१६ १७

उसका वात्सल्य अहं-चेतना के समक्ष कुंठित होकर रह जाता है। भरद्वाज ऋषि को प्रणाम करने के उपरांत वे भरत दूर जाकर खड़ी हो जाती है।[1] कवि का यह संकेत कैकेयी की अहं चेतना को पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है।

यदि राम के निर्वासन को छोड़कर कैकेयी के व्यक्तित्व पर विचार किया जाए तो वहाँ उसका चरित्र दूसरे छोर पर दिखलायी देता है। देवासुर संग्राम में राजा दशरथ की रक्षा के प्रसंग में तथा भड़काने का प्रयत्न करती हुई मंथरा के समक्ष राम के प्रति वात्सल्य-प्रकाशन के संदर्भ में कैकेयी के चरित्र का दूसरा ही पक्ष उभरता जान पड़ता है। उस पक्ष में कहीं कालिमा का नाम नहीं है।

कैकेयी के चरित्र के इन दो छोरों के सम्बन्ध में प्रो० दीनेशचन्द्र सेन ने ठीक ही लिखा है—इस प्रकार के चरित्र वाला व्यक्ति सर्वथा बड़ी उत्तेजना से कार्य करता है, वह केन्द्र पर नहीं टिकता किन्तु परिधि के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बड़ी शीघ्रता से दौड़ लगाता है।[2]

दो विरोधी छोरों पर गतिशील कैकेयी के व्यक्तित्व का रहस्य अहं चेतना में निहित है। जिस किसी बात से कैकेयी को अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का अवसर मिलता है—कैकेयी का आचरण उस ओर होता है, किन्तु जहाँ कहीं उसकी श्रेष्ठता पर आँच आती हो कैकेयी अपने व्यक्तित्व की समग्र शक्ति से उसका प्रतिरोध करती है। देवासुर-संग्राम में राजा दशरथ की प्राण रक्षा से तथा राम के प्रति वात्सल्य-प्रकाशन से उसकी श्रेष्ठता व्यक्त होती है। राम ने कैकेयी की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया था—वे कौसल्या से भी अधिक उसकी सेवा करते थे।[3]——इसलिए कैकेयी को राम से कोई विरोध नहीं था, किन्तु मन्थरा के विचारानुसार उनके राजा हो जाने पर उनकी ओर से अवहेलना की आशंका उत्पन्न हो जाती है। जहाँ तक राम उसकी श्रेष्ठता और महत्ता स्वीकार करते हैं—राम उसे प्रिय हैं, किन्तु जहाँ उनकी ओर से अपनी श्रेष्ठता और महत्ता पर आँच आने की संभावना उत्पन्न होती है, वह उनके उन्मूलन पर उतारू हो जाती है। कौसल्या के प्रति उसके दुर्व्यवहार[4] का कारण भी यही है कि वह बड़ी रानी के रूप में उनके महत्त्व के समक्ष अपनी लघुता को सहन नहीं कर पाती।

१—'अदूरात् का अर्थ प्रो० दीनेशचन्द्र सेन के आधार पर किया गया है (द्रष्टव्य—रामायणी कथा, पृ० २०२)।

२—रामायणी कथा, पृ० १८६

३—वाल्मीकि रामायण, २/८/१८

४—वही, २/२०/४१ ४४

कैकेयी की इस प्रबल अहं चेतना का मूल दो तथ्यों में खोजा जा सकता है। एक ओर वह अहंकारिणी माँ की पुत्री थी,[1] दूसरी ओर असाधारण सौन्दर्य की स्वामिनी होने पर भी उसे परिवार मे कनिष्ठ स्थान प्राप्त था। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उसकी विजयैषणा ने पति को वश मे करके अपनी प्रतिद्वन्द्विनी रानियों—विशेषकर प्रधान महिषी कौसल्या को प्रताडित किया। राम का निर्वासन इस विजयैषणा की चरमसिद्धि के रूप मे व्यक्त हुआ है।

भरत ने भरद्वाज ऋषि को कैकेयी का जो परिचय दिया है उसमे उन्होंने अपनी माँ के अहं-चैतन्य तथा विजयैषणापूर्ण व्यक्तित्व बड़े थोड़े शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर दिया है—जो स्वभाव से ही क्रोध करने वाली, अशिक्षित बुद्धिवाली, गर्वीली अपने आपको सबसे अधिक सुन्दर समझने वाली तथा राज्य का लोभ रखने वाली है, जो शक्ल-सूरत से आर्या होने पर भी अनार्या है, इस कैकेयी को मेरी माता समझिये।[2] कैकेयी के व्यक्तित्व को समझने के लिए भरत के ये थोड़े-से शब्द पर्याप्त हैं।

मानस का कैकेयी

मानसकार का बल कैकेयी के अहंकार पर न रहकर उसके चरित्र की सरलता पर रहा है। मानस मे कैकेयी का चरित्र सरलता की प्रतिमूर्ति है उसका क्रूर व्यवहार भी उसकी कुटिलता का परिणाम न होकर उसके भोलेपन का ही प्रतिफलन है। मंथरा द्वारा भड़काये जाने पर उसका यह कथन कि—

> कहा कहाँ सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानहुँ काहू।[3]

उसके चरित्र की कुंजी है। वह इतनी भोली है कि मंथरा के प्रयोजन को नही समझ पाती। प्रारम्भ मे उसने मंथरा को उसकी विघटनात्मक बातों के लिए बहुत डाँटती है, किन्तु अपने भोलेपन के कारण वह धीरे-धीरे उसके जाल मे फँसती चली जाती है।

उसका यह सीधापन बहुत अंशों मे उसकी भावुकता से सम्बन्धित है। भावुक वह इतनी है कि एक ओर मंथरा से राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनते ही वह हर्ष-विभोर हो जाती है—

> सुदिन सुमंगल दायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई।
> जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई।।
> राम तिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली।।[4]

१—रामायणी कथा, २/३५/१७ २८

२—वाल्मीकि रामायण, २/९२/२६-२७

३—मानस, अयोध्याकाण्ड, १९/४

४—वही, १४।। ३

तो दूसरी ओर वह मथरा की बातों का विश्वास बड़ी सरलता से बिना किसी प्रकार की पूछताछ किए ही कर लेती है और आवेश मे आ जाती है—

कैकेयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी।।
तन पसेउ कदली जिमि कांपी। कुबरी दसन जीभ तब चांपी ।।¹

उसकी भावुकता का सम्बन्ध अधिकाशत उसके वात्सल्य और अह से दिखलायी देता है। उसका सपत्नी-भाव उसके अह का परिणाम है और उसी से प्रेरित होकर वह दशरथ से पूछती है—

आनेउ मोल बिसाइ कि मोही ?²

फिर भी उसके चरित्र मे अहकार की ऐसी प्रबलता दृष्टिगोचर नहीं होती जैसी वाल्मीकि की कैकेयी मे पाई जाती है। वाल्मीकि की कैकेयी का यह कथन कि 'राजमाता बनकर लोगो से हाथ जुड़वाते हुए कौसल्या को देख पाना मेरे लिए सह्य *नही है'³ उसके अहकार की उग्रता का सूचक है। वहाँ वह मन्त्री और गुरु के* सत्परामर्श की स्पष्ट अवहेलना करती है। भरत द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उसका अहकार उसका साथ नही छोडता। वह भरत से भी रुष्ट हो जाती है।

मानसकार ने उसके चरित्र मे अह का संस्पर्श दिखलाते हुए भी उसकी उग्रता को कम कर दिया है। मानस की कैकेयी कौसल्या के उत्कर्ष से उतनी अधिक व्यथित दिखलाई नही देती जितनी अपनी कल्पित अवमानना की आशका से। इसके साथ ही उन्होने कैकेयी को उतना कट्टर भी नहीं दिखलाया है जैसा कि वाल्मीकि ने। मानस की कैकेयी को जैसे ही भरत के मनोभावो का पता चैसे ही वह अपना दुराग्रह छोड देती है और *आत्मग्लानि से भर जाती है। जब वह भाइयों का सौहार्द देखती हैं* तब उसका हृदय ग्लानि से भर जाता है—

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।
अवनि जमहि जाचति कैकेयी। बिधि न मीचु महि बिचु न देई।।⁴

राम के अयोध्या लौटने पर वह ग्लानि के कारण अपने भवन मे जा छिपती है।

इस प्रकार तुलसीदास जी ने समय के साथ उसके चरित्र का विकास दिखलाते हुए उसके अह को निष्कासित कर उसके स्थान पर आत्मावमानना की प्रतिष्ठा

१—मानस, १९।१
२—वही, २९।१
३—वाल्मीकि रामायण, २।१२।४८
४—मानस, अयोध्याकाड, २५१।३

कर दी है और इसके लिए वे रघुवंश के आभारी हैं। रघुवंश में भी राम के अयोध्या लौटने पर कैकेयी की ग्लानि का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है।[1]

भरत के रुख को देखकर अपना रुख बदलने से कैकेयी के चरित्र में वात्सल्य की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। वैसे भी उनका अहंकार शायद ही कहीं वात्सल्य से असम्पृक्त रहा हो। जहाँ वे पूछती हैं—

आनेहु मोल बिसाई कि मोही ।।

वहीं उससे पहले वे यह पूछती हैं—

भरत कि राउर पूत न होई ।[2]

वात्सल्य और अहं की प्रधानता के कारण ही वह वर माँगते समय इतनी दृढ़ रहती है कि राजा दशरथ द्वारा यह चेतावनी दी जाने पर भी कि—

जीवन मोर राम बिनु नाहीं ।[3]

वह अपने दुराग्रह से विचलित नहीं होती। अन्त में होता भी वही है जो दशरथ ने कहा था, फिर भी कैकेयी के रुख में तब तक कोई परिवर्तन दिखलाई नहीं देता जब तक भरत उसके कुकृत्यों को धिक्कारते नहीं। भरत को दशरथ की मृत्यु का समाचार देते समय वह बहुत दुखी दिखलाई नहीं देती। वह इतना ही कहती है—

कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ।[4]

यहाँ 'कछुक काज' से यही ध्वनित होता है कि भरत के राजा होने की तुलना में उसे दशरथ की मृत्यु बहुत तुच्छ हानि जान पड़ी। इस दृष्टि से डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का यह विचार बहुत सही प्रतीत नहीं होता कि 'कैकेयी ने स्वप्न में भी अनुमान नहीं किया होगा कि राजा दशरथ सचमुच ही मर जाएँगे।[5] यदि उसने अनुमान किया भी होगा तो उसे यह क्षति पुत्र के राज्याभिषेक के समक्ष तुच्छ जान पड़ी होगी। यह सम्भावना 'कछुक काज' की ध्वनि से पुष्ट होती है।

फिर भी कवि ने कैकेयी की ग्लानि दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यह उसकी चिरस्थायी प्रकृति नहीं थी। उसने यह जो क्रूर कर्म किया वह केवल आवेशवश। इससे उसकी भावुकता ही प्रमाणित होती है-क्रूरता और कुटिलता नहीं।

१—द्रष्टव्य डा० जगदीश प्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका पृ० ९२

२—मानस, अयोध्याकांड, २९।१

३—मानस, २।३२।१

४—वही, २।१५३।१

५—मानस माधुरी, पृ० १२७

मंथरा

वाल्मीकि की मंथरा

मंथरा के रूप में वाल्मीकि ने दास-वर्ग की मनोरचना को बड़े सूक्ष्म रूप में अंकित किया है। बड़े आदमियों के सेवक भी उनके साथ तादात्म्य की अनुभूति द्वारा अपने आप में महत्ता का आरोपकर अपने अहं को संतुष्ट करते हैं।[1] मन्थरा ने अपने आपको कैकेयी के साथ इसी प्रकार सम्बन्धित कर लिया था। राम के यौवराज्य में उसे जो आसन्न संकट दिखलायी दिया उसका कारण बहुत कुछ अपनी प्रभाव हानि की आशंका थी। इसलिए मन्थरा कैकेयी के समक्ष राम के शासन में संभावित *उत्पीड़न का जो भयावह चित्र उपस्थित करती है उसमें तटस्थ व्यक्ति की सी* निर्लिप्तता न होकर संकटापन्न व्यक्ति की सी कातरता है।[2]

मन्थरा सपत्नी-पुत्र के व्यवहार का जो आकलन करती है[3] उसमें सत्य का प्रचुरांश है और वस्तुगत रूप में उसकी समस्त आशंकाएँ निर्मूल नहीं कही जा सकतीं—विशेषकर दशरथ के कलहपूर्ण परिवार में उसकी वे आशंकाएं और भी अधिक स्वाभाविक जान पड़ती हैं। इसीलिए वाल्मीकि ने उसे कैकेयी की हितैषिणी कहा है। उसकी हितैषिता का एक कारण यह भी था कि वह कैकेयी के मायके से आई थी[4] और इसलिए संभवतः कैकेयी के प्रति उसके मन में परोक्षतः वात्सल्य की प्रेरणा रही होगी।

परोक्षतः वात्सल्य की प्रेरणा ने मन्थरा के मन में कैकेयी के प्रति जो लगाव उत्पन्न कर दिया था उसके परिणामस्वरूप वह कैकेयी के साथ तादात्म्य स्थापित कर *और अन्ततः वह तादात्म्य ही उसे अपने भविष्य के सम्बन्ध में आशंकित कर गया।* कैकेयी को उत्तेजित करने की चेष्टा में भविष्य की यह आशंका ही सर्वत्र अभिव्यक्त हुई है।

तुलसीदासजी की मन्थरा

मानस की मंथरा कुटिलता की प्रतिमूर्ति है। ध्वंसात्मक प्रवृत्ति से प्रेरित उसका आचरण अनिष्ट की दिशा में ही सक्रिय दिखलायी देता है। आपाततः उसकी प्रकृति “अकारण दुष्टता’ की कोटि में आती है, किन्तु मानसकार ने उसके मूल में निहित कारण की ओर बड़ा ही सूक्ष्म संकेत किया है—

---

[1] १—G. Murphy—*An Introduction to Psychology, p 412.*

[2] २—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ७-८

[3] ३—वाल्मीकि रामायण, २/७ ८

[4] ४—वही, २/७/१

काने खोरे कुबरे कुटिल कुचाली जानि ।
तिय विसेषि पुनि चेरि कहि, भरत मातु मुसुकानि ॥[1]

मन्थरा की दुष्टता का यह कारण मनोविज्ञान सम्मत है। उसके चरित्र मे एडलर का यह सिद्धान्त चरितार्थ होता दिखलायी देता है कि हीनता की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप व्यक्ति अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करना चाहता है।[2] इसके लिये कुछ लोग स्वय ऊँचे उठने का प्रयत्न करते हैं कुछ दूसरो का अहित कर सकने मे अपने सामर्थ्य की अनुभूति से तोष प्राप्त करते हैं और कुछ एक पक्ष का कार्य बिगाड़कर अपर पक्ष के हितैषी बन कर आत्मतुष्टि करते हैं। मन्थरा की दुष्टता अन्तिम दोनो प्रेरणाओ से सचालित प्रतीत होती है।

दास दासियो में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है कि वे अपने स्वामी के सामने दूसरे पक्ष की निन्दा करके तथा अपने प्रस्ताव और सुझाव प्रस्तुत करके अपने आपको उनका हितैषी सिद्ध करते हुए महत्त्वानुभूति का तोष - लाभ करते हैं। यह दास मनोवृत्ति वाल्मीकि रामायण की मन्थरा में उस रूप मे दिखलायी नहीं देती जिस रूप में मानस की मन्थरा मे परिलक्षित होती है।

वाल्मीकि की मन्थरा उतनी दुष्ट नही है जितनी स्वामिभक्त है। तुलसी की मन्थरा उतनी स्वामिभक्त नहीं है जितनी दुष्ट है। वाल्मीकि की मन्थरा को राम के राज्याभिषेक में सचमुच कैकेयी का अहित जान पडता है और इसके लिए वह उसे चेतावनी देती है—अनर्गल और असत्य बातें नही बनाती अपनी हीनता की दुहाई देकर कैकेई की सहानुभूति का दुरुपयोग नही करती, ज्योतिषियो की भविष्य वाणी की कल्पना द्वारा कैकेयी के मन मे अवाछनीय कृत्य के लिए दृढता पैदा नही करती।

फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह मूर्ख नारियो का प्रतिनिधित्व करती है। स्वय तुलसीदासजी ने उसे 'कुटिल' कहा है और कुटिल पात्र स्वभावत चालाक होते हैं, मूर्ख नही। रामचन्द्र शुक्ल ने उसके चरित्र का जो विवेचन किया है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वह बड़ी समझ बूझ वाली नारी थी।

---

[1] —मानस, अयोध्याकाण्ड, १४

[2] —*Everyone, Adler said, has a fundamental will for power, an urge toward dominance and superiority If an individual feels himself inferior in some respect, he is driven by this feeling of inferiority toward a goal of superiority He strives to make himself superior or at least to putup a pretence of superiority. He is driven toward compensation of one kind or another.*

—R.S Woodworth, *Contemporary Schools of Psychology*, p 193-194

उसके मस्तिष्क की सूझ-बूझ एकाएक शेक्सपीयर के खल-नायकों का स्मरण दिला देती है। उन्ही के समान मन्थरा भी मिथ्यावादिनी, मायावी और कुचक्री है। वह अपनी कुटिलता के साधन के लिए अपनी निष्पक्षता, निरीहता और हितवादिता के बखान द्वारा कैकेयी की संभावित दुर्दशा के काल्पनिक चित्र तथा ज्योतिषियो के द्वारा भरत के राज्याभिषेक की कल्पित घोषणा द्वारा वह कैकेयी के मन मे दुष्कर्म के लिए दृढ़ता उत्पन्न कर देती है। इससे उसकी सूझ बूझ और चालाकी का पता चलता है।[1]

वह चतुर चालक है, सूझ-बूझ वाली है, किन्तु अपने इन गुणो का दुरुपयोग करती है क्योंकि एक तो वह सहानुभूति से छूछी है—यदि कैकेयी के प्रति भी उसकी सहानुभूति होती तो उसे अनर्गल और मिथ्या बातें बनाने की आवश्यकता नही थी। वह वाल्मीकि की मन्थरा के समान दो टूक बात कहती, दूसरे, उसकी रुचि भ्रष्ट है। वह उन लोगों मे से है जो किसी का उत्थान देख नही सकते और दूसरो का अनिष्ट जिन्हे सुखद लगता है। इसलिए कैकेयी ने आरम्भ मे उसके लिए बड़े अच्छे शब्द—'घरफोरी'—का प्रयोग किया है।

उसके चरित्र मे सुरुचि का एकात अभाव है जिसके परिणामस्वरूप वह पाठको की सहानुभूति से सर्वथा वचित रहती हुई उनकी घृणा का आलम्बन बनती है। वाल्मीकि की मन्थरा के समान ही अनर्थकारी कार्य करते हुए भी वह उससे इस अर्थ मे बहुत भिन्न है कि वाल्मीकि की मन्थरा के प्रति पाठक की वैसी गर्हणापूर्ण प्रतिक्रिया नही होती जैसी मानस की मन्थरा के प्रति होती है।

सुग्रीव

रामायण का सुग्रीव

रामायण मे सुग्रीव का चरित्र भय की प्रवृत्ति से परिपूर्ण दिखलायी देता है। बाली के साथ मायावी से लड़ने वह जाता है, किन्तु बालिवध की आशंका का उदय होते ही वह भाग जाता है। राम से मित्रता स्थापित होने पर वह भली भाँति उनकी शक्ति परीक्षा लेकर उन्हें बालि-वध मे प्रवृत्त होने देता है।[2] इससे भी उसकी भीरुता ही प्रकट होती है।

राम द्वारा बाली को मार दिये जाने पर वह अपना काम बनाकर निश्चित हो जाता है उसे राम का भी कोई कार्य करना है—इसकी चिन्ता नही रहती, किन्तु

१—पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥ —मानस, २/२०/४

२—वाल्मीकि रामायण, ४/११/९१

क्रुद्ध लक्ष्मण द्वारा किष्किंधा पहुँचकर यह कहने पर कि जिस मार्ग से बाली गया है, वह संकुचित नहीं है, वह अत्यन्त व्याकुल हो जाता है ।[1] क्रुद्ध लक्ष्मण के आगमन का समाचार जानते ही वह बुरी तरह आतंकित हो जाता है और अपनी पत्नी तारा को उन्हें शान्त करने के लिए भेजता है ।[2]

विभीषण द्वारा शरण माँगे जाने के अवसर पर भी सुग्रीव की भीरुता प्रकट होती है। हनुमान द्वारा विभीषण को शरण देने का समर्थन किए जाने पर तथा राम द्वारा उसे शरण मे लेने का निश्चय किए जाने पर भी सुग्रीव विभीषण को शरण देने का विरोध करता है ।[3]

फिर भी राम-रावण युद्ध मे सुग्रीव का जो पराक्रम दिखायी देता है उसके संदर्भ मे उसे भीरु कहना समीचीन नहीं जान पडता। वस्तुतः सुग्रीव मे आत्मस्थापन-प्रवृत्ति की दुर्बलता के परिणामस्वरूप आत्म विश्वास का अभाव था इसलिए उनमे नेतृत्व की क्षमता नही थी। दूसरे व्यक्ति के नेतृत्व मे वह अपना पराक्रम व्यक्त कर सकता था।

प्रकृत्या वह इन्द्रिय परायण तथा विलासी व्यक्ति था। लक्ष्मण के किष्किंधा-गमन प्रसंग मे उसकी विलासिता का विशद चित्रण देखने को मिलता है ।[4]

भाई के प्रति भी सुग्रीव का हृदय स्नेहपूर्ण था। परिस्थितियो ने दोनों भाइयो को एक दूसरे का विरोधी बना दिया, किन्तु बाली की मृत्यु के उपरांत सुग्रीव के विलाप से उसके सहज भ्रातृत्व का अनुमान लगाया जा सकता है ।[5] यों तो रावण की मृत्यु के उपरांत विभीषण भी विलाप करता हुआ दिखलायी देता है,[6] किन्तु दोनो की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सुग्रीव का विलाप भ्रातृ-घात की वेदना से परिपूर्ण था जबकि विभीषण का हृदय भाई की आत्मघातक दुर्बुद्धि के उद्घोष से परिपूर्ण था।

मानस का सुग्रीव

मानस मे सुग्रीव वैसा भीरु नहीं रहा है जैसा वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देता है। मायावी-प्रसंग मे कवि ने अवधि की कल्पना से उसके भय को

१—वाल्मीकि रामायण, ४/३३/२८-३१

२—वही, ४/३३ ३५

३—वही, ६/१८/५ ६

४—वही, ४/३३/२०-२६

५—वही, ४/२४/४-२३

६—वही, ६/१०९/२-१२

बहुत कुछ अपरिहार्य एवं औचित्यपूर्ण बना दिया है। विभीषण को शरण न देने के परामर्श मे भी वह उतना अधिक आशंकित नहीं दिखलाया गया है जितना वाल्मीकि रामायण मे।

इसी प्रकार मानसकार ने उसकी स्वार्थी प्रकृति की ओर संकेत करते हुए भी उसके कामुक और विलासी स्वभाव की बात छोड़ दी है। मानसकार ने राम के मुख से यह तो कहलवाया है—

सुग्रीवहु सुधि मोर बिसारी। पावा राज कोष पुर नारी॥[1]

किन्तु उसके कारणरूप उसकी विलासी प्रकृति का विस्तृत उल्लेख न कर उन्होंने उसके चरित्र के एक अनुज्ज्वल पक्ष को छोड़ दिया है।

अपनी भीरुता के बावजूद राम-रावण युद्ध के अवसर पर सुग्रीव जो शौर्य प्रदर्शित करता है वह उसके चरित्र की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। राम के नेतृत्व मे उसके शौर्य-प्रदर्शन और स्वतन्त्र रूप मे उसकी भीरुता को देखकर यही कहा जा सकता है कि वह एक परावलम्बी व्यक्ति था जो दूसरे के नेतृत्व मे अपना शौर्य प्रदर्शित कर सकता था, स्वतन्त्र रूप मे उसमे आत्मविश्वास की कमी दिखलायी देती है। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि राम का बल पाकर वह बड़े उत्साह के साथ उसी वाली को ललकारता है जिसके भय से वह ऋष्यमूक पर्वत पर छिपा हुआ था। इस दृष्टि से वाल्मीकि और मानस के सुग्रीव मे बहुत समानता है।

उसकी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद राम के सान्निध्य से उसका चरित्र निखर उठा है क्योंकि मानस के अन्त की ओर उसके चरित्र मे भी वैसी ही निष्ठा के दर्शन होने लगते हैं जो हनुमान जैसे पात्रों को महान् बनाती है।

वाली

रामायण का वाली

वाल्मीकि के वाली के चरित्र मे आत्मस्थापन की प्रवृत्ति सशक्त रूप मे सक्रिय दिखलायी देती है। बड़ा भाई होने के कारण वह उत्कट रूप मे अधिकार प्रिय **(Possessive)** एवं आत्म-सम्मान के प्रति अत्यन्त जागरूक है। अपनी शक्ति के प्रति वह किसी की चुनौती बिलकुल सहन नहीं कर सकता।

मायावी की चुनौती पाकर वह स्थिर न रह सका, सुग्रीव द्वारा राज्य स्वीकार कर लिए जाने की घटना को भी उसने अपने अधिकार के लिए चुनौती समझा और वह सुग्रीव के इस हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सका। उसने सुग्रीव को राज्य से

१—मानस किष्किंधाकांड, १७/२

बाहर खदेड़ कर ही दम लिया। राम की प्रेरणा से सुग्रीव द्वारा चुनौती दी जाने पर यह समझते हुए भी कि उस चुनौती के पीछे कोई रहस्य है,[1] वह युद्ध से विरत न रह सका।

बाली के चरित्र का यह दर्प उसके तेजस्वी व्यक्तित्व का एक पक्ष मात्र है, उसका दूसरा पक्ष अत्यन्त कोमल है। वह अत्यन्त स्नेहशील पिता है। मरते समय उसे अपने पराभव का कोई खेद नही होता, कपट पूर्ण व्यवहार के लिए वह राम को दुत्कारता है,[2] किन्तु अपने पुत्र की भावी दशा का विचार कर वह आत्म-समर्पण कर देता है।[3] अहङ्कार की उत्तेजना मे वह राम के प्रति कटु शब्दो का प्रयोग कर जाता है, किन्तु अपने असहाय पुत्र का विचार कर वह राम से अत्यन्त विनम्र व्यवहार करने लगता है और अपने पुत्र को वह अवसरोचित परामर्श दे जाता है[4] जिससे उसे सुग्रीव के हाथो यातना न सहनी पड़े। मरते समय वह सुग्रीव के प्रति जो प्रेम प्रदर्शित करता है उसके मूल मे भी अंगद की हित चिन्ता निहित है। सुग्रीव के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए वह उससे अंगद के संरक्षण की याचना करता है[5]। इससे उसकी दूरदर्शिता भी प्रकट होती है जो उसकी वत्सलता की ही परिणति है।

कुल मिल कर यह कहा जा सकता है कि रामायण मे बाली के व्यक्तित्व मे आत्मस्थापन और वात्सल्य का अपूर्व सामंजस्य है।

मानस का बाली

रामायण के समान मानस मे भी बाली के चरित्र की धुरी है दर्प, जो अहङ्कार का ही एक रूप है। दर्प के कारण ही वह अपने पौरुष के समक्ष किसी की चुनौती अथवा अपने अधिकार मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता। मायावी की ललकार को वह दर्प के कारण ही सहन नही कर सका और सुग्रीव के राजा बन जाने की बात से भी दर्प के कारण ही अप्रसन्न हो गया, अन्यथा सुग्रीव के साथ उसका सबंध बहुत स्नेहपूर्ण था—इस बात को स्वय सुग्रीव स्वीकार करता है—

> नाथ बालि और मैं द्वौ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई।[6]

इसी दर्प के कारण वह राम प्रेरित सुग्रीव की चुनौती नहीं सह पाता। मरते

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, ४।१५।१३-३०।

[2] २—वही, ४।१७।१६ ५३।

[3] ३—वही, ४।१८।४५-५८।

[4] ४—वही, ४।२२।२० २३।

[5] ५—वही, ४।२२।७ १३।

[6] ६—मानस, किष्किन्धाकाण्ड, ५।१।

समय भी वह अपने पूरे दर्प के साथ राम के द्वारा अपने वध के औचित्य से सबन्ध मे प्रश्न करता है–

धर्म हेतु अवतरेउ गोसाई । मारेहु मोहि व्याध की नाई ।
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥[1]

तुलसीदास ने भक्ति के आवेश मे उसके मुख से राम के लिए 'नाथ' गुसाई'' आदि शब्दो का प्रयोग करवाकर उसके दर्प का रग कुछ हल्का कर दिया है। वाल्मीकि ने इस अवसर पर वालि द्वारा कठोर शब्दो का प्रयोग करवाकर उसके चरित्र की इस विशेषता का निर्वाह किया है। वाली के आत्मसमर्पण के साथ उसके दर्प को भी उन्होने बडा मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। वालि अपने पुत्र अगद की रक्षा के प्रति चिंतित होकर वात्सल्य की प्रेरणा से दर्प का त्याग करता है, किन्तु मानस मे राम के ईश्वरत्व के परिज्ञान को उसके दर्प-त्याग का कारण बतलाया गया है।

इस प्रकार तुलसीदास ने वालि के चरित्र को प्रकृत मनोविज्ञान से अध्यात्म की ओर मोड दिया है।

वाल्मीकि का अंगद

रामायण का अगद प्रतापी पिता का योग्य एव पितृ भक्त पुत्र है। अगद वाली के आदेशानुसार सुग्रीव के साथ सहयोग करता है और शक्तिमर राम की सेवा भी, किन्तु वह कभी अपने पितृव्य की ओर से निश्चिन्त नही हो पाता। उसके अतर मे यह सदेह बराबर बना रहता है कि सुग्रीव अवसर पाकर उसे मार डालेगा।[1] इसलिए आपाततः सुग्रीव के साथ सहयोग करते हुए भी वह सुग्रीव से पृथक् होने का अवसर खोजता है।[2]

अगद सुग्रीव का साथ देते हुए भी पितृ-घातक होने के कारण उसे घृणास्पद समझता है। उसकी यह घृणा उसके उन अपशब्दो से व्यक्त होती है जिनका प्रयोग वह सीता की खोज मे निकलने पर अवधि बीत जाने पर सुग्रीव द्वारा दण्डित किए जाने की आशका की प्रतिक्रिया के रूप मे करता है। वहा वह सुग्रीव को पापी, कृतघ्न, चचलचित्त, शठ, क्रूर और नृशस तक कह डालता है।[3]

मायावी के वध के लिए गए हुए वाली को सुग्रीव द्वारा बिल मे बद कर

१—मानस, ३।८।३
२—वाल्मीकि रामायण, ४।५३।१८-१९
३—वही, ४।५५।८
४—वही, ४।५५।७,१०

दिए जाने, उसके द्वारा राम के कार्य की उपेक्षा किए जाने तथा मातृतुल्या अग्रज-पत्नी के परिणय का उल्लेख करते हुए वह सुग्रीव की निंदा करता है।[1]

इस अवसर पर अंगद का विद्रोही व्यक्तित्व भली भांति उभर आया है। वह हनुमान के अतिरिक्त अन्य वानरों को अपने पक्ष में कर लेने मे भी सफल हो जाता है। उसके इस विद्रोह के मूल में उसका पितृभक्त, स्वाभिमानी, तेजस्वी एव बुद्धिमत्तापूर्ण व्यक्तित्व उद्भासित हो रहा है।

वाल्मीकि के अंगद के विद्रोही स्वभाव को देखकर शेक्सपियर के हैमलेट का स्मरण हो आता है। वह भी पितृ-घाती पितृव्य से असन्तुष्ट है और उसके विद्रोह का एक कारण यह है कि उसके पितृव्य ने उसकी मा से विवाह कर लिया है। यहा तक दोनो के चरित्र मे साम्य दिखलाई देता है, किन्तु अंगद का व्यक्तित्व हैमलेट के समान ओडिपस ग्रंथि से ग्रस्त नही जान पड़ता। पितृव्य के साथ माता के परिणय के कारण वह मा की भर्त्सना नहीं करता - केवल पितृव्य की निंदा के प्रसंग मे इस परिणय के प्रति असंतोष व्यक्त करता है। हैमलेट कुण्ठा ग्रस्त होने के कारण अस्थिरचित्त एव अकर्मण्य सा हो जाता है, इसके विपरीत अंगद कुशाग्रबुद्धि और स्फूर्तिमय व्यक्ति के रूप मे हमे प्रभावित करता है।

मानस का अंगद

मानस का अंगद प्रधानत. राम भक्त है। राम के शत्रु वाली का पुत्र होने पर भी उसे अपने पिता की ओर से विरासत में राम की शत्रुता के स्थान पर राम की भक्ति मिली थी। वाली अपने अंतिम समय में राम का भक्त बन गया था। अंगद उस भक्ति का पूर्ण निर्वाह करता है। उसकी भक्ति – भावना में बौद्धिक चातुर्य और प्रबल पराक्रम ने योग दिया है।

उसके इन दोनो गुणों का चरम निदर्शन रावण की राज्य-सभा मे हुआ है जहां वह राम के सैनिकों के पराक्रम-वर्णन द्वारा रावण की हीनता के प्रसंगों का बार-बार उल्लेख करके, अपनी शक्ति के गर्व की पुष्टि में रावण द्वारा दिए गए विभिन्न तर्कों का खंडन करके तथा अन्त मे पदारोहण की घटना द्वारा रावण तथा उसके सभासदो को हतोत्साह कर देता है। उसकी बुद्धि की व्यावहारिकता का पता इस तथ्य से भी चलता है कि जब सुग्रीव के आदेश पर वह वानर दल लेकर सीता की खोज में निकलता है और समुद्र के किनारे पर आने तक उसमे सफल नहीं होता तो वह यह विचार भी कर लेता है कि सुग्रीव मुझे भी उसी प्रकार मार डालेगा जैसे उसने मेरे पिता को मरवाया था—

---

[1] १—वही, ४ ५५।३-६

इहां न सुधि सीता कै पाई। उहां गए मारिहि कपि राई॥
पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥
पुनि-पुनि अंगद कहि सब पाहीं। मरन भयउ कछु संसय नाहीं॥[1]

अंगद की यह दूरदर्शिता स्वविषयक चेतना का परिणाम है। उसकी यही चेतना रावण की सभा मे अहंकार के रूप मे भी व्यक्त हुई है। इस अहंचेतना के कारण ही वह रावण की सभा मे उसे ललकारता है और उसका अपमान भी यह कहकर करता है—

मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक॥[2]

इसी चौपाई से अंगद के चरित्र के संबंध मे एक और तथ्य की व्यंजना भी हो रही है। अंगद के स्वभाव मे यत्र-तत्र अहंकार की गंध तो अवश्य मिलती है—अहंकार उसके रक्त मे है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सर्वत्र राम भक्ति-स्वामिनिष्ठा-के परिपार्श्व मे हुई है। उसके अहंकार के साथ स्वामिनिष्ठा के रूप मे आत्मावमानना की प्रवृत्ति का सम्मिश्रण होने के कारण उसका अहंकार गौण पड जाता है और इसीलिए वह मानस के पाठक को खटकता नही है।

उसके चरित्र में स्वामिनिष्ठा ऐसी प्रबल है कि वह रावण को भयभीत करने के लिए राम के हाथों वाली के पराभव की कथा दुहराता है। यहाँ अंगद की स्वामी-निष्ठा उसकी पितृ-निष्ठा से अधिक सशक्त जान पड़ती है। इस संबंध में मानसकार ने हनुमान्नाटक का अनुसरण किया है। हनुमन्नाटक के समान अंगद के मुख से बाली-वध का उल्लेख तो उन्होने अनेक बार करवाया है, किन्तु उसे हनुमन्नाटक के समान पितृ-निंदा तक नहीं जाने दिया है।[3]

इसी प्रकार सुग्रीव के प्रति अनास्था व्यक्त करते समय तुलसीदास जी ने उसके मुख से अपनी मा के साथ उसके परिणय की बात नहीं कहलवाई है जबकि वाल्मीकि ने इस तथ्य का उल्लेख स्पष्ट शब्दों मे किया है।[4]

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तुलसीदास ने अंगद के चरित्र में थोडी हेर-फेर करके उसके गौरव की रक्षा का प्रयास किया है।

---

[1] १—वही, २५।२।
[2] २—वही लंकाकांड २३।१
[3] ३—द्रष्टव्य-डॉ० जगदीश प्रसाद शर्मा, राम काव्य की भूमिका, पृ० १११।
[4] ४—वही, पृ० ८०।

हनुमान

वाल्मीकि रामायण के हनुमान

रामायण के हनुमान का चरित्र निष्ठा एवं बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण है। अपने स्वामी सुग्रीव के प्रति निष्ठावान होने के कारण वे आपत्तिकाल में उसका साथ देते हैं और जब वह विलास में पड़कर राम को दिए गए वचन को भूल जाता है तो उसे सर्वप्रथम वे ही चेताते हैं।[1] इससे उनकी दूरदर्शिता का–जो बुद्धिमता का ही एक अंग है–पता चलता है।

सुग्रीव के राम-कार्य में संलग्न होने पर हनुमान अपनी समग्र निष्ठा के साथ राम की सेवा में तल्लीन दिखलाई देते हैं। कठिन से कठिन कार्य उन्हें सौंपा जाता है और उनसे जितनी अपेक्षा की जाती है वे उससे कहीं अधिक कर दिखाते हैं। सीता की खोज के निमित्त वे लंका जाते हैं, किन्तु सीता का पता लगा लेने के उपरान्त वे प्रमदा वन विध्वंस द्वारा रावण की शक्ति का अनुमान लगा लेने का प्रयत्न भी करते हैं।[2] युद्ध के प्रसंग में शत्रु-बल का ज्ञान बहुत ही आवश्यक है और हनुमान सीता की खोज के साथ-साथ यह कार्य भी कर डालते हैं। इससे उनकी साधारण बुद्धिमता की पुष्टि होती है। सुग्रीव उनकी योग्यता एवं सामर्थ्य के संबंध में पूरी तरह आश्वस्त हैं[3] और स्वयं राम हनुमान की निष्ठासमन्वित बुद्धिमत्ता का उल्लेख करते हैं।[4]

सुग्रीव के प्रति उनकी निष्ठा का एक और उदाहरण अंगद के विद्रोह के प्रसंग में देखने को मिलता है। अंगद सब वानरों को सुग्रीव के विरुद्ध अपने पक्ष में कर लेता है, किन्तु हनुमान सुग्रीव के प्रति निष्ठावान बने रहते हैं और अन्य वानरों को भी विद्रोह से विरत करने के लिए भेद-नीति का सहारा लेते हैं।[5]

उनके चरित्र में आत्मविश्वास का प्रचुरांश दिखलाई देता है। जाम्बवान द्वारा अपने पराक्रम का स्मरण कराए जाने तक उन्हें अपनी शक्ति का पता नहीं था, किन्तु उसके उपरान्त वे अपनी शक्ति को भली प्रकार समझ जाते हैं।[6] फिर भी उनके आचरण में उद्दण्डता दिखलाई नहीं देती, अपने पराक्रम के संबंध में

१—वाल्मीकि रामायण, ४।१९।१५ ।

२—वही, ४।४१।७

३—वही, ५।६४।३३-३४

४—वही, ६।१।१०

५—वही, ४।५४।८ २२

६—वही, ४।६७।१-२९

आश्वस्त अवश्य रहते हैं। उनका समस्त पराक्रम राम के कार्य की सिद्धि मे ही काम आता है। राम और सुग्रीव की सेवा से निरपेक्ष उनके पराक्रम के दर्शन नहीं होते।

पराक्रम के रूप मे अभिव्यक्त अपनी शक्ति का विश्वास तथा कुछ कर दिखाने की प्रेरणा के रूप मे चरितार्थ उनकी आत्मस्थापन की प्रवृत्ति के साथ सुग्रीव और राम की सेवा मे अभिव्यक्त आत्मावमानना की मूल प्रवृत्ति का सुयोग निष्ठा के रूप मे हुआ है। उनके व्यक्तित्व मे आत्मास्थापन तथा आत्मावमानना जैसी विरोधी प्रवृत्तियों के समन्वय के साथ बुद्धिमत्ता के संयोग द्वारा एक असाधारण गरिमा आ गई है।

मानस के हनुमान

मानस के हनुमान के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उनका सेवा भाव जो स्वामी के साथ उनके तादात्म्य और आत्मावमानना के संयोग का परिणाम है। तादात्म्य के परिणामस्वरूप ही वे भक्तों के (साथ ही स्वामिभक्तों) के आदर्श बन गए हैं। तादात्म्य के कारण वे निरंतर स्वामी हित चिंतन मे लीन रहते हैं। मानस मे भी वाल्मीकि के समान जब सुग्रीव राम को सुध भुला बैठता है तब वे ही उसे पहले पहल उसके दायित्व का स्मरण कराते हैं।

उनके चरित्र मे तादात्म्य की मात्रा इतनी अधिक है कि वे अपने स्वामी की कार्य सिद्धि के अतिरिक्त और किसी बात का विचार ही नहीं करते। लंका जाते समय मार्ग मे सुरसा द्वारा बाधा दी जाने पर वे यही कहते हैं—

राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥[1]

वे ऐसे सेवक हैं जिनका आपा मिट चुका है अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जिसका आपा स्वामी के आपे मे विलीन हो चुका है। इसीलिए मेघनाद द्वारा बांधकर रावण की सभा मे पहुंचाए जाने पर वे कहते हैं—

मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥[2]

इस तादात्म्य के परिणाम स्वरूप हनुमान के चरित्र में अहं के दर्शन प्रायः नहीं होते। इतने बड़े पराक्रमी हनुमान अपने पराक्रम से बेखबर हैं। आत्मावमानना की चरम-सीमा पर पहुंचा दिया है मानसकार ने उनके चरित्र को। वाल्मीकि के हनुमान के चरित्र मे भी आत्मावमानना का प्रचुर अंश है, किन्तु वहाँ

१—मानस सुंदरकांड, १।२-३

२—वही, २१।३

यदा-कदा उनके आत्मविश्वास के रूप में उनकी स्वपराक्रम चेतना की झलक मिल जाती है। मानस में केवल एक स्थान पर हनुमान के अहं की थोड़ी झलक दिखलाई देती है, किन्तु कवि ने तुरंत आत्मावमानना का आवरण उस पर डाल दिया है। लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर पर्वत लेकर आते हुए हनुमान को देखकर जब भरत बाण से आहत कर गिरा देते हैं और उनके रामभक्त होने का पता चलने पर वे उन्हें अपने बाण पर बिठाकर राम के पास भेजने का प्रयास करते हैं तब हनुमान को अपने भार का गर्व होता है–

सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरें भार चलहि किमि बाना॥[1]

किन्तु उनके मन में यह भाव टिक नहीं पाता। वे तत्काल राम के प्रभाव का विचार कर अपने मन से इस भाव को निकाल देते हैं।

ऐसे विनयशील हनुमान के चरित्र में विद्वानों को बुद्धिमत्ता के दर्शन भी हुए हैं। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने उनके बुद्धि वैभव के संबंध में लिखा है— 'वे ज्ञानमय भी थे अर्थात् बुद्धिबल और चरित्र बल भी उनमें असीम था।'[2] इसी सम्बन्ध में डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है — 'हनुमान केवल सेवा के क्षेत्र में ही अद्वितीय नहीं है, बल और बुद्धि में भी उनके समान और कोई नहीं है'[3] स्वरसा ने उनकी बुद्धि की परीक्षा लेकर स्पष्ट शब्दों में उनकी बुद्धिमत्ता की घोषणा भी की है–

मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरम तोर मैं पावा॥
राम काजु सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान॥[4]

फिर भी हनुमान की जिस बुद्धिमत्ता के दर्शन वाल्मीकि के हनुमान में होते हैं वह मानस के हनुमान में नहीं पाई जाती। वहाँ वे सीता का पता लगाने के साथ ही साथ अशोक वन विध्वंस द्वारा रावण की शक्ति का अनुमान लगा लेना चाहते हैं और लंका जलाकर शत्रु की शक्ति को क्षति पहुँचाना चाहते हैं। तुलसीदास ने इन दोनों घटनाओं को हनुमान की बुद्धिमत्ता से सम्बद्ध नहीं किया है। अशोक वाटिका विध्वंस के सम्बन्ध में हनुमान स्वयं कहते हैं —

खायेउ फल प्रभु लागेउ भूखा। कपि सुभाउ ते तोरेउ रूखा॥[5]

लंका दहन के प्रयोजन के सम्बन्ध में कवि मौन है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अशोक वन विध्वंस के समान ही उनका यह कार्य भी

३—मानस, लंकाकांड, ५९।४
२—मानस माधुरी, पृ० १३५
३—मानस-दर्शन, पृ० ७६
४—मानस, सुन्दरकांड, १-६
५—वही, २।१२

उन्होने कौतुकवश किया होगा । जो भी हो, सार यह है कि कवि इस प्रसग मे हनुमान की बुद्धिमत्ता को उभार नहीं पाया है ।

तुलसीदास के हनुमान की बुद्धिमत्ता तो गौण ही रही है, किन्तु उनका सेवा भाव, जो स्वामी के साथ तादात्म्य और आत्मावमानना का परिणाम है, उनके चरित्र मे प्रमुख बनकर मानस के पाठक को बहुत प्रभावित करता है ।

शूर्पणखा

वाल्मीकि की शूर्पणखा

वाल्मीकि रामायण मे शूर्पणखा का चरित्र असंतुलित काम-प्रवृत्ति के साथ कुटिलता और क्रूरता से भी परिपूर्ण है । वह राम के सौन्दर्य के प्रति अपनी मुग्धता अवश्य प्रकट करती है[1]

तानहं समितश्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात् ।
समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम् ॥
अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छंदबलगामिनी ।
चिराय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि ॥

किन्तु उससे भी पूर्व वह राम से जो प्रश्न करती है उनमे उसका प्रयोजन राजनीति सम्पृक्त प्रतीत होता है । वह राम से पूछती है– " इस राक्षस-सेवित देश मे तुम किस प्रयोजन से आये हो ? "

आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम् ।
किमागमन कृत्य ते तत्त्वमाख्यातुमहसि ॥[2]

सपत्नी भाव के कारण उसके द्वारा सीता के रूप की निंदा और उनके प्रति अशुभ-कामना स्वाभाविक है, किन्तु वह आरंभ मे ही सीता के साथ लक्ष्मण को भी खाजाने की घोषणा करती है

इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
अनेन सहते भ्रात्रा भक्षयिष्यामि मानुषीम् ॥[3]

जिससे उसकी क्रूरता प्रकट होती है—इसके पीछे कोई अव्यक्त कूट प्रयोजन भी संभव है । सीता हरण के लिये रावण को प्रेरित करने के लिये वह उसे राजनीति का उपदेश देती हुई सीता के सौन्दर्य का अत्यन्त उत्तेजक वर्णन करने के साथ अपने विरूपीकरण का कारण रावण के हित से सम्बद्ध करके बतलाती है जिससे उसकी कुटिलता अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है –

१—वाल्मीकि रामायण, ३।१७।२४-२५
२—वही, ३।१७।१३
३—वही, ३।१७।२७

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनोत्तुगपयोधराम् ।
भार्यार्थे तु तवानेतुमुद्यताहं वराननाम् ॥
निरूपितास्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज ।[1]

फिर भी उसके चरित्र की धुरी उसकी असन्तुलित काम-प्रवृत्ति ही प्रतीत होती है जिसके वशीभूत होकर सावह के प्रति ईर्ष्या प्रकट करती है और कभी राम से तो कभी लक्ष्मण से निर्लज्जलतापूर्वक प्रणय-प्रस्ताव करती है और असफल होने पर सीता को खाने दौड़ पड़ती है । इस प्रकार उसमे पहले जो क्रूरता केवल वाचिक स्तर पर दिखलाई देती है वही काम-प्रवृत्ति के बाधित होने पर उसके आचरण को भी क्रूर बना देती है ।

इस प्रकार वाल्मीकि की शूर्पणखा के चरित्र मे काम, कुटिलता और क्रूरता की त्रयी की प्रभावशाली अभिव्यक्ति हुई है ।

मानस की शूर्पणखा

मानस की शूर्पणखा के लिए डा॰ बलदेव प्रसाद मिश्र ने जो 'मूर्तिमन्त काम' शब्द का प्रयोग किया है,[2] वह शब्द वाल्मीकि की शूर्पणखा के लिए अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि उसका आचरण पूरी तरह उसकी कामुकता का परिणाम दिखलाई देता है । मानस की शूर्पणखा के चरित्र मे काम के ही समान अहकार दृष्टिगोचर होता है । उसका प्रणय-प्रस्ताव उसकी कामुकता के साथ उसके रूप-गर्व का भी व्यंजक है । उसे संसार मे अपने अनुरूप वर खोजे नहीं मिलता । राम को वह अपनी समता मे 'काम चलाऊ' ही समझती है उनके सौन्दर्य पर भी वह पूरी तरह रीझी हुई नहीं जान पड़ती—

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखेउँ खोजि लोक तिहुं नाहीं ।।
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी । मन माना कछु तुम्हहि निहारी ॥[3]

अपने सौन्दर्य के सबध मे उसकी अतिरंजित मान्यता उसे सनकीपन की सीमा तक ले गई है । राम-लक्ष्मण द्वारा निराश किए जाने पर उसका यह सनकीपन जो उसकी आत्मरति के निकट है - एकाएक उन्माद के रूप मे फूट पड़ता है । वह हिस्टरिया के बीमार के समान दौरा पड़ने से एकाएक विकराल रूप धारण कर लेती है ।

यह वाल्मीकि की शूर्पणखा से भिन्न है । वाल्मीकि की शूर्पणखा सामान्य रूप

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, ३।३४।२१-२२

[2] २—मानस-माधुरी, पृ० १२९

[3] ३—मानस, ३।१६।५

से प्रणय निवेदन करती है और अपने तिरस्कार से खीझकर सीता को खाने दौड़ती है। तुलसीदासजी की शूर्पणखा प्रणय निवेदन मे ही अपने मानसिक असतुलन का परिचय देती है और शनै शनै उसका यह असतुलन बढकर उन्माद का रूप ले लेता है।

यदि फ्रायड के दृष्टिकोण से मानस की शूर्पणखा के आचरण को देखा जाए तो उसमे आद्योपात स्वरतिमूलक विकृतमना नारी के लक्षण दिखलाई देंगे।[१] अपने सौन्दर्य के सबध मे उसकी अतिरजित मान्यता असतुलित प्रणय निवेदन और अत मे खीझकर भयकर रूप धारण करने से उसकी मानसिक अस्वस्थता ही व्यक्त होती है।

विभीषण

वाल्मीकि का विभीषण

वाल्मीकि ने राम भक्त विभीषण के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात न रखकर उसके आचरण की मूल प्रेरणा की यथार्थता उद्घाटित की है। वाल्मीकि का विभीषण राज्यकांक्षी है और शत्रु-पक्ष के प्रति उसकी सहानुभूति का सम्बन्ध बहुत कुछ राज्य-प्रलोभन से है।[२] उसके बन्धु विरोध का प्रमुख कारण रावण द्वारा किया गया अपमान न होकर भ्रातृ विरोध की ईर्ष्यामूलक भावना है जिसकी प्रेरणा से उसने रावण के प्रति अपमानजनक शब्द कहे। राम पक्ष मे मिलने से पहले ही वह राम का पक्ष लेने लगता है और निरन्तर रावण को राम की ओर से आतकित करता है। वाल्मीकि रामायण मे विभीषण द्वारा रावण को समझाए जाने के प्रयत्नों मे क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भ मे वह रावण की प्रशसा करता हुआ उससे हनुमान का वध न करने का अनुरोध करता है,[३] इसके उपरात वह राम की शक्ति की प्रशसा करने लगता है[४], तदुपरात अपशकुनो की चर्चा से राक्षसों को आतकित करता है[५] और अतत स्पष्ट शब्दो मे रावण की भर्त्सना करता है।[६]

भ्रातृ पक्ष के प्रति विभीषण के इस रुख से यह बात भली भांति समझी जा सकती है कि उसके मन में राम पक्ष के प्रति सहानुभूति बहुत पहले से विद्यमान थी और परिस्थितियो के अनुसार उसकी यह सहानुभूति क्रम क्रम से स्पष्ट होती गई।

१—R. S Wo[illegible] का क *Contemporary Schools of Psychology*, p 182.

२—वाल्मीकि रामायण, स्पष्ट हो जात

३—वही, ५।५२।५ २७

४—वही, ६।९।१० २२

५—वही, ६।१०।१४ २२

६—वही, ६।१४।२-६

राम विभीषण के चरित्र की इस वास्तविकता को पहिचानकर उसे अपना लेते हैं और उसके मन मे राज्य के प्रलोभन को और दृढ़ करने के लिए उसे तत्काल लंकाधिपति के रूप में मान्यता प्रदान कर देते हैं[1] जिससे वह प्राणपण से रावण के विरुद्ध जूझ सके।

रामायण मे भ्रातृत्व की जो तीन श्रेणियाँ देखने को मिलती हैं उनमे विभीषण निम्नतम श्रेणी मे आता है। उत्तम श्रेणी मे राम के भाई आते हैं जो निर्वासित राम का साथ देने मे कोई कसर नहीं रखते। मिले हुए राज्य को भी वे अपने भ्रातृ-प्रेम के कारण ठुकरा सकते हैं। राम ने अपने जैसे भाइयों की दुर्लभता का उल्लेख करते हुए सुग्रीव से ठीक ही कहा था कि सभी भाई, भरत जैसे नहीं होते।[2] स्वयं सुग्रीव उस श्रेणी में नहीं आता। उसने राम को अपने अग्रज के वध के लिए प्रेरित किया था, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसे हार्दिक ग्लानि हुई थी। विभीषण उससे भी गया बीता-भाई निकला। रावण-वध के उपरान्त विलाप करते हुए उसने रावण की बुराइयों का बखान तो बहुत कर डाला, किन्तु अपने कुकृत्यों के लिए किसी प्रकार का अनुताप व्यक्त नहीं किया।

उसके चरित्र से घोर स्वार्थ की गन्ध आती है। राम के प्रति उसकी निष्ठा तो अवश्य प्रशंसनीय कही जा सकती है, किन्तु सहृदय को मुग्ध कर देने वाली अन्य कोई विशेषता उसके चरित्र मे दिखलाई नही देती।

मानस का विभीषण

मानस के विभीषण का आचरण प्रधानतः भक्ति प्रेरित है, किन्तु उसके साथ-साथ मनोवैज्ञानिकता का निर्वाह भी हुआ है। मानसकार ने प्रारम्भ से उसके जीवनादर्श को अन्य राक्षसों से भिन्न बतलाकर रावणादि से उसका विरोध सहज स्वाभाविक माना है। इसीलिए विभीषण हनुमान् से पहली बार साक्षात्कार होने पर कहता है—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी।।[3]

मानसकार द्वारा निर्दिष्ट रावण-विभीषण-मतभेद का कारण वाल्मीकि से भिन्न है। वाल्मीकि का विभीषण प्रारम्भ मे रावण विरोधी नहीं था, किन्तु रावण द्वारा उसके परामर्श की सतत अवहेलना उसे रावण का घोर शत्रु बना देती है[4] जिसमें बांधवों की सहज ईर्ष्या योग देती है।[5] तुलसीदास ने दोनों भाइयों के मतभेद

१—वाल्मीकि रामायण, ६/१९/२६

२—वही, ६/१८/१५

३—मानस, सुन्दरकाण्ड, ६/१

४—द्रष्टव्य—'रामकाव्य की भूमिका, विभीषण का चरित्र-चित्रण

५—द्रष्टव्य—वही,

के बावजूद लम्बे समय तक विभीषण को रावण के समक्ष झुका रखा है। वह रावण के विरुद्ध अपना विरोध तभी व्यक्त करता है जब रावण भरी सभा मे उस पर चरण-प्रहार करता है। इस प्रकार तुलसीदास ने वाल्मीकि के स्वार्थी विभीषण के स्थान पर *मानस मे विनयशील विभीषण उपस्थित किया है जो रावण की लात खाकर भी यही* कहता है—

तुम्ह पितु सरिस भलेंहि मोहि मारा। रामु भजे हित नाथ तुम्हारा ॥[1]

शरण में आते हुए विभीषण को देखकर वाल्मीकि के राम बान्धवों के सहज विरोध की प्रेरणा से उसे अपनी शरण मे आया हुआ समझते हैं जबकि मानस के राम अन्त तक यही मानते हैं कि विभीषण किसी महत्त्वाकाक्षा के कारण नहीं, बल्कि भक्ति-भाव से ही उनकी शरण मे आया है—

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं ॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन वृष्टि नभ भई अपारा ॥[2]

राम की इस मान्यता से मानस के विभीषण का चरित्र वाल्मीकि के विभीषण से भिन्न प्रतीत होता है। इस विभीषण के मन मे न अहंकार है न राज्य-लिप्सा। उसे अपने भाई के शत्रु राम के पक्ष मे लेजाकर मिलाने वाली उसकी भक्ति-भावना है जिसका सम्बन्ध किसी लौकिक प्रयोजन से न होकर आध्यात्मिकता से है।

रावण

वाल्मीकि का रावण

रामायण के पात्रों मे रावण सर्वाधिक अहंकारी तथा कामुक व्यक्ति दिखलाई देता है। रामायणकार ने उसके अहंकार की आधारभूमि को स्पष्ट कर दिया है। रावण जब बालक ही था उस समय उसके सौतेले भाई वैश्रवण के तेज और वैभव को देख कर रावण की माँ के मन मे हीनता की भावना उत्पन्न हुई थी।[3] उस हीनतानुभूति के परिणाम-स्वरूप उसने अपने पुत्र से अपने सौतेले भाई के समान बनने का अनुरोध किया[4] और अनुरोध के परिणाम-स्वरूप उसके मन मे विजयैषणा *ने महत्त्वाकाक्षा का रूप ले लिया।*[5] इस महत्त्वाकाक्षा ने आत्मस्थापन की मूल-प्रवृत्ति से उद्भूत होने के कारण रावण को अहंकारी बना दिया।

---

[1] —मानस, सुन्दरकाण्ड, ४०/४

[2] —मानस, ५।४८।५

[3] —वाल्मीकि रामायण, ७।९

[4] —वही, ७।९।४३

[5] —वही, ७।९।४५

अहंकार के परिणाम स्वरूप ही रावण राम की शक्ति को जानते हुए भी उनकी उपेक्षा करता है। रावण पहले से ही यह बात भली भांति जानता है कि राम किसी न किसी प्रकार समुद्र पार कर लंका तक आ पहुँचेगे[1] फिर भी माल्यवान द्वारा राम के साथ सन्धि कर लेने का परामर्श दिए जाने पर वह माल्यवान् को धिक्कारते हुए उस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। रावण टूट जाने के लिए तैयार था, किन्तु झुकने के लिये नहीं। अपनी प्रकृति की इस अहंकारिता के दोष का उसे ज्ञान था, किन्तु अपने स्वभाव के विपरीत कार्य करना उसके लिए संभव न था।[२]

विजयैषणा का एक और परिणाम यह हुआ कि रावण के चरित्र में युयुत्सा की प्रवृत्ति बड़ी बलवती हो गई। युद्धाकांक्षा के परिणामस्वरूप उसने विभिन्न नरेशों को युद्ध के लिए चुनौती दी थी[3] और इसीलिए राम के साथ युद्ध करते समय आहत हो जाने पर सारथी द्वारा युद्ध क्षेत्र से सुरक्षित स्थान पर ले आए जाने पर वह सारथी को बहुत भला-बुरा कहता है।[४]

बहुत अंशों में युद्धाकांक्षा और अहंकार उसके चरित्र में एक दूसरे में खो गए हैं। युद्धाकांक्षा के आवेग में उसका अहंकार व्यक्त हो रहा है और अहंकार ने उसे युद्धाकांक्षी बनाने में बड़ा योग दिया है।

फिर भी उसके व्यक्तित्व में अहंकार की प्रधानता नहीं है। अहंकारी प्रकृति के बावजूद वह मन्त्रियों को परामर्श के लिए आमन्त्रित करता है[५] और कुम्भकर्ण द्वारा की गई अपनी आलोचना को भी चुपचाप सुन लेता है।[६] यह बात दूसरी है कि वह सबकी सुनने के बाद करता अपने मन की ही है।

अहंकार से भी बढ़कर उसकी कामुकता है। काम के समक्ष उसका अहंकार नहीं टिक पाता। रम्भा के समक्ष वह हाथ जोड़ कर विनीत भाव से याचना करता हुआ दिखलायी देता है।[७] अपने चरित्र की इस दुर्बलता से पूरी तरह अवगत होने पर भी काम के आवेश से मुक्त होना उसके वश की बात नहीं थी।[८] राम द्वारा शूर्पणखा के अपमान का समाचार सुनकर उसके अहंकार को आघात पहुँचता है,

---

[१] —वाल्मीकि रामायण, ६।६।१७-१८

[२] —वही, ६।६३।११

[३] —वही, ७।१९।१

[४] —वही, ६।१०४।२-९

[५] —वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, षष्ठ सर्ग

[६] —वही, ६।१२।२८-३४

[७] —वही, ७।२६।२७

[८] —वही, ६।१२।१७

किन्तु मारीच के द्वारा समझाए जाने पर वह राम से बदला लेने के कृत्य से विरत हो जाता है, परन्तु जब शूर्पणखा रावण के समक्ष सीता के सौन्दर्य की चर्चा करती है तो रावण मारीच के समझाने पर भी सीताहरण से विरत नही होता। इससे यह बात भली भाँति समझी जा सकती है कि रावण कदाचित् अहकार को त्याग भी सकता था, किन्तु काम से निवृत्त होना उसके लिए समव नही था। राम से वह समझौता न कर सका इसका कारण केवल उसका अहकार ही नही था, बल्कि सीता को अपने पास रखने की प्रबल इच्छा भी उस हठ के मूल मे सक्रिय थी।

उसके चरित्र मे काम से भी अधिक प्रबल भावना वात्सल्य की दिखलायी देती है, किन्तु उसका प्रकाशन इतना कम हुआ है कि रावण के चरित्र के इस पक्ष के प्रति लोगो का ध्यान सामान्यतया जाता नही है। इन्द्रजीत के वध से रावण इतना क्षुब्ध हो जाता है कि वह सीता को भी, जिसको वह प्रत्येक मूल्य पर अपने पास रखना चाहता था, मारने का निश्चय कर लेता है[1] और बडी कठिनाई से वह सीता के वध से विरत किया जा सकता है। पुत्र-स्नेह के समक्ष काम का उसके लिए कोई महत्त्व नही जान पडता। यह उसके शिथिल चरित्र का धवल पक्ष है।

अपनी दुर्बलताओ का ज्ञान सचमुच उसके व्यक्तित्व को अत्यन्त मानवीय बना देता है। अहकार और काम के समक्ष पराक्रमी रावण की विवशता देखकर उसपर तरस आता है, क्रोध नही।

मानस का रावण

मानस के पात्रो मे रावण को कवि की सहनुभूति सब से कम मिली है। कवि की सहानुभूति न मिल पाने के कारण ही मानस का रावण अपनी महत्ता का निर्वाह नही कर पाया है। पराक्रम की दृष्टि से भी वह बहुत प्रचण्ड नही जान पडता। जैसाकि डॉ॰ श्रीकृष्ण लाल ने कहा है—"यह रावण तो हनुमान की एक मुष्टिका से ही मूर्छित हो जाता है—रावण के मुष्टि प्रहार से हनुमान का मूच्छित होना तो दूर रहा, भूमि पर भी नही गिरे, परन्तु हनुमान के प्रहार से रावण मूच्छित भी हो गया। इतना ही नही जिन मूच्छित लक्ष्मण को रावण प्रयत्न करके भी नही उठा सका उन्हे हनुमान उठाकर राम के पास तक ले आये।"[2]

फिर भी यह मानना ठीक नहीं होगा कि मानस मे रावण के पराक्रम की अभिव्यक्ति सुचारु रूप से नहीं हो सकी है। राम-रावण युद्ध के प्रसग मे उसकी माया-लीला के कारण उसका पराक्रम विशुद्ध रूप मे दिखलायी नहीं देता, किन्तु

१—वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ६/९२/२०

२—मानस-दर्शन, पृ० ५१

उसकी दुर्धर्षता छिपी भी नहीं रहती। अपने सिर और बाहु कटते जाने पर भी वह भयंकर युद्धोन्माद प्रदर्शित करता है। राम के बाणों से आहत होते हुए भी रक्त-रंजित रावण भयंकर रूप से राम पर आक्रमण करता है और उनके रथ को अपने बाणों से ढक देता है। उसके पराक्रम से वानर और देवता व्याकुल हो उठते हैं।

उसके इस पराक्रम का आधार है उसका प्रबल अहं (आत्मप्रकाशन) और अपने वश मे लाने के लिए यज्ञ आदि बन्द करा देता है। प्रभुत्वकामना के साथ पर-पीडन की प्रवृत्ति भी पनप जाती है। प्रभुत्वकामना और परपीडन दोनो ही आधिपत्य की इच्छा से सम्बन्धित हैं।[1] इस प्रकार उसकी आधिपत्य लालसा उसे युद्ध-लोलुप और आततायी बना देती है—

रन मदमत्त फिरहि जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥
रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥
किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबहि के पर्थांहि लागा॥
ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥[2]

उसकी आत्म प्रकाशन सम्बन्धी मूलप्रवृत्ति दम्भ के रूप मे भी व्यक्त होती युयुत्सा। वह अपने पराक्रम के उत्साह मे देवताओ को पराभूत करता है और उन्हे है। वह अंगद के समक्ष अपने पराक्रम का जो वर्णन करता है वह दम्भ की सीमा तक पहुँच गया है। मंदोदरी भी उसे जब-जब समझाती है, तब-तब वह उसे अपनी दम्भपूर्ण बातों से आश्वस्त करने का प्रयत्न करता है। अपने अहंकार के कारण ही वह किसी के परामर्श की ओर ध्यान नहीं देता। वह तो मनमानी करने का अभ्यस्त है—

भुज बल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतन्त्र॥
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मन्त्र॥[3]

उसकी यह निरंकुशता उस समय अच्छी तरह व्यक्त होती है। जब सीता हरण के उपरांत विभीषण, मंदोदरी और मंत्री आदि उसे सीता को लौटा देने के लिए समझाते हैं, किन्तु वह किसी की बात नहीं सुनता।

बलात् अपनी बात मनवाना उसकी प्रकृति है। जो कोई उसकी बात नहीं मानता वही तुरन्त उसका कोप-भाजन बन जाता है। उसके विरुद्ध बोलने के कारण

१—यौन निसर्ग वृत्ति के कुछ घटक आवेगों का बिलकुल शुरू से कोई आलम्बन होता है और वे इसे कस कर पकड़े रहते हैं, ये आवेग हैं आधिपत्य (पीड़कतोष), देखना (दर्शनेच्छा) और कुतूहल। —सिगमण्ड फ्रायड, मनोविश्लेषण, पृ० २९२

२—मानस, बालकाण्ड, १८१।५ ७

३—वही, १८२/(क)

विभीषण को अपमानित होकर राम की शरण लेनी पडती है और उसकी बात मानने मे थोडी सी हिचकिचाहट दिखलाने मे मारीच और कालनेमि के प्राणो पर आ बनती है।

आत्म-प्रकाशन की प्रबलता के कारण मानस का रावण असहिष्णु है। वह अपनी आलोचना नही सह सकता। आलोचना करने पर वह हनुमान को दूत होने पर भी दड देता है, अपने पुत्र प्रहस्त और मत्री माल्यवान को डाँटता है, विभीषण का अपमान भरी सभा मे करता ही है। अपने आचरण के विरुद्ध अपनी पत्नी मदोदरी का परामर्श दो एक बार तो सुन लेता है, किन्तु आगे चलकर उसे भी डालने लगता है—

> नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
> साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥[1]

इससे विपरीत वाल्मीकि का रावण इतना असहिष्णु नही है। वह एक सीमा तक अपनी आलोचना सह लेता है। इतना ही नही, कभी कभी वह अपनी दुर्बलता को स्वीकार भी कर लेता है, कितु अपनी प्रकृति का उल्लघन करने मे अपने आप को असमर्थ पाता है।[2]

वाल्मीकि रामायण मे रावण का अहकार वैसा उग्र नही है जैसा मानस के रावण का। मानस का रावण अपने सर्वाधिक प्रिय पुत्र मेघनाद की मृत्यु का समाचार सुनकर थोडे समय के लिए दुखी अवश्य होता है कितु बहुत शीघ्र ही वह पुत्र शोक छोडकर अपना अहकार प्रकट करने लगता है—

> निज भुज बल मैं बयरु बढावा।[3]

वाल्मीकि का रावण जब यह समाचार सुनता है तो क्रोध से पागल सा हो जाता है। जिस सीता के लिए उसने अपना सर्वस्व दाँव पर लगा दिया था उसी को मारने दौडता है[4] उस समय वह अपने 'आपे' को भूल जाता है।

वस्तुत वाल्मीकि के रावण के चरित्र मे अह की प्रधानता नही है। उसके चरित्र म प्रधान है काम। सीताहरण के लिए वह प्रतिष्ठा के प्रश्न से उतना उत्तेजित नही होता जितना काम की प्रेरणा से। विभीषण रावण के चरित्र मे काम की प्रधानता को समझकर ही रावण द्वारा माया सीता का वध कर दिये जाने के अवसर

---

[1] १—मानस, लकाकाण्ड, १५/१२

[2] २—डा० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० ८४

[3] ३—मानस, लकाकाड, ७७।३

[4] ४—वाल्मीकि रामायण, ६।९२।२०।

पर दुखी राम को समझाता हुआ कहता है कि सीता के प्रति रावण के भाव को देखते हुए उसके द्वारा सीता का वध असम्भव जान पड़ता है।[1] इसके विरुद्ध तुलसीदास के रावण में आत्म-प्रकाशन की प्रमुखता है। सीता द्वारा थोड़ा सा अपमान भी वही नहीं सह पाता। उनके मुख से अपने लिए खद्योत शब्द का प्रयोग होते ही उनके प्रति अपना प्रेम भूल कर वह बिगड़ उठता है—

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥[2]

इससे यह बात छिपी नहीं रहती कि उसके चरित्र मे काम का स्थान अहं के बाद मे है।

तुलसीदास के कुछ अध्येताओं के विचार से मानस का रावण कामुक है ही नहीं। उनके अनुसार सीता के प्रति उसकी भावना कामुकतापूर्ण न होकर भक्ति भावपूर्ण है। वह तो 'जानकी की मातृ दृष्टि से कृपा चाहता है।'[3] इस दृष्टिकोण के अनुसार 'एक बार बिलोकु मम ओरा' का अर्थ है कि "यदि आप मातृ-दृष्टि से कृपा करदें तो फिर मैं देखूंगा कि राम ब्रह्म होकर भी मुझे कैसे विजय कर सकेंगे।'[4] यदि ऐसी ही बात थी तो सीता को राम से उसकी तुलना करते हुए उसे 'खद्योत' कहने की क्या आवश्यकता थी—

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥[5]

और इससे आगे रावण को यह अल्टीमेटम देने की आवश्यकता क्यो हुई—

मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना॥[6]

यदि वह सीता की अनुग्रह-दृष्टि चाहता था—प्रेम-दृष्टि नहीं तो बात न मानने पर उसे मार डालने की बात मे क्या तुक था? क्या कोई अपनी आराध्या (इष्टदेवी) से यह कहेगा कि आपने मेरी प्रार्थना नहीं मानी तो मै आपको मार डालूंगा?

हमारे पास इस बात के निश्चित प्रमाण है कि सीता के प्रति रावण के मन में काम-भावना थी। सीताहरण के अवसर ,पर ही रावण ने अपना प्रेम सीता के प्रति प्रदर्शित कर दिया था—

नाना बिधि करि कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति दिखाई॥[7]

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, ६।८४।१०

[2] २—मानस, सुन्दरकांड, ९।१

[3] ३—डॉ० भागवतीसिंह, तुलसीदास की काव्य-कला, पृ० २६७

[4] ४—वही, पृ० १६७

[5] ५—मानस, सुन्दरकाण्ड ८।४

[6] ६—वही, ९/५

[7] ७—वही, अरण्यकाण्ड, २७/६

यदि पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार यहाँ 'प्रीति' का अर्थ दास्य भावना किया जाए तो इससे सीता के कुपित होने की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु वहाँ सीता तुरन्त रावण पर क्रुद्ध हो जाती हैं—

कह सीता सुनु जती गोसाईं । बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं ॥[1]

इससे यही सिद्ध होता है कि रावण ने सीता के प्रति अपना कामजनित प्रेम ही वहाँ प्रदर्शित किया था ।

इसके साथ ही अन्य प्रमाणों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि सीता के प्रति रावण कामासक्त था । सीता को सान्त्वना देती हुई त्रिजटा उन्हें समझाती हैं ।

प्रभु ताते उर हतइ न तेही । एहि के हृदय बसति बैदेही ॥[2]

यहाँ हृदय में बसने का अभिप्राय भी क्या मातृ भाव से सीता की आराधना है ? किसी आराध्या के सम्बन्ध में इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं देखा गया । हाँ, आराध्य के लिए हृदय में बसने की बात अवश्य कही जाती है । मानसकार का अभिप्राय यहाँ पर प्रेम भावना से ही है यह बात अगली पंक्ति से स्पष्ट हो जाती है ।

एहि के हृदय बस जानकी जानकी उर मम बास है ।[3]

जानकी के हृदय में राम के बसने की बात कह कर कवि ने इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहने दिया है कि इन शब्दों से उसका अभिप्राय काम सम्बन्ध से रहा है । रावण द्वारा मातृ-भाव से सीता की आराधना की बात कोरी खींचतान ही है, हाँ राम के प्रति उसका पूज्य भाव एक बार अवश्य व्यक्त हुआ है जो अध्यात्म रामायण का प्रभाव है[4], किन्तु रावण का वह भक्ति भाव उसके शेष आचरण की संगति में नहीं है । उसके मुख से भक्त होने की बात मानस में कई बार सुनाई देती है, किन्तु भक्त का जैसा स्वाभाविक दैन्य उसके चरित्र में कहीं दिखलायी नहीं देता । उसकी भक्ति भी उसके दुर्वह गर्व से दब गई है । वह अपनी भक्ति का उल्लेख अपनी महत्ता दिखलाने के लिए ही करता है—

सिर सरोज निज करन्हि उतारी । पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी ॥[5]

अहंकार ही उसके चरित्र की प्रमुख विशेषता है । काम का योग उसके अहंकार

१—मानस, अरण्यकाण्ड, २७/६

२—वही, लंकाकाण्ड, ९८/७

३—वही, देखिए परवर्ती छन्द

४—द्रष्टव्य—रामकाव्य की भूमिका पृ० ९९

५—मानस, लंकाकाण्ड, २४।२

को प्राप्त है, किन्तु उसका स्थान आत्मप्रकाशन (अह) के बाद दूसरा है। भक्ति-भावना स्पष्टतः आरोपित है क्योंकि उसके लौकिक आचरण से उसकी संगति नही बैठती है।

वस्तुतः उसका चरित्र अह (आत्म प्रकाशन एवं तज्जन्य दंभ, असहिष्णुता आदि), काम तथा क्रोध (युयुत्सा) का सम्मिश्रण है। उसके चरित्र की इन प्रवृत्तियों में अह का स्थान प्रमुख है। क्रोध उसके अहकार से ही सम्बन्धित है और इसलिए सर्वत्र उसका क्रोध अपनी अवहेलना से उत्पन्न होता है। उसके चरित्र मे काम का स्थान बहुत गौण है, यद्यपि उसका सर्वथा अभाव नही है। अहकार एव युयुत्सा (क्रोध एव युद्धोन्माद) की प्रमुखता के कारण उसका चरित्र सामाजिक भावना से रहित है।

दूसरी ओर वाल्मीकि के रावण में काम की प्रधानता है, आत्मप्रकाशन गौण है। इसलिए वह एक सीमा के भीतर अपनी आलोचना सुन लेता है और कभी कभी आत्मालोचन भी कर लेता है। वाल्मीकि के रावण मे प्रबल वात्सल्य के कारण उसके चरित्र में कोमलता का सुन्दर संस्पर्श दिखलायी देता है, किन्तु तुलसीदास के रावण में यह विशेषता उभर नही पाई है। वह मानवसुलभ कोमलता से विरहित 'राक्षस' भर रह गया है।

दो महाकवियों (वाल्मीकि और तुलसीदास) के रावण के चरित्र में यह बड़ा भारी अन्तर है। इस अन्तर पर ध्यान न देकर यह कहना कि दोनों के रावण का चरित्र एक सा है,[1] राम-काव्य के विकास के साथ भारी अन्याय करना है।

चरित्र-दृष्टि एवं सर्जन-कौशल

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के प्रमुख पात्रों की चरित्रगत तुलना से दोनों कवियों की चरित्रविधानगत अन्तर्दृष्टि की भिन्नता—कवि-कल्पना में पात्रों की रूप ग्रहण-विषयक भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। इसके बाद दोनों कवियों की चरित्रांकन कला में अन्तर्हित उन विभिन्न तत्त्वों की गवेषणा अपेक्षित है जिनके भिन्न भिन्न संयोजन से उनकी चरित्र-सृष्टियों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ये तत्त्व हैं—(१) पात्रों की स्वायत्तता, (२) चारित्रिक यथार्थता, (३) शील भिव्यजना (उदात्तता), और (४) बिम्ब संघटन। उपर्युक्त तत्त्वों पर एक-एक कर विचार करना उचित होगा।

१—डॉ० भाग्यवतीसिंह दोनों के रावण का चरित्र एक जैसा ही मानती हैं। —तुलसी की काव्यकला, पृ० २६५

पात्रों की स्वायत्तता

वाल्मीकि रामायण मे कवि ने प्राय सर्वत्र अनासक्त भाव से चरित्रांकन किया है। कहीं कहीं कवि पात्रो की चरित्रगत विडम्बनाओ में—उदाहरणार्थ मंथरा और शूर्पणखा के सम्बन्ध मे—रस लेता अवश्य प्रतीत होता है। फिर भी उसने उनके आचरण को उनकी अपनी अन्त प्रकृति से सचालित होते दिखलाया है। कवि का अपना दृष्टिकोण उनकी अन्त प्रकृति के साथ अन्तर्मिश्रित नही हुआ है। इसके विपरीत मानस में कवि ने अधिकांशत अपनी भक्ति-भावना और अपने आदर्शों के आरोप से पात्रो की अन्त प्रकृति की सहजता को प्रभावित किया है। डॉ० श्रीकृष्णलाल ने मानस के पात्रो को राम के ब्रह्मत्व के सम्बन्ध से भक्त रूप मे प्रतिष्ठित कर तुलसीदास की चरित्र चित्रण कला के स्थान पर भक्ति प्रतिपादन प्रवृत्ति की जो प्रमुखता सिद्ध करनी चाही है उसके मूल मे मानस के पात्रो पर मानसकार की भक्ति-भावना को आरोपित किये जाने का उक्त प्रयत्न ही है। यद्यपि डॉ० श्रीकृष्णलाल का दृष्टिकोण अशत ही सही है—मानस के पात्रों पर कवि की भक्ति-भावना के आरोपण के साथ उनकी अपनी स्वतन्त्र अन्त प्रकृति भी रही है, फिर भी मानस के पात्रो की स्वायत्तता भक्ति-भावना के आरोप से प्रचुरांश मे कुंठित हुई है—दशरथ, लक्ष्मण, भरत, जनक, सुग्रीव, हनुमान, विभीषण, और रावण अपने अपने व्यक्तित्व के वाहक होने के साथ भक्त भी हैं। लक्ष्मण, भरत, सुग्रीव, हनुमान, विभीषण आदि के चरित्र मे राम के प्रति पूज्य भावना सहज रूप मे समाविष्ट हो जाने से उनकी भक्ति-भावना और चारित्रिक सहजता मे अविरोध बना रहा है—राजा दशरथ की भक्ति भी जहाँ तक पुत्र स्नेह के साथ घुलमिल गई है वहाँ तक भक्ति और चारित्रिक स्वायत्तता मे विरोध दिखलायी नही देता, किन्तु जहाँ राजा दशरथ के आचरण मे राम के प्रति पूज्य-भावना का आरोप किया गया है,[1] वहाँ चारित्रिक स्वायत्तता आहत हुई है। रावण कुम्भकर्णादि की भक्ति-भावना उनकी अन्त प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण उनके चरित्र मे अन्तर्भुक्त नही हो पाई है और एक विजातीय तत्त्व के रूप मे स्वय अपने आरोपित होने की घोषणा-सी करती है।

पात्रों के चरित्र की सहज स्वायत्त अभिव्यक्ति मे कवि का आदर्शाग्रह भी बाधक रहा है। प्रतिपक्ष के प्रति कवि के मन मे कोई सहानुभूति नहीं रही है। अतएव प्रतिपक्ष के पात्रों की अन्त प्रकृति की हलचल को वह वैसी तटस्थता के साथ अंकित नही कर पाया है जैसी वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देती है। कवि के पास

---

[1] लरिकाश्रमित उनींद बस सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे बिश्रामगृह राम चरन चितु लाइ॥ —मानस, १/३५५

केवल दो ही रंग हैं--सफेद और काला। अत उसने या तो किसी पात्र को श्वेत-निष्कलुष—रंग से चित्रित किया है अथवा एक दम काला कर दिया है। श्वेत और काले की मध्यवर्ती स्थिति मानसकार को मान्य नही रही है जबकि वाल्मीकि ने घोर काले रंग मे भी कहीं-कहीं श्वेत रंग का मार्मिक संस्पर्श किया है—रावण की चारित्रिक विवशता की आत्मस्वीकृति ऐसा ही संस्पर्श है। इसी प्रकार वाल्मीकि ने श्वेत दिखलायी देने वाले पात्र की अन्तर्हित कालिमा को भी उजागर किया है। विभीषण के चरित्र मे उसकी स्वार्थपरता को कवि ने अनुद्घाटित नही नही रहने दिया है। वाल्मीकि का तुलना मे मानसकार की चरित्र-दृष्टि स्पष्टत एकांगी दिखलायी देती है।

चारित्रिक यथार्थता

वाल्मीकि और तुलसीदास की चरित्र दृष्टियों की भिन्नता का प्रभाव उनके पात्रों की चारित्रिक यथार्थता पर दूर तक दिखलायी देता है। वाल्मीकि की पूर्वाग्रह-रहित दृष्टि का उन्मेष राम के चरित्र की सहज मानवीयता मे निहित जटिलता मे हुआ है। वाल्मीकि ने राम के उत्तम आचरण मे अंतर्निहित प्रेरणाओं को बिना किसी संकोच के अनावृत किया है और कहीं-कहीं—उदारणार्थ वालिवध के अवसर पर—उनकी चारित्रिक दुर्बलता को पूरी शक्ति से सम्मूर्तित किया है। यह वाल्मीकि की अनासक्त और पूर्वाग्रहरहित दृष्टि का ही प्रसाद है कि लक्ष्मण और सीता के मुख से कवि ने राम के दृष्टिकोण का प्रतिवाद करवाया है। राम के प्रति सीता और लक्ष्मण की निष्ठा अटूट है, फिर भी वे अपने दृष्टिकोण की स्वतन्त्रता बनाये रखते हैं और यदि आवश्यकता होती है तो खुलकर राम का विरोध भी करते हैं। चारित्रिक यथार्थ के आग्रह से ही कवि ने कौसल्या को राम के निर्वासन का विरोध करते और राजा दशरथ को खरी खोटी सुनाते दिखलाया है। वाली की चुनौती के उत्तर मे राम की लीपा पोती और असंतोषजनक उत्तर न मिलपाने पर भी अंत समय वाली का हृदय परिवर्तन कवि की यथार्थदर्शिनी दृष्टि की निर्लिप्तता का ही परिणाम है।

मानसकार के चरित्रांकन मे धार्मिक दृष्टिकोण के बावजूद मानवीय विश्वसनीयता का निर्वाह तो प्रचुरांश मे हो सका है, किंतु उसके चरित्र-चित्रण मे वैसी पूर्वाग्रह-हीनता दिखलायी नही देती जैसी वाल्मीकि रामायण में देखने को मिलती है। राम के समक्ष लक्ष्मण और सीता की विनीतता तो समझ में आने योग्य है, उसमे यथार्थ-बाध का प्रश्न नही उठता, किन्तु राम की धार्मिकता को ललकारनेवाले वाली का एकाएक राम के समक्ष निरुत्तर होकर उनकी भक्ति अंगीकार कर लेना चारित्रिक यथार्थ की दृष्टि से अकल्पनीय है।

शीलाभिव्यंजना

मानस मे चारित्रिक यथार्थता की न्यूनता यदि अखरती नही तो उसका कारण यह है कि मानसकार ने विश्वसनीय शीलाभिव्यंजना से उसे सतुलित किया है। मानस मे राम, लक्ष्मण, सीता, कौसल्या, दशरथ आदि पात्रो के चरित्र मे शीलोपकारक परिवर्तन किया गया है। वाल्मीकि के राम की धर्म भीरुता और लोक-भीरुता मानस मे सामाजिक चेतना के रूप मे व्यक्त हुई है, लक्ष्मण की अर्थ चेतना लुप्त हो गई है और उनका क्रोध सदैव राम के साथ तादात्म्य का परिणाम बन गया है। मानसकार ने वाल्मीकि की सीता और कौसल्या के चरित्र की उग्रता धो दी है। कौसल्या के चरित्र से अधृति निकालकर धृति का समावेश भी किया गया है। इसी प्रकार वाल्मीकि के राजा दशरथ की भीरुता सूचक तथा दुरभिसंधि व्यंजक उक्तियों और तदनुकूल आचरण को मानसकार ने अपने काव्य में स्थान न देकर उसके प्रतिकूल उक्तियो का समावेश कर एक भीरु और कपटी राजा के स्थान पर पराक्रमी, धर्म-धुरन्धर और नीतिज्ञ राजा का चित्र उपस्थित किया है। कैकेयी के चरित्र मे ग्लानि का समावेश कर कवि ने उसके चरित्र मे भी शील के समावेश का प्रयत्न किया है। शील समावेश को विश्वसनीय बनाने के लिए कवि ने अपने पात्रो की मूल प्रवृत्तियो के साथ उनके परिवेश का चित्र भी प्रभूताश मे बदल दिया है जिससे कि पात्रो का शील परिवेश की सगति के अनुसार सहज रूप मे व्यक्त हुआ है। इसीलिए मानस मे आदर्शवादिता आरोपित प्रतीत नही होती, फिर भी उसके कारण चरित्र चित्रण एकागिता से नही बच पाया है।

उदात्तता

शील सयोजन के परिणामस्वरूप मानस के अनेक पात्रो के चरित्र से रामायण मे अकित अनुदात्त तत्त्व निकल गया है। इसके अतिरिक्त कही कही कवि ने वाल्मीकि के काव्य मे अकित उदात्त-चरित्र को और अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है। वाल्मीकि मे भरत की ग्लानि बहुमुखी सदेहो के मध्य व्यक्त हुई है जबकि मानस मे वह भरत की आत्मशुद्धता का परिणाम दिखलाई देती है क्योकि वहां सन्देह का स्वर अत्यन्त क्षीण है। इसके साथ ही भरत के चरित्र से आग्रह का अंश निकाल कर उसके स्थान पर समर्पणशीलता को स्थान देकर कवि ने उनके चरित्र को और ऊँचा उठा दिया है। इसके विपरीत वाल्मीकि रामायण मे पात्रो की दुर्दम प्रकृति की प्रभावशाली व्यजना के रूप मे (पाश्चात्य अर्थ मे) उदात्त का समावेश किया गया है। वाल्मीकि का रावण उदात्त है—कदाचित् इसीलिए उसे महात्मा कहा गया है। वह टूटने के लिये तैयार है, लेकिन झुकने के लिए नही। इसी अर्थ म रामायण और मानस का वाली भी उदात्त कहा जा सकता है।

चरित्र-बिम्ब संगति और अन्विति

चरित्र बिम्ब का संघटन उसके आचरण की अन्यहिति और संगति से होता है। कोई भी पात्र जब एक विशेष दिशा से आचरण करता दिखलायी देता है और उसके विपरीत अन्य किसी असमाधेय तत्त्व का समावेश उसके चरित्र मे दिखलायी न दे तब उससे एक विशिष्ट व्यक्ति का कल्पना-चित्र उभरने लगता है। वस्तुतः चरित्र बिम्ब मे व्यक्तिगत अन्तस्तत्त्वों की संगति और अन्विति आवश्यक है। सर्वप्रथम संगति विचारणीय है।

वाल्मीकि रामायण मे राम का चरित्र इतना जटिल है कि उसमें आपाततः अनेक विसंगतियाँ दिखलायी देती है। वाल्मीकि के राम पितृभक्त भी हैं और पिता की भर्त्सना भी करते हैं, सीता का प्राणान्तिक प्रेम करते हैं, किन्तु उन्हीं का भयंकर तिरस्कार भी करते हैं, कहीं भरत के प्रति अगाध विश्वास व्यक्त करते हैं तो कहीं उनके प्रति सन्देह भी व्यक्त करते है। राम के आचरण का यह अन्तर्विरोध उनके व्यक्तित्व की जीवन्तता की अभिव्यक्ति है जो उत्साह पर प्रतिष्ठित होने से असंगति के मध्य भी संगत बनी रहती है। रामचरितमानस मे इस प्रकार की विसंगति तो दिखलायी नहीं देती, किन्तु राम के प्रति रावण की भक्ति और शत्रुता, रावण के प्रति मन्दोदरी की निष्ठा और कटु आलोचना मे अवश्य ही ऐसी विसंगति रही है जिसका परिहार नहीं हो पाया है। फलतः मानस मे मन्दोदरी का चरित्र तो बिखर ही गया है और रावण के चरित्र मे भक्ति एक विजातीय तत्त्व के रूप मे ही प्रवेश पा सकी है।

वाल्मीकि और मानस के पात्रों के चरित्र मे व्यापक अन्तर होने पर भी दोनों काव्यों मे पात्रों के चरित्र-बिम्ब प्रायः सुसंघटित बने रहे हैं। इसका कारण यह है कि मानसकार ने वाल्मीकि की तुलना मे अपने पात्रों के चरित्र मे केवल अन्तस्तत्त्वों मे ही परिवर्तन नहीं किया प्रत्युत् उसकी समग्र संगति को नये सिरे से संवारा है और चरित्र मे परिवर्तन करते समय परिवेश की संगति का भी ध्यान रखा है जिसका परिणाम यह हुआ है कि मानस के पात्रों और उनके परिवेश मे विसंगति के लिये प्रायः अवकाश नहीं रहा है।

पात्रों के अन्तस्तत्त्वों मे संगति बनी रहने से प्रायः उनकी अन्विति पर आंच नहीं आने पाई है। रावण के चरित्र मे भक्ति की अन्तर्धारा समाहित नहीं हो पाने से वह उसके चरित्र का अंग नहीं बन पाई है, किन्तु उसके शेष चरित्रों मे भली भाँति अन्विति बनी रही है। मन्दोदरी का चरित्र अवश्य ही पति निष्ठा और ईश्वर-निष्ठा की अन्विति से बिखर गया है।

निष्कर्ष

वाल्मीकि और तुलसीदास के पात्रों के चरित्रों तथा दोनों कवियों की चरित्रांकन-कला की तुलना से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि रामायण और मानस

के पात्रों की प्रभाव-शक्ति के स्रोत भिन्न भिन्न हैं—दोनों के पात्र भिन्न-भिन्न प्रकार से हमारी सौन्दर्य-चेतना की तुष्टि करते हैं। वाल्मीकि के चरित्र विधान का सौन्दर्य उनकी यथार्थ-दृष्टि के उन्मेष मे निहित है। फलतः वाल्मीकि के पात्रों का चरित्र अपने अपने वैशिष्ट्य-बोध और मानव-प्रकृति की जटिलता के निरूपण के बल पर हमें प्रभावित करता है। मानव प्रेरणाओं, मूल्यों, प्रत्यक्षीकरण और प्रतिक्रियाओं के चित्रण में वाल्मीकि ने अद्वितीय अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है जिसके परिणामस्वरूप उनके काव्य में पात्रों का व्यक्तित्व अत्यन्त जीवन्त रूप मे अंकित हुआ है। मानस के पात्रों मे वैसी जीवन्तता न होने पर भी उनमे शील की जो पराकाष्ठ दिखलाई देती है वह सहृदय को मुग्ध करने की प्रबल क्षमता से सम्पन्न है। चारित्रिक जटिलताओं का भी मानस मे सर्वथा अभाव नहीं है। मथरा का चरित्र इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। फिर भी मानस में चरित्रविधानगत सौन्दर्य का मुख्य उत्स उसके पात्रों के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य न होकर शील-सविधान है। यही कारण है कि मानस का कठोर आलोचक भी कवि के शील-सविधान पर रीझ कर कह उठा है—'मानवीय सहृदयता के सबल चित्र देने मे तुलसीदासजी अद्वितीय हैं।'[1] मानस की असाधारण लोक प्रियता के मूल मे उसकी धार्मिकता के साथ पात्रों के चरित्र की शील सम्पन्नता भी है। राम, भरत, सीता, कौसल्या, दशरथ आदि की चारित्रिक उत्कृष्टता पर मानस का पाठक सदियों से मुग्ध होता आया है। मानस में प्रतिपक्ष के पात्रों के चरित्र की शक्ति भी नायक-पक्ष की उच्चता को उजागर करने के काम आई है; उसका अपना कोई वैसा आकर्षण नहीं है जैसा वाल्मीकि मे दिखलाई देता है। वस्तुत मानस के पात्र मानव-प्रकृति के द्वन्द्व की व्यावहारिक अभिव्यक्ति हैं जो सत असत-वर्णन में सैद्धांतिक रूप मे व्याख्यायित हुआ है। अतएव मानस के पात्रों का चारित्रिक सौन्दर्य सदसत् के सघर्ष मे असत् पर सत् की विजय के रूप में निखरा है। यह विजय मथरा के फुसलाने से बहकी हुई कैकेयी के मन्तव्य पर भरत के उत्सर्ग, कैकेयी की सकीर्णता के वैपरीत्य मे कौसल्या की उदारता, कैकेयी की चुनौती पर राजा दशरथ द्वारा प्राणों के मूल्य पर सत्य की रक्षा, कैकेयी के राज्य-लोभ के वैपरीत्य मे लक्ष्मण और सीता के त्याग तथा रावण की प्रबल सैन्य शक्ति के विरुद्ध धर्मरथ पर आरुढ राम की विजय के रूप मे मूर्तित हुई है। अयोध्याकाड मे मथरा और कैकेयी की क्षुद्रता एक ओर है और समस्त वातावरण की पवित्रतामयी उदारता दूसरी ओर। इस प्रकार असत् के वैपरीत्य मे सत् के प्रस्तुतीकरण द्वारा मानसकार ने अपने पात्रों की चरित्र-सृष्टि को अत्यन्त मुग्धकारी बना दिया है।

वाल्मीकि और तुलसीदास की चरित्र-विवृति-पद्धति भी भिन्न रही है। मानस-

---

[1] —डॉ० देवराज, प्रतिक्रियाएं, पृ० ८७

कार अपने पात्रों के प्रति उस अनासक्त आत्मीयता का निर्वाह नही कर पाया है जो वाल्मीकि रामायण मे दिखलायी देती है। अपने पात्रो के सम्बन्ध में मानसकार का पूर्वाग्रह अनेक स्थानो पर व्यक्त हुआ है और प्राय. वह उनके चरित्र की निन्दा-स्तुति भी अपनी ओर से करता है जिसके परिणामस्वरूप मानस के पात्रो के चरित्र-चित्रण पर कवि की संकीर्ण दृष्टि की छाया आद्यन्त मडराती रही है और उसके पात्रो का चरित्र एकांगी हो गया है। वाल्मीकि रामायण प्राय इस दोष से मुक्त है। यद्यपि वहाँ भी कवि की ओर से निन्दा प्रशंसा सूचक उक्तियाँ देखने को मिलती है, किन्तु काव्य के आकार के अनुपात मे उनकी संख्या अत्यल्प है और कवि दोनों पक्षों को अपनी सहानुभूति दे सका है। अतएव उसकी टिप्पणियो मे एक अनासक्तिपूर्ण समालोचना ही दिखलायी देती है, पक्षधरता नही। वाल्मीकि ने अपनी ओर से अपने पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध मे बहुत कम कहा है और मुख्यतया अपने पात्रों की उक्तियो और उनके आचरण से उनके चरित्र को व्यंजित होने दिया है। वाल्मीकि रामयण में अन्य पात्रो की टिप्पणियाँ भी किसी पात्र के चरित्र की प्रकाशक न होकर उनके अपने चरित्र की ही अभिव्यंजक हैं। उदाहरण के लिए भरत के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की सन्देहसूचक टिप्पणियाँ किसी भी प्रकार भरत के चरित्र के सम्बन्ध में विश्वसनीय नहीं हैं—उनके आधार पर सन्देह करनेवाले व्यक्ति के चरित्र का ही चित्र उभरता है, भरत के चरित्र का नही। मानसकर ने अपने पात्रो से केवल वही टिप्पणियाँ करवाई हैं जिनसे उसकी सहमति है, अन्यथा टिप्पणी कराने के उपरात तत्काल उसका प्रबल प्रतिवाद करवा दिया है।

वाल्मीकि रामायण और मानसकार की चरित्र-विधान प्रक्रिया का अन्तर मूलतः वस्तुपरक और व्यक्तिपरक दृष्टि का अन्तर है। वाल्मीकि ने वस्तुपरक दृष्टि के बल पर पात्रों के चरित्र की विशिष्टता सम्पन्न यथार्थ और जटिल सृष्टि की है जो अपनी जीवन्तता से हमें मुग्ध करती है। इसके विपरीत मानसकार ने विषयी-प्रधान दृष्टि की एकांगिता के बावजूद अपने पात्रों के चरित्र को शील-संयोजन से अद्भुत प्रभाव क्षमता से सम्पन्न कर दिया है जिस पर सदियो से मानस-मर्मज्ञ ही नही सामान्य जन भी मुग्ध होते आये हैं। इस प्रकार दोनों काव्यों के सौन्दर्य-विधान में उनकी चरित्र-सृष्टियो की उल्लेखनीय भूमिका रही है, जिसका महत्त्व उसकी सहृदय-रंजनकारी शक्ति मे निहित है।

४

रस-योजना एवं सांवेगिक सौन्दर्य

काव्य-सौन्दर्य का सर्वाधिक लोकप्रिय मानक उसकी रसवत्ता है। कथा-विन्यास की सूक्ष्मता और चरित्र-विधान की जटिलता का आस्वाद बहुसंख्यक सहृदयों की सामर्थ्य से परे होता है, किन्तु उसके सांवेगिक पक्ष का आस्वाद प्रायः जन-साधारण के लिए सुलभ होता है। इसके साथ ही काव्य की प्रभावी शक्ति भी प्रचुरांश में उसकी सरसता में निहित होती है। अपने सांवेगिक बल पर काव्य रस सहृदय के अन्तःकरण पर अधिकार कर लेता है। यही कारण है कि भारत एवं पश्चिमी देशों में काव्य के सांवेगिक पक्ष की शक्ति व्यापक रूप से स्वीकार की गई है।

सैद्धांतिक पीठिका

रस-दृष्टि की व्यापकता

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने तो कवित्व को रस में ही परिसीमित कर दिया है।[1] अन्य काव्य-सम्प्रदाय वालों ने भी रस के प्रति जो समादर व्यक्त किया वह भी काव्य-सौन्दर्य में रस के अपरिमित महत्ता का उद्घोषक है। ध्वनिवादियों ने रस-ध्वनि को सर्वोत्कृष्ट माना है[2] और वक्रोक्तिवादियों ने तो स्पष्ट ही कहा है कि काव्य की अमरता कथा-मात्र पर निर्भर न रहकर उसके रसोद्गारगर्भ सौन्दर्य पर अवलम्बित रहती है—

> निरंतर रसोद्गारगर्भसौन्दर्यनिर्भरा।
> गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥[3]

---

[1] वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। —साहित्यदर्पण, १/

[2] दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥
व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥ —ध्वन्यालोक, ४.४-५

[3] कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित, उन्मेष ४

यूरोपीय सौन्दर्य-चिंतन 'रस' सज्ञा से अपरिचित प्रतीत होता है, किन्तु वहाँ विभिन्न रूपो मे प्रकारातर से उसकी चर्चा अवश्य हुई है।[१] एडीसन ने काव्य की सावेगिकता को प्रभूत महत्व दिया है। उनकी मान्यता है कि जो कलाकृति सवेगोत्तेजना मे जितनी अधिक सक्षम होती है, वह उतनी ही अधिक आनन्दप्रद होती है।[२] हीगेल ने अहंजन्य व्यक्ति-सीमाओं से मुक्त सार्वजनीनता की उपलब्धि को काव्य का प्रयोजन कहकर प्रकारान्तर से साधारणीकरण को ही काव्य का ध्येय घोषित किया है[३] और एडवर्ड बलो ने काव्य-सर्जना के सामान ही काव्यास्वाद के के लिए भी मानसिक अन्तराल की अपरिहार्यता के रूप मे सत्वोद्रेक को काव्यास्वाद के लिए अनिवार्य सिद्ध किया है।[४] कहने की आवश्यकता नही कि सत्वोद्रेक और मानसिक अन्तराल रसास्वादन-प्रक्रिया का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग है।

इतना ही नही, काव्य-सौन्दर्य की आस्वादन-प्रक्रिया को लेकर यूरोप के सौन्दर्यशास्त्रियो ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे भी रसाभिव्यंजना से घनिष्ट रूप मे सम्बन्धित है। अरस्तु ने काव्यास्वादन मे यथार्थ जगत् का अतिक्रमण कर कल्पनाजन्य भ्रांत प्रत्यक्षीकरण तक ले जाने वाली ऐन्द्रियक उत्तेजना[५] के रूप मे विभावन-शक्ति की चर्चा की है जो सहृदय के चित्त को बहिर्जगत् से हटाकर काव्योन्मुख कर देती है, देशकाल की सीमाओ से मुक्ति और किसी सीमा तक 'प्रत्यय के साथ ऐकात्म्य[६] के रूप मे साधारणीकरण से मिलता-जुलता सिद्धात प्रतिपादित किया है जिसमे तादात्म्य और समाधि अवस्था का अन्तर्भाव हो जाता है।[७] प्लाटिनस ने काव्य-सौन्दर्य के आस्वादन का विचार करते हुए काव्यानन्द को 'पूर्ण' की सत्ता मे विलीन होने जैसा आनन्द कहकर उसे भारतीय काव्य-चिंतकों के समान एक प्रकार से ब्रह्मानन्द सहोदर माना है जो रस का ही एक विशेषण है। प्लाटिनस की शब्दावली 'अखण्डानन्द' तथा 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' के बहुत निकट है और इस प्रकार रसस्वरूप की व्याख्या करती प्रतीत होती है।[८] जार्ज सन्तायना का अभिव्यंजना-सिद्धात सहृदयगत संस्कारो पर बल देता हुआ काव्यास्वादन मे सहृदय के आत्मसाक्षात्कार की भूमिका की व्याख्या करता है।[९] इस प्रकार यूरोप मे रस-सिद्धात का क्रमबद्ध समग्र विवेचन भले ही कहीं एक

१—द्रष्टव्य—Dr K.C. Pendey, *Comparative Aesthetics, Vol. II.*
२—*Ibid.*
३—*Ibid, Hegel's views.*
४—Melvin Reader (edt.), *A Modern Book of Esthetics, p. 407-410.*
५ Dr. K.C Pandey, *Comparative Aesthetics, Vol II, p. 87.*
६—*Ibid.*
७—द्रष्टव्य—डॉ० निर्मला जैन, रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृ० १३७
८—द्रष्टव्य—Dr. K.C. Pandey, *Comparative Aesthetics, Vol. II,*
९—द्रष्टव्य—विषय-प्रवेश

साथ उपलब्ध न हो फिर भी उसकी सार्वेगिक प्रकृति, विभावन-व्यापार, साधारणीकरण-तादात्म्य, अखण्डानन्द-प्रकाश-चिन्मयरूपता तथा सहृदयगत संस्कारों के रूप में रसप्रक्रिया के विभिन्न अंगोपांगों का विचार अवश्य हुआ है।

रस-योजना : रस का वस्तुगत आधार

आस्वाद्य होने के नाते रस सहृदय-संवेद्य है और इसलिये रसानुभूति का सीधा सम्बन्ध सहृदय से है, किन्तु सहृदय हृदय में रसोद्बोध के लिए समर्थ उत्तेजक की सत्ता अनिवार्यतः आवश्यक है। रसानुभूति एकान्ततः आन्तरिक व्यापार नहीं है, काव्य-कृति के सन्निकर्ष से ही सहृदय के अन्तर में रसानुभूति होती है। इसलिए रस-निष्पत्ति प्रचुरांश में कृति-विशेष की रसोद्बोध-क्षमता पर निर्भर करती है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने रस-योजना के वस्तु-पक्ष के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए बहुत सही लिखा है—"भरत ने जो रस सूत्र में 'रस निष्पत्ति' शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ है रस-चर्वणा या उसकी अभिव्यक्ति। विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भावों में अलग-अलग तो कोई भी रस नहीं है, किन्तु इस सम्पूर्ण सामग्री में रस अभिव्यक्त अवश्य होता है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए ही उनकी उचित योजना की जाती है। अभिप्राय यह है कि माध्यम रस-प्रकाशक भले ही न हो किन्तु वे उसके आविर्भावक अवश्य होते हैं। इस प्रकार किसी वस्तु की अभिव्यक्ति उसकी आधारभूत सामग्री से ही सम्भव है। ऐसी दशा में उस सामग्री का स्वरूप निश्चित कर देने से ही उस वस्तु के सम्बन्ध में आन्वीक्षिक प्रत्यय उत्पन्न हो जाता है।"[1]

रस-योजना और सौन्दर्य-व्यंजना

आधारभूत सामग्री रस की आविर्भावक या उद्बोधक तो अवश्य होती है, किन्तु काव्य रस उस सामग्री में घिरा हुआ नहीं रहता। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-चिंतकों और सौन्दर्य-शास्त्रियों ने स्पष्टतः यह मत व्यक्त किया है कि काव्य-सौन्दर्य 'रूप' की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है—काव्य में जो व्यक्त हो रहा है उतना ही उसका सौन्दर्य नहीं है, वह उसके परे भी है। ध्वन्यालोक में इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए लिखा गया है कि काव्य-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ एक स्तर तक ही उपयोगी होते हैं, उसके आगे शब्दार्थ नहीं जाते, किन्तु काव्य-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उस अगले स्तर पर भी होती है, जहाँ शब्दार्थ एक विशिष्ट अर्थ को जन्म देकर स्वयं पीछे रह जाते हैं। काव्य-सौन्दर्य की इस अभिव्यक्ति को ही ध्वनि की संज्ञा प्रदान की गई है—

> यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
> व्यंक्तः काव्यविशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[2]

---

[1] —डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सौन्दर्य-तत्त्व, पृ० १०१-१०२

[2] —ध्वन्यालोक, १/१३

और ध्वनि के अन्तर्गत रसध्वनि को सर्वोत्कृष्ट मान कर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि रस का वस्तुगत आधार होते हुए भी वह वस्तु मे पूरी तरह व्यक्त नहीं होता, उससे परे भी रस व्याप्त रहता है।

वस्तुत काव्य-सौन्दर्य की यह अतिशयता उसके साधक उपादानो की समग्रता से उत्पन्न होती है। अंगप्रत्यंग की पारस्परिक सम्बन्धगर्भित समग्रता के प्रभाव से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥[1]

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र मे भी अनेक विचारकों ने बिलकुल यही बात कही है बामगार्टन के मतानुसार कवि जिन बिम्बो के माध्यम से अपनी बात कहता है वे स्पष्ट होने पर ही सहृदय के मन मे तदनुसारी बिम्बो की सृष्टि कर कवि के कथ्य को सम्प्रेषित कर सकते हैं, किन्तु उसमे कवि के आतरिक भावो की पूर्णता नहीं हो सकती। उसके द्वारा कवि के अन्तर्भाव केवल ध्वनित हो सकते हैं और वे शब्दो मे प्रकटित कथ्य से कहीं अधिक संकेत करते हैं।[2] काण्ट ने अभिधात्मक अभिव्यक्ति को सौन्दर्य-व्यंजना के लिए अस्वीकार करते हुए शब्दो मे अपरिभाष्य संकल्पना को कल्पना के वैविध्यमय व्यापार से उत्पन्न विभिन्न घटको की समग्रता मे व्यंजित होने पर उसे कला के अन्तर्गत स्वीकार करने की बात कही है—'सौन्दर्य प्रत्यय एक ऐसी निर्दिष्ट संकल्पना का प्रतिरूपण है जिसके साथ कल्पना के स्वच्छन्द व्यापार मे आंशिक प्रस्तुतियों का ऐसा वैविध्य (Multiplicity) बधा होता है कि जिसके लिए किसी सुनिश्चित संकल्पना को निर्दिष्ट करने वाली कोई भी शब्दावली नही पाई जा सकती—एक ऐसा (वैविध्य) जो उस कारण बहुत कुछ उस वस्तु द्वारा विचार मे किसी संकल्पना को अनुपूरित होने की स्वीकृति देता है जो शब्दो मे अपरिभाष्य है और जिसकी अनुभूति संज्ञान-शक्तियो (Cognitive faculties) को स्फुरित करती है।'[3] वस्तु-रूप भाषा के साथ अन्तरात्मा का सम्बद्धीकरण व्यंजना-व्यापार ही है क्योंकि व्यंजना मे प्रस्तुत सामग्री — वस्तु'—अन्तरात्मा के सन्निकर्ष मे सहृदयो के आनन्द का कारण बनती है—सौन्दर्य-बोध जगाती है। काण्ट ने जिसे वस्तु कहा है वह व्यंजक उपादानों का समवाय है जो काव्यानन्द का उद्दीपन पक्ष है और जिसे उन्होंने वस्तु और आत्मा का सम्बद्धीकरण कहा है वह वस्तुतः सौन्दर्यबोध प्रक्रिया ही है।

१—ध्वन्यालोक, १/४

२—Dr K.C. Pandey, *Comparative Aesthetics*, *Vol. II, p, 288-89*

३—इमैनुअल कांट, सौन्दर्य-मीमांसा, पृ० १३३

इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में काव्य-सौन्दर्य रूपातिशयी और व्यंग्य माना गया है और इसलिए वह व्यंजना-निर्भर भी माना जाना चाहिए। रूप का अतिक्रमण करते हुए भी रूप के सहारे ही वह सहृदय में संक्रमित होता है। काव्य-सौन्दर्य का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सशक्त प्रकार होने के नाते रस निष्पत्ति भी व्यंजक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। रस-योजना के लिए विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव की योजना पर्याप्त नहीं होती, उसकी व्यंजना परिस्थिति की समग्रता से होती है जिसके अन्तर्गत समग्र परिवेश के मध्य घटनाओं के घात-प्रतिघात के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की योजना और घनीभूत संवेदना का योगदान भी रहता है। काण्ट ने कल्पना के स्वच्छंद व्यापार में 'आंशिक प्रस्तुतियों के वैविध्य (Multiplicity)' की बात कह कर इसी ओर संकेत किया है।

रसानुभूति के विविध स्तर

भारतीय काव्यशास्त्र में रसानुभूति को काव्यास्वादन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय रूप मानते हुए भी रस की पारिभाषिक संकीर्णता के कारण उसकी निष्पत्ति बहुत सरल नहीं मानी गई है और इसलिए प्रत्येक काव्य में प्रत्येक स्थान पर रस-निष्पत्ति की संभावना नहीं रहती। रस-सम्प्रदाय के समर्थक पण्डितराज जगन्नाथ ने ही रस के पारिभाषिक स्वरूप की संकीर्णता पर आपत्ति करते हुए पारिभाषिक अर्थ में उसे काव्य का अवच्छेदक धर्म मानने में विश्वनाथ के मत से अपनी असहमति प्रकट की है—'यत्तु रसवदेव काव्यमिति साहित्यदर्पणे निर्णीतं तन्न। रसवदालंकारप्रधानानां काव्यानां अकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। महाकवि-सम्प्रदायस्य आकुलीभाव प्रसंगतः तथा च जलप्रवाहवेगपतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कोऽपि बालादि-विलोसितानि च। न च तत्रापि यथाकथंचित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येव इतिवाच्यम्। ईदृशो रसस्पर्शस्य गोश्चलति, मृगो धावति इत्यादौ प्रतिप्रसक्तत्वेन अप्रयोजकत्वात् अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वात्।'[1] पण्डितराज जगन्नाथ के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि रस के संकीर्ण रूप को काव्य का आधारभूत तत्त्व मानने में भारतीय आचार्यों को, बल्कि इस सम्प्रदाय के समर्थक आचार्यों को भी आपत्ति रही है और कदाचित् इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने कहीं अधिक व्यापक अर्थगर्भित शब्द—रमणीयता—को कवित्व का निकष माना है।

रस को काव्य का आधारभूत धर्म भले ही न माना जाये—ऐसी मान्यता समीचीन भी नहीं है—फिर भी उसकी लोकरंजनकारी शक्ति बहुत अधिक है और इसका कारण शायद यह है कि पूर्ण रूप में रस-निष्पत्ति न होने पर भी अन्य स्तरों पर

१—पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, पृ० २३ २४—(सम्पादक श्री बदरीनाथ झा और श्री मदनमोहन झा)।

रस सहृदय-संवेद्य रहता है। ये स्तर पूर्ण रसानुभूति से क्रमशः नीचे की ओर जाते हैं।

रसानुभूति मे रस-परिपाक से निचला स्तर रसाभाव है। जहाँ रस मे अनौचित्य हो, वहाँ रसाभास माना जाता है—

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः ।[1]

विश्वनाथ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किस रस मे किस प्रकार का अनौचित्य होने पर रस-परिपाक न हो पाने से रसाभास मानना चाहिए—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयया रतौ तथाऽनुभवनिष्ठयाम् ।।
प्रतिनायकनिष्ठयां तत्वदधमपात्रतिर्यगादिकौ ।।
शृंगारऽनौचित्य रौद्रे गुर्वादिगत कोपे ।।
शाते च हीनष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये ।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगत तथा वीरे ।।
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवान्यत्र ।।[2]

रसाभास मे केवल अनौचित्य को छोडकर रस-परिपाक की पूरी तैयारी रहती है, किन्तु रस-प्रक्रिया मे एक ऐसा स्तर भी होता है जहाँ केवल भावास्वाद ही हो पाता है, रसास्वादन नही। विश्वनाथ ने भाव का लक्षण देते हुए यह लिखा है कि कभी-कभी व्यभिचारी आदि के प्राधान्य पा जाने से, देव, मुनि, गुरु नृप, आदि के प्रति रति अथवा विभावादि के द्वारा अपरिपुष्ट होने से रस दशा तक न पहुँच सकनेवाला स्थायी भाव 'भाव' कहलाता है—

संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
उद्बुद्ध मात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि भाव का लक्षण-निर्धारण करते समय विश्वनाथ से एक आवश्यक बिंदु छूट गया है। प्रतिपक्ष के साथ सहृदय का तादात्म्य न होने के कारण प्रतिपक्ष के भावो की व्यजना रस-दशा तक नहीं पहुँच पाती है, क्योंकि सामान्यतया प्रतिपक्ष के साथ सहृदय का तादात्म्य नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था मे जब प्रतिपक्ष के भावो में अनौचित्य भी न हो तब उसे भी 'भाव' के अन्तर्गत मानना समीचीन होगा। उदाहरण के लिए वाल्मीकि रामायण मे मेघनाद-वध के अवसर पर रावण का पुत्र-शोक रावण के साथ तादात्म्य न हो पाने के कारण रस-दशा तक नहीं पहुँच पाता। पुत्र की मृत्यु पर रावण के शोक मे अनौचित्य का प्रश्न भी नहीं

---

[1] —विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण, अध्याय ३
[2] —वही, अध्याय ३
[3] —वही, अध्याय ३

उठता—इसलिए रसाभास नहीं माना जा सकता। यहाँ शोकस्थायी भाव उद्बुद्ध मात्र (रस परिपाक न होने से) है—अतएव ऐसे स्थलों को भी भाव के अन्तर्गत मानना समीचीन होगा। इससे निचला स्तर वह है जहाँ भाव-विशेष आरोपित, अयथार्थ या असम्भव प्रतीत होता है। इस स्तर को भावाभास की संज्ञा दी गई है—

भावाभासो लज्जादिकेतुवेश्यादिविषये ॥[1]

रस के सम्बन्ध में मानसकार का विशिष्ट दृष्टिकोण

रस की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण और मानस की तुलना करते समय इस बात को निरन्तर ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि वाल्मीकि रामायण मुख्य रूप से लौकिक धरातल पर अवस्थित है जबकि मानस में अनेक बार लौकिक धरातल का अतिक्रमण हुआ है और इसके साथ ही मानसकार का भक्ति के प्रति एक प्रबल आग्रह भी रहा है। मानस के आरम्भ में तुलसीदासजी ने इस सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण की स्पष्ट घोषणा की है। उन्होंने लौकिक रसों की तुलना में अलौकिक रस को अधिक महत्त्व दिया है—

जदपि कवित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं ॥[2]

'कवित रस एकउ नाहीं' से उनका अभिप्राय काव्य-रसों की एकान्त उपेक्षा प्रतीत नहीं होता उससे भक्ति रस की तुलना में उनके प्रति कवि की अवहेलना ही सूचित होती है क्योंकि उनके काव्य में इस उक्ति के वाच्यार्थ की पुष्टि नहीं होती। मानसकार अपने पाठकों से यह अपेक्षा करता है कि वे भक्ति-काव्य की दृष्टि से ही उसकी रचना का मूल्यांकन करें—

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी ॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही ॥[3]

× × ×

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ ॥[4]

× × ×

राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेसा ॥[5]

और इसलिए अन्ततः उन्होंने स्पष्ट शब्दों में मानस के काव्यास्वाद के लिए रसविशे

---

[1] १—विश्वनाथ साहित्य-दर्पण, अध्याय ३

[2] २—मानस, ९/४

[3] ३—वही, १/९/३

[4] ४—वही, १/११/४

[5] ५—वही, १/१३/१

से परिचय की अनिवार्यता पर बल दिया है जिसके अभाव में मानस के कवित्व का पूरा-पूरा आनन्द (रस) प्राप्त नहीं किया जा सकता—

रामचरित जे सुनत अघाहीं । रस बिसेस जाना तिन्ह नाहीं ।।[1]

मानस-रूपक के अन्तर्गत भी सीता-राम-यश-वर्णन को जल और 'नवरस' को जलचर कहा गया है—

रामसीय जस सलिल सुधा सम । उपमा बीचि बिलास मनोरम ।[2]
× × ×
नवरस जप तप जोग बिरागा । ते सब जलचर चारु तड़ागा ।।[3]

मानसकार के रस-विषयक इस दृष्टिकोण को दृष्टिपथ में न रखने के कारण कतिपय मनस्वी समीक्षकों ने भी उसके कवित्व की तीखी आलोचना की है और वाल्मीकि रामायण की तुलना में उसके कवित्व के सम्बन्ध में बड़ी निराशा प्रकट की है ।[4] किसी भी कवि के अपने दृष्टिकोण को अपने समक्ष न रखकर उसके काव्य पर विचार करने से उसके साथ न्याय करने की सम्भावना बहुत कम रह जाती है । अतएव मानस के सौन्दर्य-विधान को कवि के मन्तव्य के साथ रखकर देखना अधिक समीचीन होगा । तुलसीदास की रस-योजना को वाल्मीकि के साथ रखकर देखते समय उनके अपने विशिष्ट दृष्टिकोण का विचार कर लेने से अधिक सन्तुलित निष्कर्ष पर पहुँच सकना सम्भव प्रतीत होता है ।

भक्ति की तुलना में नवरस के प्रति मानसकार के उपेक्षा-भाव को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पहले भक्ति-रस की दृष्टि से वाल्मीकि और मानस की तुलना कर ली जाए जिससे इस सम्बन्ध में दोनों कवियों की रस-दृष्टि का विभेद स्पष्ट हो जाए क्योंकि वाल्मीकि ने अपनी ओर से किसी रस के प्रति ऐसा प्रबल आग्रह व्यक्त नहीं किया है और इसलिये मानसकार से वाल्मीकि की रस दृष्टि का अन्तर मानसकार के अपने सर्वाधिक प्रिय रस की तुलना में उनकी रस-योजना को रखकर देखने से ही स्पष्ट हो सकता है ।

भक्ति-रस

वाल्मीकि रामायण में कतिपय स्थलों पर अवतारादि का उल्लेख मिलता है और विष्णु के प्रति देवताओं की स्तुति आदि का वर्णन भी है ।[5] विद्वानों ने

१—मानस ७।५२।१

२—वही, १।३६।२

३—वही, १/३६।५

४—द्रष्टव्य डा० श्रीकृष्णलाल कृत मानस दर्शन और डा० देवराज के 'प्रतिक्रियाएं' नामक निबन्ध संग्रह में 'रामचरितमानस : पुनर्मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध ।

५—वाल्मीकि रामायण, १।१६ १७, १।२९, २।१०, ३।३१ आदि ।

ऐसे स्थलों को प्रक्षिप्त माना है।[1] इन प्रसगो मे भी भक्ति का उन्मेष बहुत कुछ स्तुतिपरक है, उसमे सावेगिक शक्ति का अभाव-सा है। वाल्मीकि रामायण मे भक्ति का उपस्थापन अभिधात्मक ही रहा है, व्यजना के स्तर तक नही पहुँच पाया है। उसमे इतनी शक्ति नही है कि उसके साथ सहृदय-हृदय का तादात्म्य हो सके और इसलिये वह साधारणीकरणक्षम भी नही है। देवादिविषयक रति और साथ ही स्थायी भाव उद्बुद्धमात्र होने से वाल्मीकि रामायण मे भक्ति भाव-दशा तक ही रही है—रस-दशा तक नही पहुँच पाई है।

मानस मे बहुरगी भक्ति रस

मानसकार ने भक्ति को अपने काव्य का आधार बनाया है और इसलिये उसे रस दशा तक पहुँचाने की पूरी चेष्टा की है। इस चेष्टा मे उन्होने एक ओर भक्ति को उसके बहुमुखी रूप मे ग्रहण किया है तो दूसरी ओर उसका लौकिक भावो के साथ अधिकाधिक सामंजस्य करने का प्रयत्न किया है।

अद्भुतमूलक भक्ति-रस

मानस मे भक्ति की बहुमुखी छटा देखने को मिलती है। सती-मोह के साथ ही भक्ति के अद्भुत रूप का बीज पड जाता है। इसी अद्भुतमूलक भक्ति की अभिव्यक्ति कौसल्या-व्यामोह के प्रसग मे की गई है। खरदूषण वध और काकभुशुंडि के आत्मचरित-वर्णन के अवसर पर भी भक्ति का अद्भुतमूलक पक्ष ही सामने आता है। उपर्युक्त प्रसगो मे राम के व्यक्तित्व की अद्भुतता से अभिभूत कर उनके ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा कवि का उद्देश्य रहा है और श्रद्धालु पाठक उक्त प्रसगों से अभिभूत होकर जब राम की अद्भुतता पर मुग्ध होने लगते हैं तब कवि की भक्ति-भावना से तादात्म्य की सिद्धि के साथ राम-भक्ति का साधारणीकरण हो जाने से भक्ति-भाव रस-रूप मे निष्पन्न हो जाता है। तुलसीदास जी के अनेक समीक्षको ने इन प्रसगो को अद्भुत रस के अन्तर्गत माना है,[2] किन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ अद्भुत भक्ति रस का पोषक है, स्वतन्त्र रस नही। कवि का प्रयोजन राम की अद्भुतता के प्रदर्शन द्वारा उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना है और वह इसमे सफल रहा है।

१—द्रष्टव्य—डॉ० कामिल बुल्के, रामकथा : उद्भव और विकास, पृ० १२९-१३७।

२—(क) डा० भाग्यवती सिंह, तुलसी की काव्य कला, पृ० ३६१-३६४।

(ख) डा० विद्या मिश्र, वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ६२१।

(ग) डा० राजकुमार पाण्डेय, रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन, पृ० २९५।

(घ) पं० रामनरेश त्रिपाठी, तुलसीदास और उनकी कविता, भाग दो, पृ० ८१५ १७।

अनुरक्तिमूलक भक्ति-रस

आश्चर्य के समान रति से भी मानस में भक्ति-रस का पोषण हुआ है और इसके लिये तुलसीदासजी ने प्राय राम के सौन्दर्यातिशय का अवलम्ब ग्रहण किया है। मानसकार ने राम के अलौकिक सौन्दर्य का उपयोग उनके प्रति मनुष्यों की ही नहीं, देवताओं की भक्ति के उद्बोधन के लिये भी किया है। उन्होंने राम के अद्भुत रूप पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी मुग्ध दिखलाया है —

> संकर राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे॥
> हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥
> निरखि राम छबि बिधि हरषाने। आठइ नयन जानि पछिताने॥
> सुर सेनप उर बहुत उछाहू। बिधि ते डेवढ़ लोचन लाहू॥
> रामहि चितव सुरेश सुजाना। गौतम श्रापु परम हितु माना॥
> देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥[1]

परम विरागी राजा जनक के मन में भी राम के सौन्दर्य को देखकर अनुराग उत्पन्न हो जाता है —

> सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
> ×　　　　　×　　　　　×
> इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥[2]

इतना ही नहीं, प्रतिपक्षियों तक को मानसकार ने राम के सौन्दर्य पर मुग्ध दिखलाया है। कट्टर क्षत्रिय-विरोधी परशुराम भी राम को देखते ही रह जाते हैं। खर-दूषणादि राक्षस भी, जो राम पर आक्रमण करने आते हैं, उन्हें देखते ही रह जाते हैं, किन्तु वहाँ राम के सौन्दर्य के प्रति राक्षसों की यह अनुरक्ति परिस्थिति एवं अवसर के प्रतिकूल होने के कारण आरोपित-सी प्रतीत होती है और इसलिये वहाँ राक्षसों की भक्ति रस-स्तर तक न पहुँचकर भावाभास के स्तर तक ही रह जाती है, किंतु अन्य दो प्रसंगों में उनके रूप के अलौकिक प्रभाव की व्यंजना के माध्यम से कवि ने रति पुष्ट भक्तिरस की व्यंजना की है।

वात्सल्यमूलक भक्तिरस

तुलसीदास जी ने वात्सल्य का उपयोग भी भक्ति-रस की पुष्टि के लिये किया है। दशरथ का वात्सल्य शुद्ध वात्सल्य नहीं है, वह भक्तिरस के साथ मिश्रित है और कुछ स्थलों पर तो वह भक्ति का अंग ही बन गया है। राजा दशरथ

---

[1] —मानस, १।३१६।१-४।

[2] —१।२१५।२ ३।

राम को विश्वामित्र को सौंपने में हिचकिचाहट प्रकट करते हैं तो विश्वामित्र उनके इस पुत्र-प्रेम को भक्ति के रूप में देखते हैं—

सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी। हृदय हरष माना मुनि ग्यानी ॥[1]

इस प्रसंग में वात्सल्य और भक्ति परस्पर अंतर्लीन हो गये हैं। दशरथ की मृत्यु के अवसर पर भी लेखक ने जो भाव व्यंजना की है उसमें भी वात्सल्य और भक्ति इसी प्रकार अंतर्मिश्रित हैं। 'राम-राम' कहना एक ओर मृत्यु-समय रामनामोच्चारण की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर पुत्र-वियोग में तड़पते हुए दशरथ के द्वारा पुत्र-स्मरण सूचित करता है —

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ, राउ गयउ सुरधाम ॥[2]

युग्म-रूप में रामनामोच्चारण मृत्यु-समय के ईश्वर-चिंतन के रूप में प्रतीत होता है और एक बार राम कहना पुत्र-स्मरण की ओर संकेत करता जान पड़ता है। राजा दशरथ का पुत्र-स्नेह उनकी भक्ति का अंग था—ऐसा उल्लेख मानस में एक स्थान पर मिलता अवश्य है —

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना।
ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो ॥[3]

किन्तु प्रसंग की समग्रता में राजा दशरथ का पुत्र-स्मरण एकांततः भक्ति-रस का अंग नहीं माना जा सकता। कौसल्या का वात्सल्य भक्ति का अंग नहीं है। राम के ईश्वरत्व से वे अवगत अवश्य हैं, किन्तु उनका वात्सल्य भक्ति के साथ मिल नहीं पाया है —

जगत पिता मैं सुत करि जाना।[4]

और इसलिये कौसल्या को भक्ति की ओर प्रेरित करने के लिये कवि ने अद्भुत रस का प्रयोग किया है।

दास्यमूलक भक्ति रस

दास्य भाव के सम्बन्ध से भी मानसकार ने भक्तिरसपूर्ण प्रसंगों की सृष्टि की है। लक्ष्मण, भरत, सुग्रीव-अंगद-हनुमान और विभीषण की भक्ति-भावना

---

[1] —मानस, १।२०७।५।
[2] —वही, २।१५५।०।
[3] —वही, ६।११।३।
[4] —वही, १।२०१-४।

प्राय दास्य भक्ति के रूप मे व्यक्त हुई है। इनमे से भरत और लक्ष्मण की भक्ति-भावना भ्रातृ स्नेह के साथ अंतर्मिश्रित है जबकि अंतिम चारो व्यक्तियो की भक्ति शुद्ध दास्य भक्ति है।

प्रश्न यह है कि क्या यह दास्य भक्ति-रस कोटि मे आ सकती है ? क्या वह रस परिपाक की स्थिति तक पहुँच सकी है ?

भरत और लक्ष्मण की भ्रातृत्व-मिश्रित भक्ति को शुद्ध भक्ति-रस के अन्तर्गत मानना उचित प्रतीत नही होता। लक्ष्मण का यह कथन —

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥
मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीन बन्धु उर अंतरजामी॥[1]

अंतिम शब्दों के आधार पर जितना भक्ति-व्यंजक है, प्रसंग की समग्रता मे रखकर देखने पर उतना ही भ्रातृत्व-व्यंजक भी है। यह मानना अधिक उचित होगा कि उक्त प्रसंग में भ्रातृत्व का पर्यवसान भक्ति मे हुआ है—अतएव यहाँ भ्रातृत्व पुष्ट भक्ति रस माना जा सकता है। राम के प्रति भरत का अनुराग भी इसी प्रकार भ्रातृत्वमिश्रित भक्ति का रूप ले लेता है। वे प्राय: राम को स्वामी और अपने आपको उनका सेवक[2] मानते हुए एकाध स्थान पर राम के लिये 'दीनबन्धु' आदि शब्दो का प्रयोग करते हैं जिससे *ऐश्वर्य बोध के साथ राम की अलौकिकता के प्रति उनकी आस्था व्यक्त* होती है[3], लेकिन सन्दर्भ की समग्रता मे भ्रातृत्व की अभिव्यक्ति अक्षुण्ण रहने से यहा भ्रातृत्वपुष्ट भक्ति-रस मानना समीचीन होगा।

सुग्रीव, अंगद और हनुमान की भक्ति सम्यक् रूपेण व्यंजितनहीं हुई है। वटु-वेश मे राम के सम्बन्ध मे जानकारी पाने के प्रयोजन से आये हनुमान का एकाएक भक्तिभाव से भर जाना, इसी प्रकार सुग्रीव की मैत्री का एकाएक दास्य में रूपांतरित हो जाना आदि भावायें व्यवहारीय वातावरण की सहज परिणति के रूप मे व्यक्त न होकर आरोपित सी प्रतीत होती हैं। अतएव वहाँ भक्ति रस निष्पन्न नहीं हो सका है। सम्यक् विभावन के अभाव मे भक्ति स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर ही रह गया है—*अतएव यहाँ भक्ति भाव स्तर तक ही रही है।*

१— मानस, २।७१।२-३।

२—वही, २।२६८ ६९

३—प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी॥
सरल सुसाहिबु सील निधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥—वही, २।२९७।१

भयमूलक भक्ति

मानस मे भयमूलक भक्ति के दर्शन भी होते है। जयन्त और मन्दोदरी की भक्ति इस प्रकार की है। भक्ति अनुरक्तिमूलक रस है और इसलिये भयानक से उसका सहज विरोध है।[1] जयन्त-प्रसंग में भयानक की प्रबलता से भक्तिरस दब गया है। इसके विपरीत मन्दोदरी की भक्ति में भय का अंश क्षीण और राम के ईश्वरत्व की चेतना प्रबल होने से राम के प्रति निरंतर अनुरक्ति बनी रही है, फिर भी भक्ति के रूप में मन्दोदरी की प्रतिनायकनिष्ठ अनुरक्ति (मन्दोदरी के लिये राम प्रतिनायक हैं) व्यक्त होने से उनकी भक्ति रसाभास के रूप मे व्यक्त हुई है। मन्दोदरी की प्रतिनायकनिष्ठा रावणवध के उपरान्त उसके विलाप में चरम सीमा पर पहुँची हुई प्रतीत होती है। राम के प्रति शत्रु-पत्नी की यह अनुरक्ति यथार्थ प्रतीत नहीं होती। इसलिये यह भावाभास के स्तर तक ही पहुँच पायी है। इसी प्रकार रावण की राम भक्ति भी शत्रु-भाव से दब जाने के कारण रस-रूप मे व्यक्त नहीं हो सकी है।

शांतपुष्ट-भक्ति-रस

मानस मे एक स्थान पर शांतपुष्ट भक्तिरस की बड़ी सुन्दर योजना दिखलाई देती है। राम जब वाल्मीकि से नये निवास-स्थान के सम्बन्ध में निर्देश माँगते हैं उस समय ईश्वर-निवास के सम्बन्ध में वाल्मीकि जो उत्तर देते हैं वह दास-भाव समन्वित ईश्वरानुरक्ति से पूर्ण होने के कारण शांत-समन्वित भक्ति रस का बहुत सुन्दर उदाहरण बन गया है।[2]

वाल्मीकि रामायण मे राम भरद्वाज से यही प्रश्न पूछते हैं, किन्तु वहाँ भरद्वाज सहज भाव से चित्रकूट-निवास का परामर्श देते हैं। मानसकार ने वैदग्ध्यपूर्वक इस प्रसंग को शांत-समन्वित भक्ति-रस से आप्लावित कर दिया है।

मानस मे भक्ति-रस की व्यापकता और विविधरूपता बहुत अधिक है। वह अनेक स्थलों पर रति, वात्सल्य, भ्रातृत्व, भय आदि लौकिक मनोभावों से पुष्ट हुआ है और कहीं-कहीं लौकिक मनोभावों से भक्ति का विरोध भी हुआ है। भावाभास से लेकर रस-परिपाक तक उसके अनेक स्तर मानस मे दिखलाई देते हैं। मानस में भक्ति रस की इस व्यापकता एवं प्रबलता को देखते हुए इस क्षेत्र मे वाल्मीकि रामायण की उससे कोई समता दिखलाई नहीं देती क्योंकि वहाँ भक्ति भाव-स्तर से ऊपर नहीं पहुँच सकी है।

शृंगार रस

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों शृंगार-रसपूर्ण प्रसंगों का

१—द्रष्टव्य-विश्वनाथ कृत साहित्य-दर्पण, तृतीय अध्याय में रस विरोध सम्बन्धी विचार

१—मानस, २।२२७।२—१३।

समावेश है, किन्तु दोनो की शृंगार-रस-योजना मे किंचित् अंतर है जिसका कारण वाल्मीकि और तुलसी की स्वतंत्र काव्य-सृष्टि के साथ रामकाव्य-परम्परा के विकास मे भी निहित है।

रामायण मे अत्यंत सीमित संयोग शृंगार

वाल्मीकि ने धनुष यज्ञ का प्रसग अत्यत साधारण रूप मे उपस्थित कर उसका उपयोग शृंगार-रस की निष्पत्ति के लिये नही किया है। धनुर्भंग तक सीता की अनुपस्थिति तथा राम के प्रति जनक-पक्ष की आत्मीयता को कोई अभिव्यक्ति न होने से वाल्मीकि का यह प्रसंग, जिसका उपयोग परवर्ती कवियो ने शृंगार-रसपूर्ण हृदयग्राही स्थिति-सर्जना के लिये किया है, शृंगार रस से असम्पृक्त रहा है। वहाँ रीति की प्रथम अभिव्यंजना राम के वन-गमन के अवसर पर उनके साथ चलने के लिये सीता के आग्रह मे हुई है लेकिन उस प्रसग को शुद्ध सयोग शृंगार का उदाहरण मानना कठिन है क्योकि वहाँ रति की अभिव्यक्ति होने हुए भी समग्र परिदृश्य की करुणा से वह प्रसग घिरा रहा है। राम द्वारा सीता को साथ न लिये जाने की आशका और उनके हठ की व्यजना उस तनावपूर्ण परिस्थिति-सकटपूर्ण परिदृश्य का अग बन कर हुई है और इसलिए वहाँ रति स्थायी भाव समग्र वातावरण मे परिव्याप्त शोक के रंग को और गहरा कर देता है। उसमे सीताराम-रति विलास-व्यजक न होकर एक सकट (साथ ले चलने—न ले चलने) का कारण बन जाती है। इस प्रसग मे सयोग तो नाम मात्र का है—सीता और राम का भौतिक सान्निध्य आसन्न वियोग की आशका के समक्ष उभर नही पाया है—अतएव इस प्रसग को सयोग शृंगार के अन्तर्गत मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता। यहाँ रति स्थायी भाव शोक का उपकारक दिखलायी देता है।

वन में सीता राम के साहचर्य-तोष क वर्णन मे रति की हल्की-सी व्यंजना हुई है। इस अवसर पर निर्वासन के सम्बन्ध मे राम की औचित्यीकरण प्रवृत्ति के ससर्ग मे सीता के प्रति उनका रतिभाव व्यक्त हुआ है। यह रति भाव औचित्यीकरण का एक अग मात्र है। अतएव वहाँ भी स्वतन्त्र रूप से सयोग शृंगार की अभिव्यक्ति मानना उचित नहीं होगा। इस औचित्यीकरण प्रक्रिया मे राज्य के प्रति राम की अनासक्ति ही मुख्य रूप से व्यक्त हुई है। अतएव यहाँ शात रस की अभिव्यक्ति होगी। रति निर्वेद स्थायी भाव के अन्तर्गत व्यभिचारी मात्र रहा है। इस प्रसग को शृंगार-व्यजक मानकर समीक्षको ने भूल की है।[1]

---

[1] —द्रष्टव्य—डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० ३२३
—डॉ० विद्या मिश्र, वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन पृ० ६२०

यद्यपि आचार्यों ने शांत और शृंगार तथा करुण और शृंगार में परस्पर विरोध माना है,[1] फिर भी वाल्मीकि के काव्य में शांत और करुण दोनों में अंगरूप में रति का सफलतापूर्वक एवं अत्यन्त स्वाभाविक समावेश हुआ है। संकट की चेतना में साहचर्य कामना और वियोगाशंका ने—जो रति के अंगभूत भाव हैं—और भी अधिक तीक्ष्णता उत्पन्न करदी है।[2] इसी प्रकार सीता के सान्निध्य में प्रकृति-भोग की तुलना में राज्य-लाभ की तुच्छता का बोध बहुत ही स्वाभाविक एवं हृदय-स्पर्शी ढंग से राज्य के प्रति राम की विरक्ति से जुड़ गया है।[3] ऐसी स्वाभाविक एवं प्रभावशाली स्थिति में शांत और शृंगार तथा करुण और शृंगार का विरोध घुल कर बह गया है। यदि काव्यशास्त्र इस प्रकार के विरोध परिहार को स्वीकार नहीं करता तो यह उसकी सीमा है जो प्रतिभा को उसकी समग्रता में बाँध नहीं पाती।

अरण्यकाण्ड में खर दूषण वध के उपरान्त सीता द्वारा राम के आलिंगन तथा ऋषियों से राम की प्रशंसा सुनकर उनके हर्षित होने के उल्लेख में वीर रस के संसर्ग में संयोग शृंगार की एक हलकी-सी झलक मिलती है। दोनों भिन्न रस हैं और वाल्मीकि ने दोनों की इस भिन्नता का उपयोग बड़े उपयुक्त रूप में किया है। यहाँ शृंगार से वीर को बल मिला है।

वास्तविकता यह है कि वाल्मीकि रामायण में रति के संयोग-पक्ष की अभिव्यक्ति बहुत सीमित है और जहाँ यह अभिव्यक्ति हुई भी है वहाँ परिदृश्य की समग्रता में वह अंग मात्र बनकर रह गई है अथवा उसकी प्रधानता के समक्ष गौण पड़ गई है। यद्यपि खर दूषण-वध के उपरांत संयोग शृंगार के लिए अनुकूल परिस्थिति उपलब्ध हुई है फिर भी वह वहाँ वीर का सहायक ही प्रतीत होता होता है। वीररस पूर्ण प्रसंग में शृंगार के लिए बहुत कम स्थान दिया गया है। फलत. मैत्री भाव के बावजूद वीर के समक्ष शृंगार गौण ही रहा है।

मध्यवर्ती रामकाव्य की देन

वाल्मीकि के परवर्ती रामकाव्य ने राम-कथा के मध्य संयोग शृंगार के लिये प्रचुर अवकाश निकाल लिया। प्रसन्नराघव में पूर्वराग की कल्पना में एक बड़े ही मधुर प्रसंग की सृष्टि की गई[4] और हनुमन्नाटक में विवाहोपरान्त सीता-राम के

१—द्रष्टव्य—आचार्य विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, अध्याय ३

२—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग—२६ से ३०

३—वही, २।९५

४—द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० १०४

संयोग शृंगार का अत्यंत उत्तेजक चित्रण किया गया।[1] मानसकार ने अपने काव्य में प्रसन्नराघव की पूर्वराग कल्पना को परिष्कारपूर्वक ग्रहण किया और हनुमन्नाटक का उत्तेजक शृंगार चित्रण अपनी मर्यादावादी दृष्टि के कारण छोड़ दिया।

मानस में प्रयोग (पूर्वराग) शृंगार

पूर्वराग-प्रसंग में मानसकार की शृंगार योजना अपूर्व है। उसने प्रसन्नराघव के समान काम चेष्टाओं विशेषकर हाव योजना—को छोड़कर उसके स्थान पर सात्विक मनोभावों को स्थान दिया है। मानस में पुष्पवाटिका में सीताराम का प्रथम आकर्षण मुख्य रूप से मानसिक स्तर पर रहा है। आकर्षण और संकोच के द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप रति स्थायीभाव की अभिव्यक्ति निर्मर्यादित होने से बची रही है, साथ ही एक तीव्र तनाव के समावेश से उसकी सजीवता भी बहुत बढ़ गई है —

> गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ बिलम्ब मातु भय मानी॥
> धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जाने॥
>
> देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
> निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥[2]

इसके साथ ही धनुष की कठोरता के कारण इस प्रथम आकर्षण के चिर संयोग में परिणत न हो पाने की आशंका से सीता के हृदय में जिस द्वन्द्व का उदय दिखलाया गया है उससे भी सीता का अनुराग बड़े तनावपूर्ण एवं सजीव रूप में व्यक्त हुआ है। सीता की मुग्धता[3] ने इस प्रसंग में उनकी अनुरक्ति को बहुत सघन बना दिया है। अवरोधपूर्ण आकर्षण से परिपूर्ण सीता की अनुरक्ति से यह प्रसंग संयोग शृंगार का एक उत्कृष्ट स्थल बन गया है।

इसी प्रकार राम का सीता के प्रति आकर्षण भी मानसकार ने द्वन्द्वपूर्ण रूप में अंकित कर रति की उभयपक्षीय तीव्रता का निर्वाह किया है। राम का सीता के प्रति आकर्षण उनके वंशपरम्परागत सहज मर्यादित आचरण के विरुद्ध प्रतीत होता है। इस मर्यादा चेतना से सीता के प्रति राम की मुग्धता में तीव्रता के साथ एक प्रकार की सात्विकता भी आ गई है जो विश्वामित्र के समक्ष राम की आत्मस्वीकृति से और भी सात्विक हो गई है।

इस मधुर प्रसंग में तुलसीदास जी ने दृष्टि-अनुभाव का अत्यन्त व्यंजनापूर्ण

१—हनुमन्नाटक, द्वितीय अंक

२ मानस, १।२३३। २३४

३—लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हेउ पलक कपाट सयानी॥ -मानस, १।२३१/७

प्रयोग किया है जो मनोविज्ञान-समर्थित है।[1] सीता के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर राम द्वारा उन्हें निनिमेष दृष्टि से देखे जाने[2] और सीता द्वारा मृग, विहग और वृक्षों को देखने के बहाने ससंकोच बार-बार राम को देखने का प्रयत्न किया जाने में उभयपक्षीय आकर्षण की अत्यन्त प्रभावशाली व्यंजना हुई है।[3]

इस द्वन्द्वपूर्ण शृंगार-व्यंजना को मानसकार ने धनुष-यज्ञ के अवसर पर और अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है। नवोदित प्रणय के स्थायित्व का क्षण जैसे जैसे निकट आता जाता है वैसे वैसे सीता की उत्कंठा बढ़ती जाती है। इस अवसर पर उत्कंठा व्यभिचारी भाव ने रति स्थायी भाव को बड़ी शक्ति प्रदान की है। सीता की उत्कंठा की व्यंजना उनकी उन प्रार्थनाओं के माध्यम से की गई है जो वे कभी महेश-भवानी से करती हैं[4] तो कभी गणेशजी से[5] और कभी स्वयं शिव-धनुष से।[6] गुरुजनों के मध्य भरी सभा में लज्जा का अवरोध और भी प्रबल होकर व्यक्त हुआ है और इस प्रकार पुष्पवाटिका की तुलना में यहाँ दोनों विरोधी संवेगों—आसक्ति और लज्जा—को अधिक प्रबल दिखलाकर द्वन्द्व और भी तीव्र बना दिया गया है और इस द्वन्द्व की अभिव्यक्ति हुई है प्रबल उत्कंठा के रूप में।

सीता की इस उत्कंठा में जनक की हताशा और सुनयना की चिन्ता से और भी निखार आ गया है—इसके आवेग में वृद्धि हुई है और साथ ही एक प्रकार की सात्विकता भी आ गई है क्योंकि सीता की उत्कंठा अन्य व्यक्तियों की उत्कंठा (जो काममूलक नहीं है) के साथ मिल गई है।

दूसरी ओर राम का आश्वस्ततापूर्ण आचरण है जो एक ओर जनकपक्ष की व्यग्रता के विपरीत होने के कारण तथा दूसरी ओर लक्ष्मण के अधृतिपूर्ण अमर्ष के वैपरीत्य के कारण इस शृंगार-प्रकरण को भव्य रूप प्रदान करता है। धनुष-भंग की तत्परता के साथ ही इस प्रसंग में शृंगार के स्थान पर वीर रस आरम्भ हो जाता है, परन्तु धनुर्भंग तक शृंगार भी चलता रहता है। वस्तुतः धनुर्भंग के लिये राम की तत्परता के क्षणों में शृंगार और वीर एकाकार हो गये हैं। धनुष उठाने से पूर्व राम प्रेमपूर्ण दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं —

---

[1] मनुष्यों में प्रेम सौन्दर्य के निरन्तर अवलोकन के रूप में होता है।

—हैवलाक एलिस, यौन-मनोविज्ञान, पृ० ७०

[2] भये विलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल—मानस, १।१२९।२

[3] द्रष्टव्य : डा० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ६३

[4] मानस, १।२५६।३

[5] वही, १।२५६।४

[6] वही, १।२५७।३-४

प्रभु तन चितइ प्रेम पन ठाना। कृपा निधान राम सब जाना॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड लघु ब्यालहि जैसे॥[1]

× × ×

देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तड़ागा॥
का बरषा जब कृषी सुखाने। समय चुकें पुनि का पछितानें॥
अस जियँ जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी।[2]

संयोग शृंगार

राम वनगमन के प्रसंग में मानस में वातावरण वाल्मीकि के समान संकट-पूर्ण न होने से और साथ चलने के लिये सीता के अनुरोध में आग्रह और आक्रोश के स्थान पर प्रणय कातरता के आधिक्य के कारण यहाँ शृंगार रस करुणा से दबा नहीं है। मानस के इस प्रसंग में वह करुण का सहायक मात्र न रहकर बहुत अंशों में स्वतन्त्र रस के रूप में व्यक्त हुआ है। इसे संयोग वियोग शृंगार का संधि-स्थल मानना अधिक उचित होगा क्योंकि भौतिक संयोग के बावजूद मानसिक वियोग की छाया इस प्रसंग पर मंडरा रही है।

हनुमन्नाटक का अनुसरण करते हुए वनमार्ग में ग्रामवधुओं के प्रश्न के उत्तर में सीता की व्रीडा[3] का चित्रण कर कवि ने शृंगार की हल्की-सी छटा दिखलाई है जो लज्जा के प्राधान्य के कारण भाव-स्तर तक ही रही है।

खरदूषण वध के उपरांत राम के पराक्रम पर सीता की मुग्धता कवि ने दृष्टि अनुभाव से व्यक्त की है जो वाल्मीकि की तुलना में अधिक संयत होने पर भी शृंगार व्यंजना में उतनी ही सशक्त है। वाल्मीकि के समान मानस में भी इस प्रसंग में शृंगार से वीर रस को बल मिला है।

वियोग शृंगार

वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस दोनों में ही वियोग शृंगार के लिये अधिक अवकाश रहा है और लगभग एक समान प्रसंगों में वियोग शृंगार की व्यंजना हुई है, फिर भी दोनों कवियों की प्रतिभागत एवं रुचिगत भिन्नता के परिणामस्वरूप उनकी वियोग शृंगार योजना में सूक्ष्म अंतर रहा है।

---

[1] —मानस, १।२५८।४

[2] —वही, १।२६०।१-

[3] —बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥
—मानस, २,११६।३-४।

दोनों काव्यो मे वियोग शृंगार का प्रथम स्थल सीताहरण के उपरात राम-विलाप का प्रसंग है। वाल्मीकि ने अपनी काव्य-प्रवृत्ति के अनुसार राम के विलाप का विस्तृत चित्रण किया है और उसमे अनेक भावो का उत्थान-पतन बड़ी सूक्ष्मता के साथ अंकित किया है। मारीच वध के तुरत बाद सीता को अकेली छोड़कर लक्ष्मण को आते देखकर ही राम का मन आशंका से उद्वलित हो जाता है और वे लौटते हुए मार्ग पर विचलित-से रहते हैं। इस अवसर पर महर्षि वाल्मीकि ने राम के उद्वेलन का बड़ा सजीव चित्रण किया है जो लक्ष्मण के प्रति कहे गये राम के एक एक शब्द से व्यक्त होता है। लक्ष्मण के मौन से राम की व्याकुलता और भी बढ़ जाती है जो राम के इन शब्दो मे स्पष्ट झलक रही है—"लक्ष्मण बोलो तो सही, सीता जीवित भी है या नही ?"

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवित वा न वा ।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥[1]

कुटी में सीता को न पाने पर राम की बेचैनी और उन्हे खोजने मे राम की भाग-दौड़ (सभ्रम) का चित्रण कर राम की छटपटाहट को कवि ने मूर्त बना दिया है—

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपन् रघुनन्दन: ।
तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्तत. ।
ददर्श पर्णशालां च सीतया रहितां तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मनीमिव ॥[2]

और उसके बाद राम के उन्माद का वेग वियोग-चित्रण को और अधिक उत्कर्ष पर ले जाता है। उन्हे लगता है कि सीता सामने भागी जा रही है और वे उसे पुकार उठते हैं—

किं, धावसि प्रिये नूनं दृष्टासि कमलेक्षणे ।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥
तिष्ठ तिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणामयि ।
नात्यर्थं हास्यशीलासि किमर्थं मामुपेक्षसे ॥[3]

इस व्यग्रता के सघा परिहास-आशंका को, जो कामनानुकूल चितन (विशफुल-थिंकिंग) का परिणाम है, कवि ने बड़ी स्वाभाविकता से राम की वियोग-वेदना मे पिरो दिया है—

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, ३।५८।११ ।
[2] २—वही, ३।६०।४ ५
[3] ३—वही, ३।६१।२६-२

वृक्षेणावार्य यादि मा सीते हसितुमिच्छसि ।
अलं ते हसितेनाद्य मा भजस्व सुदुःखितम् ।[1]

और अतः सीता वियोग की वेदना को कवि ने क्षोभ मे परिणत कर वियोग-पीड़ा को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है । अपने धर्ममय आचरण के विरुद्ध नियति के इस अन्याय को देखकर राम की मूल्य-चेतना विक्षुब्ध हो जाती है[2] और वे संसार के संहार के लिये तत्पर हो जाते हैं—

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं करुणवेदिनम् ।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥
मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण ।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥
संहृत्यैव शशिज्योत्स्ना महान् सूर्य इवोदितः ॥
संहृत्यैव गुणान् सर्वान् मम तेजः प्रकाशते ॥[3]

इस मर्मांतक वेदना से विपण्ण होकर उन्हे अपना सम्पूर्ण जीवन दुर्भाग्यमय दिखलाई देने लगता है और राज्य वंचना की कटु स्मृति एक बार पुनः बड़ी कटुता के साथ उदित होती है—

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकावेगमापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥ [4]

रामचरितमानस मे इस अवसर पर राम का विलाप ऐसा तीव्र भावसंवलित नही है । राम की वेदना का चित्रण यहाँ भी प्रचुर मात्रा मे वेदना-व्यंजक है किन्तु कई कारणों से मानसकार उसे वाल्मीकि रामायण की जैसी ऊँचाई पर नही ले जा सका है । मानस मे राम ने उत्साहपूर्वक वनवास अंगीकार किया था—अतएव यहाँ उसे दुर्भाग्य के रूप में राम नही सोच सकते थे । मानस के राम परब्रह्म के अवतार हैं । उनके सारे कार्य (यहाँ तक कि सीताहरण भी) लोक-रक्षा के लिये उनकी इच्छा के अनुसार होते हैं । फिर भी, इन सब सीमाओं के रहते हुए भी, मानसकार ने इस प्रसंग में राम-विलाप को बड़ी स्वाभाविकता के साथ प्रचुर संवेगात्मक रूप मे प्रस्तुत किया है ।

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ३/६१/४

[2] —वही, ३/६४/७२ ७३

[3] —वही, ३/६४/५५ ५७

[4] —वही, ३/६३/५

मानस में सीताहरण की आशंका लक्ष्मण को आते देखकर ही राम के मन में उदित हो जाती है। वाल्मीकि के समान यहाँ राम के मन में सीता के कुशल-क्षेम की चिंता नहीं होती, उनके अपहरण का पूर्वाभास होता है.[1] किंतु आश्रम पर लौटने से पूर्व किसी प्रकार की व्यग्रता का उदय दिखलाई नहीं देता। आश्रम पर लौटने पर जब वे वहाँ दिखलाई नहीं देतीं तब राम वियोग व्यथित होकर विलाप करने लगते हैं जो प्रारम्भ में अलंकृति से बन गया है —

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुंदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिमामिनी॥
बदन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं॥[2]

किन्तु जटायु मोक्ष एवं शबरी प्रसंग के उपरांत कवि ने उद्दीपन के सहारे राम की वियोग विह्वलता को ऊँचा उठा दिया है। यहाँ कवि ने वाल्मीकि से भिन्न ढंग से राम की वियोग वेदना व्यक्त की है। वियोग-जन्य विक्षोभ के कारण आत्मोपहास और नारी मात्र के प्रति अविश्वास के तीखेपन से यह प्रसंग अत्यन्त मार्मिक बन गया है —

लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा। देखत केहि कर मन नहिं छोभा।
नारि सहित सब खग मृग बृंदा। मानहुँ मोरि करत हहिं निंदा॥
हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ये आए॥
संग लाइ करिनीं करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं॥
शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ॥
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुबती शास्त्र नृपति बस नाहीं॥[3]

राम के मनोभावों की इस संक्षिप्त-सी अभिव्यक्ति के द्वारा मानसकार अभीष्ट प्रभावोत्पादन[4] में सफल रहा है, किंतु इसके तुरन्त बाद वसंत

---

[1] जनक सुता परिहरेउ अकेली। आयहु तात बचन मम पेली॥
निसिचर निकर फिरहिं बन माहीं। मम मन सीता आश्रम नाहीं॥
—मानस, ३।२६।१, २

[2] वही ३/२६/५,८

[3] —वही, ३/६४/७२७-३

वर्णन का शान्त-रसमूलक प्रयोगकर – जो राम की वियोग-वेदना के सर्वथा प्रतिकूल है– मानसकार ने अभीष्ट प्रभाव को क्षति पहुँचाई है। शान्त और शृंगार का विरोध यहाँ काव्य की रस-सिद्धि में बाधक बन गया है।

वियोग शृंगार का दूसरा प्रकरण हनुमान के लंका पहुँचने पर सीता से साक्षात्कार के अवसर पर तथा वहाँ से लौटकर राम को सीता का समाचार देने के प्रसंग में है। वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने उक्त अवसरों पर वियोग वर्णन किया है, लेकिन दोनों की पद्धति भिन्न रही है।

वाल्मीकि रामायण में सीता हनुमान से राम का जो समाचार पूछती हैं उसमें प्रिय हित-चिन्ता के रूप में उनका प्रेम व्यक्त हुआ। पति से दूर रहने पर पत्नी की प्रिय के कुशल-समाचार जानने की उत्सुकता में उनके प्रेम की बड़ी सूक्ष्म व्यंजना हुई है और उसके साथ ही हनुमान राम की वियोगावस्था का जो वर्णन करते हैं उसमें राम की सीता के प्रति अनुरक्ति और वियोग-वेदना की हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है। हनुमान सीता के प्रति राम की तल्लीनता,[1] अनिद्रा[2] और कातरता[3] का संक्षिप्त वर्णन करते हैं जिसे सुनकर सीता राम के साथ तदात्मभाव का अनुभव करने लगती हैं।[4] यह तदात्मभाव सीता के प्रणय की व्यंजना को और गहरी कर देता है।

लौटकर हनुमान राम के समक्ष सीता की वियोगावस्था का संकेत भर करते हैं।[5] इसलिए सीता की वियोग-व्यथा उपेक्षित-सी रह गई है, लेकिन उसी अवसर पर राम के भावोद्वेग उभड़ पड़ने का कवि ने जो चित्रण किया है उसमें राम का विरह-वर्णन एक बार पुनः स्थान पा गया है। सीता की दी हुई मणि को देखकर राम का वियोग उद्दीप्त होता है। इस प्रसंग में वाल्मीकि ने उद्दीपन के रूप में मणि का बड़ा अच्छा प्रयोग किया है। मणि को देखकर राम के मन में सीता के पास तुरन्त पहुँच जाने की जो इच्छा उत्पन्न होती है उसमें उत्कंठा और संभ्रम की

१—नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः।
नान्यच्चिन्तयते किंचित् स तु कामवशं गतः॥ —वाल्मीकि रामायण ५।३६।४३

२—अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः।
सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् प्रतिबुध्यते॥ —वही, ५/३६/४४

३—दृष्ट्वा फलं वा पुष्पं वा यच्चान्यत् स्त्रीमनोहरम्।
बहुशो हा प्रियेत्येवं श्वसंस्त्वामभिभाषते॥ —वही, ५/३६/४५

४—वाल्मीकि रामायण, ५/३६/४७

५—वही, ५/६५/13-२६

बड़ी सुंदर योजना हुई है जिसने इस प्रसंग मे राम की वियोगाभिव्यंजना मे प्राण फूंक दिये हैं—

नय मामपि तं देशं यत्र दृष्टा मम प्रिया ।
न तिष्ठय क्षणमपि प्रवृत्तिमुपलभ्य च ॥[1]

मानसकार ने इस प्रसंग को और भी मार्मिक बना दिया है। इस प्रसंग मे सीता अविस्तार राम के कुशल समाचार न पूछकर उनके दर्शनों की उत्कण्ठा ही व्यक्त करती है जिससे सीता की वियोग व्यग्रता मे सघनता आ गई है। इसके साथ ही एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि यहाँ हनुमान अपनी ओर से राम की विरहावस्था का वर्णन न कर स्वयं राम का सन्देश उन्हे देते हैं। इस सन्देश मे प्राकृतिक उद्दीपनों के सहारे राम अपनी वियोग व्यथा की अतिशयता के बखान के साथ ही सीता के प्रति अपनी अनुरक्ति की निगूढ़ता और अनिर्वचनीयता की बात कहते हुए अपनी पत्नी-निष्ठा को पराकाष्ठा पर पहुँचा देते हैं—

कहेहू तें कछु दुख घटि होई । काहि कहौं यह जान न कोई ॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एक मन मोरा ॥
सो मनु सदा रहत ताहि पाहीं । जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ॥[2]

इसी प्रकार हनुमान राम का सीता का जो सन्देश देने हैं उसमे ग्लानि, औत्सुक्य, विषाद और निष्ठा के सामंजस्य से सीता के वियोग की व्यंजना अत्यन्त शक्तिशाली रूप मे हुई है। सीता को ग्लानि इस बात की है कि राम से बिछुरते ही उनके प्राण क्यों नहीं चले गये—

अवगुन एक मोर मैं माना । बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥[3]

और प्राण न जाने का कारण राम के दर्शनों की उत्सुकता है—

नाथ सो नयनन्हि को अपराधा । निसरत प्रान करहिं हठि बाधा ।
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा । स्वास जरइ छन माहिं सरीरा ॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी । जरैं न पाव देह बिरहागी ॥[4]

विरहाग्नि के सम्पूर्ण रूपक मे विषाद की व्यंजना हुई है और सीता के इस प्रश्न में निष्ठा की अभिव्यक्ति हुई है कि मेरे अनुरक्त होने पर भी राम ने किस अपराध से मुझे त्याग दिया—

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, ५ ६६/११

[2] २—मानस, ५।१४।३ ।

[3] ३—वही, ५।३०।३ ।

[4] ४—वही, ५।३०।२-३

मन क्रम बचन चरन अनुरागी । केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥[1]

यह वियोग-वर्णन वाल्मीकि रामायण की तुलना में संक्षिप्त होते हुए भी प्रभावाभिव्यंजना की दृष्टि से कहीं अधिक सघन है। वाल्मीकि के विस्तारों में कभी कभी प्रभाव बिखर जाता है और विस्तार के कारण कभी-कभी अन्य वर्णन (जैसे हनुमान का लंका प्रवास वृत्तांत) के प्राधान्य से वियोग व्यंजना गौण पड जाती है। मानस का कवि इस सम्बन्ध में प्रायः सतर्क रहा है। उसने अनावश्यक ब्यौरों को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है और प्रायः व्यंजनापूर्ण ब्यौरों को ही ग्रहण किया है तथा उनके भीतर संवेगों को इस प्रकार अन्तर्ग्रथित किया है जिससे प्रसंग में *भावाभिव्यंजना में बडी शक्ति आ गई है।*

वाल्मीकि रामायण में वियोग व्यंजना हनुमान द्वारा वर्णित राम की चेष्टाओं से हुई है जब कि मानस में संदेश के रूप में सीधी आत्माभिव्यक्ति हुई है। इसलिये मानस की तुलना में वाल्मीकि रामायण में अनुभाव योजना अधिक सशक्त है जबकि मानस के वियोग वर्णन की शक्ति आत्माभिव्यक्ति की अव्यवहिति में निहित है।

मानस में शृंगार रस की योजना के सम्बन्ध में डा० देवराज का आक्षेप है कि मानस से शृंगार रस का सप्रयास बहिष्कार किया गया है।[2] इस आक्षेप का प्रमुख कारण मानस की भाव योजना को बार बार लौकिक धरातल से हटाकर अलौकिक धरातल पर ले जाने की प्रवृत्ति में निहित है। मानस में पूर्वराग प्रसंग में 'प्रीति पुरातन लखइ न कोई'[3] जैसी उक्तियों में और वियोग वर्णन में बार बार यह याद दिलाने से कि राम तो सीता वियोग में झूठ मूठ रो रहे थे—रोने का अभिनय कर रहे थे[4]—शृंगार रस बाधित हुआ है। यह बात सही है कि ऐसी उक्तियाँ शृंगार रस के प्रतिकूल *प्रभाव उत्पन्न करती हैं और यदि ये मानस में न होतीं तो उसका* सौन्दर्य और भी बढा हुआ होता। अरण्यकाण्ड में राम के वियोग विलाप के तुरन्त बाद शान्तरस न आने से वियोग शृंगार को कोई बडा आघात नहीं पहुँचा है। प्रसंग की समग्रता में भक्ति ने बहुत छोटे व्यवधान उपस्थित किये हैं जो गेस्टाल्ट (समग्र

१—मानस ५/३०।२

२—प्रतिक्रियाएं पृ० ८३

३—मानस १।२२८।५

४—एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥
पूरन काम राम सुख रासी । मनुज चरित कर अज अबिनासी ॥

— मानस, ५।२९।८९

प्रसंग) में स्वभावतः दृष्टि से छूट जाते हैं।[1] अतएव भक्ति के कारण मानस की शृंगार-व्यंजना में एक स्थान को छोड़कर अन्यत्र कोई उल्लेखनीय बाधा नहीं आने पाई है। इसके विपरीत उसमें सात्विक शृंगार की जो सरल अभिव्यक्ति हुई है उसको देखते हुए यह आक्षेप बहुत सही नहीं जान पड़ता कि मानस से शृंगार रस का सप्रयास बहिष्कार किया गया है।

शृंगार - रसाभास

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में शृंगार रस की ऐसी स्थितियाँ भी हैं जो सुरुचि समर्थित न होने के कारण अनौचित्य का बोध कराती हैं और इसलिये शृंगार रस का आभास मात्र कराती हैं। राम के प्रति शूर्पणखा की रति और सीता के प्रति रावण का अनुराग दोनों शृंगाररसाभास के उदाहरण हैं। वाल्मीकि ने बालिवध के उपरान्त सुग्रीव के प्रति तारा की प्रीति और उसकी विलासिता का जो चित्रण किया है, वह भी सहृदय की सुरुचि के विरुद्ध होने से रसाभास के अंतर्गत आता है।

वीर रस

राम के पराक्रम की प्रथमाभिव्यक्ति

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में आधिकारिक कथा आरम्भ होने के उपरान्त बहुत शीघ्र ही वीर रस का प्रकरण उपस्थित किया गया है। ताड़कावध के प्रसंग में राम की वीरता की प्रथम अभिव्यक्ति हुई है। वाल्मीकि ने इस प्रसंग में ताड़का की भीषणता का भयानक चित्रणकर उसे वीर रस के उपयुक्त आलम्बन बना दिया है और उसके द्वारा पाषाणखंडों की वर्षा तथा धूल उड़ाने एवं उसकी गर्जना को वीर रस के प्रभावशाली उद्दीपनों के रूप में स्थान देकर वाल्मीकि ने वीर रस की विभावन-सामग्री का सम्यक् संयोजन किया है। इस प्रसंग में अनुभाव चित्रण उतना अच्छा नहीं बन पाया है। राम द्वारा बाणवर्षा ही अनुभाव का काम करती है और व्यभिचारी के रूप में क्रोध का उल्लेख हुआ है। फिर भी समग्र प्रसंग में विभावन और प्रतिक्रिया के सामंजस्य से वीररस की सफल व्यंजना हुई है। मानस के इस प्रसंग में विभाव और व्यभिचारी भाव प्रायः उपेक्षित रहने से भी वीर रस की अच्छी अभिव्यंजना नहीं हुई है। 'मुनि ताड़का क्रोध करि धाई'[2] से न परिस्थिति स्पष्ट होती है, न ताड़का की भीषणता और न उसकी

---

[1] —*If a figure is drawn with small gaps in it, the gaps are apt to be overlooked or disregarded by an observer*

—R S Woodworth, *Contemporary Schools of Psychology*, P 129

[2] —मानस, १/२०८/३

उद्दीपक चेष्टाएँ ही। इसलिये 'एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा'[1] से भी राम के पराक्रम की असाधारणता प्रकट नहीं होती क्योंकि जब तक प्रतिपक्ष की दुर्धर्षता प्रकट न हो, इस प्रकार के उल्लेखों (एक ही बाण से प्राण लेने) से यही व्यक्त होता है कि आलम्बन हीन कोटि का रहा होगा। अतएव मानस के इस प्रसंग में वीर रस की सम्यक व्यंजना नहीं होती क्योंकि राम के पराक्रम को सशक्त अवरोधी शक्ति से टकराते नहीं दिखलाया गया है और जैसाकि मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—

जितनी बड़ी बाधा जहाँ उतना बड़ा वीरोत्साह[2]

राम के पराक्रम की सार्वजनिक अभिव्यक्ति

लेकिन मानसकार ने हनुमन्नाटक से प्रेरित होकर धनुष-यज्ञ के अवसर पर वीर रस की उत्कृष्ट योजना की है जो वाल्मीकि में नहीं मिलती। वाल्मीकि रामायण में राम द्वारा धनुर्भंग एक आकस्मिक-सी एवं अत्यन्त साधारण घटना है जबकि मानसकार ने उसे विशद पृष्ठभूमि प्रदान की है। हताशा और निराशा से परिपूर्ण अत्यन्त उद्वेगमय वातावरण में राम का चापारोपण अंधकार में एकाएक आलोक बिखेर देता है। सीता की व्याकुलता, सुनयना की अनाश्वस्तता, राजाओं के पराभव और राजा जनक की हताशा से धनुष की कठोरता भली भाँति व्यक्त कर दी गई है। इस प्रकार इस प्रसंग में धनुष वीर रस की प्रभावशाली व्यंजना के लिये सम्यक् आलम्बन बन गया है और उसकी अदम्यता से उत्पन्न वातावरण ने वैपरीत्य (Contrast) की सफल सृष्टि की है। सीता की व्यग्रता ने उद्दीपन शक्ति बहुत बढ़ा दी है[3] और लक्ष्मण की दर्पोक्ति ने राम के धीर-गम्भीर उत्साह में वेग का समावेश किया है। धनुर्भंग के साथ मिथिला में वीर रस का प्रथम प्रकरण पूर्ण होता है, किन्तु शिव-धनुष से पराभूत राजाओं का राम से बलात् सीता छीनने का विचार व्यक्त करवाकर वीररस की धारा बनाये रखी है जो परशुराम के आगमन से पुन प्रगाढ़ होने लगती है। अब परशुराम वीर रस के आलम्बन हो जाते हैं, किंतु ऋषि को वीररस का आलम्बन बनाकर आश्रय बदल दिया है। इस प्रसंग में वीर रस के आश्रय लक्ष्मण हो गये हैं। लक्ष्मण की निर्भीकता यहाँ वीर रस का केन्द्रीय तत्त्व है और परशुराम की दर्पोक्तियाँ सशक्त उद्दीपन हैं। छेड़छाड़ (अचगरी), दर्प और एक गहरे आत्मविश्वास के भावों से निर्भीकता-केन्द्रित उत्साह पुष्ट हुआ है। यद्यपि मानसकार ने इस प्रसंग में लक्ष्मण द्वारा परशुराम का सामना किये जाने के

१—मानस, १।२०८।३

२—मैथिलीशरण गुप्त, नहुष, पृ० ४८

३—मानस, १।२६०।१-२

अनौचित्य का उल्लेख किया है,[1] फिर भी यहाँ हास्य एवं वीररस की मिश्रित व्यंजना हुई है। वीररसाभास यहाँ नहीं है क्योंकि इस स्थान पर परशुराम का प्रत्यक्षीकरण एक पूज्य व्यक्ति के रूप मे न होकर[2] एक चिड़चिड़े और अहंकारी व्यक्ति के रूप मे होता है। चिड़चिड़ेपन और अहंकार की प्रबलता के कारण परशुराम हास्य मिश्रित वीर रस के उचित आलम्बन बन गये हैं। लक्ष्मण को आश्रय बनाने के बावजूद कवि का प्रयोजन राम के पराक्रम की व्यंजना करना रहा है, अतएव इस प्रसंग मे कवि ने राम को सर्वथा मौन नहीं रखा है, वे बीच-बीच मे जब-तब बोलते रहे हैं और उनके बोलने मे आरम्भ मे दैन्य की अभिव्यक्ति करते हुए कवि ने शनै शनै, अमर्ष और दर्प का समावेश किया है और इस प्रकार इस प्रसंग को अन्त की ओर ढालते हुए कवि ने पुन. आश्रयत्व राम में स्थानान्तरित कर दिया है —

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥
जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥
देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहिं पावँर जाना॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥[3]

मानस का मिथिला प्रसंग पृष्ठभूमि-निर्माण, आलम्बन की उपयुक्तता, उत्तेजना की प्रबलता, भावों के आरोह अवरोह और आश्रयान्तरण के रूप मे मानसकार की अपूर्व रस योजना का साक्षी है। यह वीर रस का एक अत्यन्त उत्कृष्ट स्थल है। स्वयंवर-स्थल पर ही राम के पराक्रम का उत्तरोत्तर उत्कर्ष व्यक्त कर मानसकार ने वीर, शृंगार और हास्य की मैत्री का भी जीवन्त निर्वाह किया है।

वीर-शृंगार-मैत्री

वीर और शृंगार की मैत्री का एक अच्छा उदाहरण वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के उस प्रसंग मे भी मिलता है जहाँ खर-दूषण-विजयी राम के पराक्रम पर सीता मुग्ध होती दिखलायी गई हैं वाल्मीकि ने सीता द्वारा विजयी राम

१—अनुचित कहि सब सब लोग पुकारे। रघुपति सयनहि लखनु निवारे॥ मानस, १।२७५।४
२—जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं॥ —वही, १।२८१।२
—वही, १।२८२।५ - २८३।२

के आलिंगन का उल्लेख किया है[1] जबकि मानसकार ने प्रशंसापूर्ण दृ
द्वारा राम को देखे जाने की बात लिखी है।[2]

किन्तु इस प्रसंग मे वीर रस की जैसी व्यंजना वाल्मीकि रामायण मे हुई है वैसी मानस मे नही हो सकी है। मानस मे राम के रूप की अलौकिकता थोडी र के लिए राक्षसो ने शत्रुभाव को अवरुद्ध कर देती है और इस प्रकार प्रतिपक्ष का अमर्ष क्षीण पड जाने से वीर रस निर्बल पड जाता है। परिणामस्वरूप यहाँ वीररस की व्यंजना नही हो पाती, भावाभास मात्र होता है।

वाल्मीकि रामायण उभयपक्षीय वीरता

इसके विपरीत वाल्मीकि ने इस प्रसंग मे राम-पक्ष और रावण पक्ष दोनो के अमर्ष का प्रभावशाली चित्रण किया है। अमर्ष के सन्निवेश से राक्षसो का आलम्बनत्व सार्थक हो गया है और उससे राम के उत्साह का पोषण हुआ है। राक्षसो के साथ राम के संघर्ष की इस आरम्भिक घटना मे युद्ध की भीषणता के विशद चित्रण ने प्राण फूंक दिये हैं जिससे राम के शौर्य की बलवती व्यंजना हुई है और यह प्रसंग वीररस का एक सफल स्थल बन गया है।

युद्ध प्रकरण मे वीर रस की निष्पत्ति दोनो ही काव्यों मे हुई है और यद्यपि मानसकार के पूर्वाग्रह के कारण मानस मे प्रतिनायक की शक्ति का वैसा चित्रण नही हुआ है जैसा वाल्मीकि रामायण मे दिखलायी देता है,[3] फिर भी मानस का रावण अतुल पराक्रमी है। बालकाड मे ही मानस के रावण की शक्ति का कवि ने परिचय दे दिया है और युद्ध-भूमि मे भी उसकी शक्ति जब-तब प्रकट होती रही है, लेकिन राम के पराक्रम के समकक्ष मानसकार उसे नही रख पाया है। 'मानस' मे प्रतिनायक की हीनता से नायक का पराक्रम भी वैसे प्रकृष्ट रूप मे व्यक्त नहीं हो पाया है। इसके अतिरिक्त दोनो मे एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि वाल्मीकि ने उभयपक्षीय उत्साह का चित्रण किया है—उत्साह से उत्साह की टक्कर दिखलाई है जिससे आलम्बन के कारण वीर रस में प्रगाढता आ गई है। वाल्मीकि रामायण मे रावण समर्थ एवं उत्कट पराक्रमी होने के कारण राम की वीरता के अनुरूप आलम्बन है। उसका उत्साह उसे एक उत्कृष्ट आलम्बन बना देताहै—

---

१ वाल्मीकि रामायण, ३/३०/४०

२ मानस, ३।२०।२

३—यह रावण वह अतुलित बलशाली रावण नहीं जान पड़ता जिसका वध करने के लिये उनका अवतार हुआ था, यह रावण तो हनुमान की एक मुष्टिका से ही मूच्छित हो जाता है। - डा० श्री कृष्णलाल, मानस दर्शन, पृ ५२।

द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित् ।
एष मे दोष स्वाभावो दुरतिक्रम ॥[1]

कुम्भकरण[2] और मेघनाद[3] भी राम से युद्ध करने के लिये प्रचण्ड उत्साह से सम्पन्न दिखाई देते हैं। अन्य अनेक राक्षस भी राम से जूझने के लिये उत्साहित प्रतीत होते हैं।[4]

वाल्मीकि रामायण मे नायकेतर पात्रों की वीरता

इसी प्रकार राम पक्ष के वीरों का उत्साह भी वाल्मीकि ने बढ़ा-चढ़ा दिखलाया है। हनुमान सीता की खोज करने के लिये जाते हैं, किन्तु प्रमदावन-विध्वंस और लंका-दहन वे उत्साहातिरेक के कारण करते हैं। प्रमदावन विध्वंस के पीछे शत्रु की शक्ति का पता लगाने का साहसपूर्ण उत्साह है।[5] और लंकादहन के पीछे शत्रु को क्षति पहुँचाने का उत्साहगर्भित प्रयोजन।[6]

मानस मे प्रतिपक्ष की हीनता

मानस में प्रतिपक्ष का प्रबल उत्साह अंकित नहीं है। युद्ध में रावण ही नहीं, मेघनाद और कुम्भकरण भी उत्साह व्यक्त करते हैं, किन्तु वाल्मीकि रामायण जैसा व्यापक उत्साह यहाँ दिखलाई नहीं देता। रावण का प्रयोजन भक्ति-समन्वित होने से भी उत्साह की वैसी प्रबल अभिव्यक्ति यहाँ नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त लंका दहन के उपरान्त राक्षस-पक्ष का मनोबल उत्तरोत्तर टूटता हुआ दिखलाई देता है। इसके विपरीत रामपक्ष में उत्साहातिरेक दिखलाई देता है, किन्तु अशोक वाटिका-विध्वंस और लंका दहन के मूल में मानसकार ने हनुमान के उत्साह को न रखकर उनकी कौतुक प्रियता को रखा है जिससे वीर रस के लिये उपयोगी एक प्रसंग मानसकार की कल्पना से छूट गया है। अंगद के दूतत्व में अवश्य ही उत्साहातिरेक दिखलाई देता है, किन्तु वह उसकी वाचालता में विलीन हो गया है। मानसकार ने युद्ध-प्रसंग में लंका की कूटनीतिक गतिविधि का भी वैसा चित्रण नहीं किया जैसा तुलसीदास ने किया है। रावण की निरंकुशता के कारण मंत्रणा का वह द्वन्द्वपूर्ण अंकन मानस में नहीं हो पाया है जिसके कारण वाल्मीकि में रावण-मेघनादादि का उत्साह विभीषण-माल्यवानादि के अवरोध से टकराकर और सशक्त रूप में व्यक्त हुआ है।

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ६।३६।११
[2] —वही, ६।६३।३९ ५८
[3] —वही, ६।१५।४-७
[4] —युद्धकांड, सर्ग ८ में व्यक्त प्रहस्त, वज्रदंष्ट्र, निकुंभ और वज्रहनु का उत्साह उल्लेखनीय है
[5] —वाल्मीकि रामायण, ५।४१।४
[6] —वही, ५।५४।३

अतएव मानस के उत्तरांश मे वीररस की वैसी प्रगाढ एवं सशक्त अभिव्यंजना नही हो सकी है जैसी वाल्मीकि रामायण में दिखलाई देती है।

एक शास्त्रीय प्रश्न

वीर रस के संदर्भ में एक शास्त्रीय प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। विश्वनाथ ने एक ही आश्रय मे उत्साह और भय को स्थान देने से रस विरोध माना है।[1] वाल्मीकि रामायण मे युद्ध के दौरान राम[2] और रावण[3] दोनों को बीच-बीच मे त्रस्त दिखलाया गया है और मानस मे रावण-पक्ष तो निरंतर त्रस्त होता ही जाता है युद्ध मे कई बार राम की सेना मे भी भगदड मच जाती है।[4] ऐसी स्थिति में क्या भय के समावेश से वीररस का विरोध हुआ है ?

यह तो ठीक ही है कि जहाँ भय की अभिव्यक्ति है, वहाँ वीर रस नहीं है, किन्तु उत्साह और भय के उत्थान पतन से रस भंग नहीं हुआ है, प्रत्युत भावों के उत्थान-पतन के चित्रण से स्वाभाविकता और सजीवता बढी है जिससे काव्य की रसनीयता का उपकार हुआ है।

वीर रसाभास

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनो मे वीर रसाभास की भी कुछ सुन्दर स्थितियाँ हैं। ये स्थितियाँ काव्य मे आलम्बन के प्रति प्रत्यक्षीकरण के कारण उपस्थित हुई हैं। सहृदय को वास्तविकता का ज्ञान रहने से उसे उनमें अनौचित्य का बोध होता है और इस अनौचित्य-बोध से काव्य का वास्तविक उत्साह सहृदय के लिये वीर रस की सामग्री प्रदान न कर उसका आभास मात्र कराता है। भरत के प्रति पहले गुहराज और तदुपरात लक्ष्मण का सदेह तथा उनसे युद्ध करने का उत्साह रसाभास को जन्म देता है। गुहराज और लक्ष्मण का युद्धोत्साह वास्तविक है क्योंकि वे भरत आगमन को कूट प्रयोजन से युक्त समझते हैं, लेकिन सहृदय को भरत के मतव्य का ज्ञान पहले से रहता है, इसलिये वह काव्य के साथ तादात्म्य नहीं कर सकता। उसे इस उत्साह के अनौचित्य का भान भी रहता है। अतएव उक्त दोनों प्रसगों म रस-व्यंजना न होकर रसाभास होता है।

करुण रस

वाल्मीकि रामायण मे करुण-रस-व्यंजक परिस्थितियों की संख्या एव रस की प्रगाढता मानस की तुलना मे कहीं अधिक है। मानस मे करुण रस-सम्पन्न

१—साहित्यदर्पण, अध्याय ३

२—वाल्मीकि रामायण, ६।४५।६।५०, ६।७३

३—वही, ६।६२।१७-१९

४—मानस, ६।६९।१-२

केवल दो प्रसंग हैं—(१) राम का निर्वासन और (२) लक्ष्मण-मूर्च्छा जबकि वाल्मीकि रामायण में उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त सीता-परित्याग और उनका भूमि-प्रवेश सर्वाधिक करुणरस-व्यंजक है। इसके साथ ही वाल्मीकि रामायण में प्रतिनायक-पक्ष के शोक का भी सजीव चित्रण है जो करुण-रस व्यंजक भले ही न हो शोक भाव का सशक्त चित्रण अवश्य है और आचार्यों ने ऐसे स्थलों को भी रस की श्रेणी में रखा है।[1]

निर्वासन-प्रसंग में करुण रस

राम का अप्रत्याशित निर्वासन दोनों काव्यों में एक अत्यन्त शोकपूर्ण प्रकरण है। कुछ विद्वानों ने दशरथ-मरण के प्रसंग में करुण रस माना है,[1] किन्तु वास्तविकता यह है कि करुण रस की व्यंजना कैकेयी की वरदान-याचना के साथ आरम्भ हो गई है। दोनों काव्यों में इसी स्थल से राजा दशरथ का हृदय विदारक शोक प्रकट होने लगता है। वाल्मीकि रामायण में दशरथ कैकेयी की माँग सुनते ही व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाते हैं। इस प्रसंग में वाल्मीकि ने राजा दशरथ के शोक को व्याकुलता और क्षोभ के परिपार्श्व में व्यक्त किया है —

> व्यथितो विश्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः।
> असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन्॥
> मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः।
> अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः॥
> मोहमापेदिवान् नृपः शोकोपहतचेतनः।
> चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः॥[2]

राजा दशरथ के शोकावेग को कैकेयी की माँग के अनौचित्य, अनीति, अपयश आदि की चेतना ने और भी पुष्ट किया है।[3] अमर्ष और दैन्य के समावेश ने राजा की व्याकुलता, अस्थिरचित्तता तथा बेचैनी को रेखांकित कर दिया है।

राजा दशरथ का शोकावेग मुख्य रूप से वाचिक अभिव्यक्ति ही पा सका है, किन्तु विलाप करते हुए बार-बार अचेत हो जाने तथा दीर्घोच्छ्वास से उनके शोकावेग की प्रबलता भली भाँति व्यक्त हुई है।[4] अपनी आत्यंतिक प्रियता के कारण राम इस शोकावेग के अनुरूप आलम्बन रहे हैं।

१—द्रष्टव्य आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण
२—वाल्मीकि रामायण, २।१२।४
३—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १२
४—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १२

वाल्मीकि रामायण मे शोक की यह लहर यहाँ से उठती हुई निरन्तर आगे बढी है। कौसल्या की वेदना, लक्ष्मण का अमर्ष, वन मे राम का शोक और भरत की ग्लानि सब उसके अगभूत हैं। राजा दशरथ की मृत्यु से शोकावेग द्विगुणित हो गया है। अब शोकावेग दो आलम्बनो की ओर प्रवाहित होने लगता है।

भरत की वेदना मे शोक के आलम्बनो का समावेश दिखलाई देता है और उनके शोक मे केवल पितृ-देहावसान या भ्रातृ-वियोग ही नहीं, एक गहरी मूल्य-क्षति की चेतना भी अतर्मिश्रित है। मूल्य-क्षति-चेतना की प्रबलता के कारण ही भरत का यह शोक ग्लानि के रूप मे व्यक्त हुआ है। कौसल्या के समक्ष शपथ खाने, लाछन प्रक्षालन के लिये राम को लौटा लाने तथा अपयश चिंता मे भरत की मूल्य-भ्रश चेतना बडी विकलता के साथ मूर्त हुई है[1] और चित्रकूट प्रसंग तक भरत के समस्त आचरण से उनके हृदय का भार निरंतर सहृदय हृदय को अपने शोक से सपृक्त करता रहता है। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण मे भरत के अयोध्या लौटने पर करुण रस का वेग बहुत बडा हुआ दिखाई देता है।

रामचरितमानस मे भी यह प्रसंग करुण रस का अच्छा उदाहरण है, किन्तु कौसल्या की मर्यादापूर्ण प्रतिक्रिया और लक्ष्मण के शांत रहने से शोकावेग की वैसी सशक्त व्यजना नहीं हो सकी है जैसी वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देती है।

रामचरितमानस मे राजा दशरथ की वेदना का चित्रण वाल्मीकि की तुलना मे सक्षिप्त होते हुए भी बहुत सघन है। मानस के शोकाक्रात दशरथ उतने विस्तार के साथ शब्दो मे अपना शोक प्रकट नही करते जितने विस्तार के साथ वे वाल्मीकि रामायण मे बोलते हैं—यहाँ कवि ने उनकी उक्तियो की सख्या अपेक्षाकृत सीमित रखी है और सात्विक भावो तथा अनुभावो के माध्यम से तथा अलकरण के सहारे उनके शोक को मूर्त रूप दिया है। फलतः वाल्मीकि की तुलना मे सक्षिप्त होने पर भी दशरथ के शोक की व्यजना मानस मे कहीं अधिक प्रभावशाली ढग से हुई है और इसका श्रेय है मानसकार की अनुभाव-सात्विकभाव-योजना को —

> बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥
> माथें हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥[2]
> × × ×
> ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता॥
> कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीनु बिनु पानी॥[3]

---

[1] —द्रष्टव्य डा० जगदीश प्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० ३०-३२

[2] – मानस, २।२८।३ ४

[3] —वही, २।३४।१

इस प्रसंग में सादृश्य-योजना निरंतर अनुभाव सात्विक भाव योजना का साथ देती रही है जिससे शोकाभिव्यंजना-शक्ति में वृद्धि हुई है। अभीष्ट प्रभाव की सिद्धि के लिए कहीं कहीं कवि ने बीच बीच में उत्प्रेक्षा के माध्यम से भी भावाकुलता को वाणी दी है —

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू।[1]
× × ×
पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहिं जनु लागहिं सायक॥[2]
× × ×
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहु कमल मूल परिहरेऊ॥[3]
× × ×
जाइ दीख रघुबंस मनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहु बृद्ध गजराज॥[4]

मानस में राजा दशरथ के शोकावेग में आक्रोश की मात्रा अपेक्षाकृत अल्प और कातरता की मात्रा अधिक है। तुलसीदास जी ने कैकेयी का आक्रोश अधिक दिखलाया है जिससे दशरथ के शोक के लिये प्रभावशाली उद्दीपन का कार्य किया है और इस प्रकार कैकेयी का आक्रोश भी राजा दशरथ के शोक की उद्दीप्ति के माध्यम से करुण का प्रभाव बढ़ाने में सहायक हुआ है। कवि उसके रोष को मूर्त बनाते हुए दशरथ के शोक से उसका सम्बंध - निर्देश बराबर करता रहा है·

आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई॥
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा॥[5]
× × ×
अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनी बाढ़ी॥
पाप पहार प्रगट भई सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥[6]

१—मानस, २।३६।१
२—वही २।३६।३
३—वही २।३७।४
४—वही, २।३९०
५—वही २।३०।१२।
६—वही, २३३।१२।

× × ×

पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ घाय महुँ माहुर देई ।।[1]

वाल्मीकि रामायण के समान ही राजा दशरथ की मृत्यु पर शोक का पुनरुत्थान होता है। तुलसीदास जी ने इस प्रसंग में शोक के साथ भय को जोडकर उसके प्रभाव म वृद्धि की है। भरत के अयोध्या प्रत्यावर्तन के प्रसंग में कवि ने भय के समावेश से सम्पूर्ण अयोध्या के शोकपूर्ण वातावरण को मूर्त किया है -

असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ।।
खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला ।।
श्री हत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा ।।
खग मृग हय गज जाहिं न जोए। राम बियोग कुयोग बिगोए ।।
नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सपत सब हारी ।।[2]

भरत के शोक की व्यजना, यद्यपि राम वियोग के सम्बन्ध से अधिक की गई है, सशक्त उद्दीपन के अभाव मे भी – किसी भी सम्बन्धी की ओर से सन्देह न होने पर भी – भरत का शोक प्रबल रूप मे व्यक्त हुआ है। कौसल्या के सामने शपथ खाने तथा अपने आपको निरन्तर दोष देने के रूप में उनका शोक प्रकट हुआ है जो उनके शुद्धात' करण (Conscience) की' गम्भीरता में सहृदय-समाज को निमज्जित करता है। वाल्मीकि रामायण की तुलना मे मानस के भरत के शोक की एक विशेषता यह है कि इसमे भ्रातृप्रेमसिक्त भक्ति-धारा भी मिली हुई है और इस प्रकार मानस मे भरत के शोक पर निर्भर करुण रस मे लाछन-चेतना, भ्रातृ-प्रेम और भक्ति-भावना की त्रिवेणी प्रवाहित है। तीनों कारणों से मानस के भरत के आचरण मे दैन्य की मात्रा वाल्मीकि के भरत की तुलना मे बहुत बढ गई है और दैन्य की प्रबलता से उनके शोकावेग की व्यंजना को बहुत बल मिला है।

लक्ष्मण-मूर्छा और करुण रस

लक्ष्मण मूर्च्छा के प्रसंग मे करुण रस की स्थिति दोनो काव्यो में हैं। वाल्मीकि ने इस प्रसंग में राम के शोकावेग की प्रबलता सात्विक भावो की व्यजना-शक्ति के सहारे की है। लक्ष्मण-मूर्च्छा के कारण राम की इन्द्रियों के शिथिल होते जाने से कवि ने शोक की अभिव्यक्ति की है —

लज्जतीव हि मे वीर्यं भ्रश्यतीव धनु कराद् ।
सायका व्यसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवश गता ।।

१—वही, २।३४।२ ।
२—मानस, २।१५७।२-४

अवसीदन्ति गात्राणि स्वप्नयाने नृणामिव ।
विना मे वर्तते तीव्रा मुमूर्षापि च जायते ॥[1]

लक्ष्मण की कराहों की उद्दीपन-शक्ति ने राम के भावावेग को और भी तीव्र कर दिया है —

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा रावणेन दुरात्मना ।
विष्टनन्तं तु दुःखार्तं मर्मण्यभिहतं भृशम् ॥[2]

और लक्ष्मण के न रहने पर जीवन के प्रति वितृष्णा,[3] लक्ष्मण के बिना अकेले अयोध्या लौटने की संभावित ग्लानि,[4] सहोदर के रूप मे लक्ष्मण के उल्लेख से व्यक्त प्रेमातिशय्यजनित ईषित् उन्माद[5] तथा आत्मघात का विचार[6] जैसे व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति से करुण रस का परिपाक बहुत अच्छा हुआ है।

रामचरितमानस के इस प्रसंग की रस-योजना मे स्थूलतः विशेष अंतर न होते हुए भी कुछ सूक्ष्म अंतर अवश्य है। मानस मे लक्ष्मण की कराहों का उल्लेख न होने से उद्दीपन शक्ति मे यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण की तुलना मे कुछ दुर्बल है। जीवन के प्रति राम की वितृष्णा[7] अयोध्या लौटने पर राम की संभावित आत्म ग्लानि[8] आदि भावों का समावेश यहां भी है, किन्तु उनकी स्थिति अपेक्षाकृत गौण है। यहाँ कुछ अन्य भावों को अधिक प्रखर रूप मे व्यक्त किया गया है जिससे इस प्रसंग की आवेग-शक्ति बढ़ गई है। जिस प्रयोजन से राम युद्ध कर रहे थे उससे उनकी विरक्ति[9] तथा जिस आदर्श की रक्षा के लिये वे वन मे आये थे उनके प्रति उनकी अवमानना दिखलाकर[10] कवि ने राम की वेदना की सघनता व्यंजित की है। इसके साथ ही उन्होंने वाल्मीकि द्वारा संकेतित उन्माद को और अधिक प्रबल रूप दिया है। वहाँ राम शोकावेगजन्य उन्माद के कारण लक्ष्मण को सहोदर

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ६।१०१।६-७

[2] —वही, ६।१०१।८

[3] —वाल्मीकि रामायण, ६।१०१।५

[4] —वही, ६।१०१।१६-१७

[5] —वही, ६।१०१।१५

[6] —वही, ६।१०१।१९

[7] —जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना।
अस मम जीवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥ —मानस, ६।६०।५

[8] —जैहउँ अवध कौन मुह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गंवाई॥ वही, ६।६०।६

[9] —बरु अपजस सहतेउ जग माहीं। नारि हानि विशेष छति नाहीं॥ वही, ६।६०।६

[10] — जौं जनतेउ बन बंधु बिछोहू। पिता वचन मनतेउ नहि ओहू॥ -वही, ६।६०।३

कहते हैं, यहाँ इसके साथ ही वे लक्ष्मण को अपनी माँ का इकलौता पुत्र भी कहते हैं —

निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ।।[1]

और इस प्रकार मानस के इस प्रसंग मे करुण रस और भी उत्कर्ष पर पहुँच गया है।

सीता परित्याग की करुण परिणति

वाल्मीकि रामायण मे एक और प्रसंग है जिसमे शोक की अभिव्यक्ति अत्यत वेग के साथ हुई है। लोकनिंदा पीडित, राम का सीता परित्याग और सीता का भूमि प्रवेश उनके दुखपूर्ण जीवन की चरम परिणति है जिसे मानसकार ने छोड दिया है। वाल्मीकि ने पहले राम के लोकनिंदा प्रसूत कष्ट का चित्रण किया है और तदुपरात परित्याग का पता चलने पर सीता की मनोव्यथा का वर्णन किया है राम की लोकनिंदा प्रसूत पीडा का चित्रण करते हुए वाल्मीकि ने इस प्रसंग मे राम का मुख विवर्ण होने और सूख जाने तथा उनकी आँखो मे आँसू भर आने का उल्लेख करते हुए सफल अनुभव (सात्विक भाव) योजना द्वारा राम के शोक को मूर्त किया है। तदुपरात भाइयो को लोकापवाद की सूचना देते समय उनके एक-एक वाक्य से शोक उमडता हुआ दिखलाया है।

अय तु मे महान् वाद शोकश्च हृदि वर्तते ॥
पौरापवाद सुमुहातस्था जनपदस्य च ।
अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित ।।
पतत्येवाधमाल्लोकान् यावच्छब्द प्रकीर्त्यते ।
अकीर्तिर्निन्द्यते देवे कीर्तिलोकेषु पूज्यते ॥
कीत्यर्थ तु समारम्भ सर्वेषा सुमहात्मानाम ।[2]

इस प्रसंग मे एक अत्यत महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमे राम के शोक के आलम्बन वे स्वय है लोकनिंदित रूप मे अपना विकृत चित्र ही यहा उनके शोक का आलम्बन है।

सीता के भूमि प्रवेश के प्रसंग मे वाल्मीकि ने सीता को शात भाव से पृथ्वी से शरण की याचना करते हुए दिखलाया है जिससे सीता के हृदय मे शोक का अस्तित्व प्रतीत नही होता, किन्तु सीता के भूमि प्रवेश के उपरात राम के विलाप और पृथ्वी से सीता को लौटा देने के आग्रह मे उनके शोक की जो अभिव्यजना हुई है उससे इस प्रसंग मे करुणरस पूर्ण परिस्थिति की सजना हुई है। मानसकार ने राम कथा के इस हृदयस्पर्शी प्रसंग को ग्रहण नहीं किया है।

---

[1] —मानस ६।६०।७

[2] —वाल्मीकि रामायण, ७।४५।११ १४

भावस्तर पर शोकाभिव्यक्ति

वाल्मीकि रामायण में वालिवध तथा रावण-वध के प्रसंग में क्रमशः तारा और मन्दोदरी के विलाप में करुण-रस के परिपाक की चर्चा भी उक्त काव्यों की तुलना के सन्दर्भ में की जाती है,[१] किन्तु उस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। वाल्मीकि रामायण में वालि और रावण दोनों की स्थिति प्रतिनायकों की है अतएव उनके आलम्बनत्व का साधारणीकरण सम्भव प्रतीत नहीं होता और इसलिये वहाँ करुण रस का परिपाक मानना उचित प्रतीत नहीं होता, फिर भी वहाँ वाल्मीकि ने बड़े अनासक्त भाव से शोकाभिव्यंजना की है जिसकी यथार्थता असंदिग्ध है। अतएव वहाँ करुण रस का परिपाक न मानकर शोक भाव की स्थिति मानना उचित होगा। यही बात मेघनाद वध के सम्बन्ध में भी सत्य है। वालिवध के उपरांत सुग्रीव का आत्मग्लानिपूर्ण विलाप वाल्मीकि रामायण में अवश्य ही करुण रसपूर्ण है क्योंकि वहाँ सुग्रीव की ग्लानि साधारणीकरणक्षम है। इसके विपरीत रावण वध के उपरांत विभीषण का दिखावटी विलाप शोक भावाभास मात्र है क्योंकि उसकी यथार्थता संदिग्ध है। मानस में वालिवध पर सुग्रीव का विलाप और रावण वध पर मन्दोदरी एवं विभीषण का विलाप भी आरोपित होने के कारण भावाभास के अन्तर्गत आते हैं।

वाल्मीकि रामायण में दो प्रसंग ऐसे भी हैं जिनमें विभावन-विषयक भ्रांति के कारण शोक भाव स्तर तक ही रहा है। माया सीता का वध देखकर राम का विलाप तथा माया रचित राम का कटा सिर देखकर सीता का विलाप ऐसे प्रसंग हैं जिनमें शोकावेग पूरी शक्ति से व्यक्त हुआ है, किन्तु इस आवेग का उत्तेजना पक्ष अयथार्थ होने से - सहृदय को इस बात का ज्ञान होने से कि वास्तविक सीता का वध नहीं हुआ है और राम का कटा हुआ सिर अवास्तविक है - शोक का साधारणीकरण नहीं हो सकता। अतएव यहाँ शोक का सम्बन्ध नायक-पक्ष से होने पर भी विभावन की भ्रान्तिमूलकता के कारण इस प्रसंग में करुण-रस का परिपाक न होकर शोक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति मात्र हुई है।

वात्सल्य रस

राम-कथा में अनेक प्रसंग वात्सल्यगर्भित हैं, किन्तु कई स्थानों पर वात्सल्य अन्य रसों के पोषक या किसी पात्र के आचरण की आंतरिक प्रेरणा के रूप में

---

[१] 'वाल्मीकि रामायण में मेघनाद, रावण और वालि की मृत्यु पर करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।'-डा० रामप्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसी साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० ३३८

रहा है।[1] वाल्मीकि रामायण[2] और रामचरितमानस[3] दोनो मे कैकेयी के हठ मे वात्सल्य की प्रेरणा का उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण मे वाली का आत्मसमर्पण भी वात्सल्य की प्रेरणा से परिचालित है।[4] दोनो काव्यो मे राम के वनवास-प्रसंग म राम के प्रति दशरथ के वात्सल्य और राम और सीता के प्रति कौसल्या के वात्सल्य ने करुण रस की निष्पत्ति मे अपना योग दिया है तथा मेघनाद-वध के प्रसंग मे रावण का वात्सल्य शोकावेग के रूप मे व्यक्त हुआ है। फिर भी दोनो काव्यो मे कुछ स्थलो पर वात्सल्य रस दशा तक पहुँचा है।

वाल्मीकि रामायण में वाली का वात्सल्य

वाल्मीकि रामायण मे वालिवध के उपरात उसके आत्मसमर्पण की प्रेरणा स्पष्ट करते हुए वालि के वात्सल्य की जो अभिव्यक्ति की गई है वह अपनी आवेगपूर्णता तथा साधारणीकरणक्षम प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप वात्सल्य रस की पूर्ण सामग्री से सम्पन्न है। वाली अपने अतिम क्षणो मे सुग्रीव के प्रति शत्रुभाव का प्रक्षालन करता हुआ उससे अगद की रक्षा की याचना करता है। उस याचना मे वाली का पुत्रस्नेह सशक्त रूप मे व्यक्त हुआ है –

सुखार्हं सुखसंवृद्धं बालमेनमबालिशम् ।
बाष्पपूर्णमुखं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम् ॥
मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवौरसम् ।
मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय ॥
त्वमप्यस्य पिता दाता परित्राता च सर्वशः ।
भयेष्वभयदश्चैव यथाहं प्लवगेश्वर ॥
एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः ।
रक्षसां च वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति ॥
अनुरूपाणि कर्माणि विक्रम्य बलवान रणे ।
करिष्यत्येष तारेयस्तेजस्वी तरुणोऽङ्गदः ॥[5]

वाली के इस वात्सल्य मे पुत्र-हित-चिंता और उसके पराक्रम के प्रति आश्वस्तता सचारी भाव हैं जिनकी अभिव्यक्ति वाचिक रूप मे हुई है। अनुभावो की विशद-

---

[1] —द्रष्टव्य : (क) डा० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका
(ख) डा० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

[2] —द्रष्टव्य-वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ८-९

[3] —'भरत कि राउर पूत न होई'—मानस, २।२९।१

[4] —द्रष्टव्य-वाल्मीकि रामायण, किष्किधा कांड, सर्ग २२

[5] —वाल्मीकि रामायण, ४।२२।८-१२

योजना न होने पर भी भावावेग की वाचिक अभिव्यक्ति ही यहाँ रसत्व को प्राप्त हो जाती है।

मानस में वात्सल्य के विविध रूप

मानस में वात्सल्य की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक विशद रूप में हुई है। पार्वती और सीता के विवाह के प्रसंगों में मानसकार ने वात्सल्य से सम्बंधित एक व्यावहारिक पक्ष का उद्घाटन किया है। पार्वती की माँ की यह खिन्नता कि नारद ने *पार्वती को शिवजी से विवाह के लिये प्रेरितकर एक अप्रीतिकर काम किया,* वात्सल्य से ओतप्रोत है।[1] इस प्रसंग में पार्वती की माँ की पुत्री हित-चिंता उनके वात्सल्य का परिणाम है और कवि ने उसकी अव्यवहित अभिव्यक्ति की है। पार्वती की विदा के समय कवि ने उनकी माँ के मनोभावों को सात्विक भावों और उक्तियों के सहारे अत्यन्त सशक्त रूप में व्यक्त किया है जिससे इस प्रसंग में वात्सल्य रस अधिक उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ दिखलाई देता है।[2]

सीता स्वयंवर के अवसर पर राजा जनक की हताशा के क्षणों में उनका 'कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ' कहना वात्सल्य की सूक्ष्म किन्तु तीव्र अभिव्यक्ति सूचित करता है। इस प्रसंग में सीता के प्रति राजा जनक का वात्सल्य सम्यक् विवृति के अभाव में रस-दशा तक नहीं पहुँच पाया है — वातावरण की उद्विग्नता के सम्मूर्तन में अपना योग देने में ही उसकी सार्थकता रही है और इस प्रकार यहाँ वह तनाव में वृद्धि करने वाले अनेक उपादानों में से एक रहा है। अतएव व्यभिचारी भाव से आगे वह नहीं जा सका है।

सीता की विदा के अवसर पर पार्वती के विदा-प्रसंग के समान वात्सल्य पुनः रस-स्तर तक पहुँचा है और यहाँ भी उसकी व्यंजना आश्रयगत चेष्टाओं से हुई है —

> पुनि धीरजु धरि कुअँरि हँकारी। बार बार भेटहि महतारी॥
> पहुँचावहि फिरि मिलहि बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी॥
> पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई॥
> प्रेम बिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवास।
> मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुना बिरहँ निवासु॥[3]

× × ×

---

[1] १—मानस, १।९८।१ २

[2] २—वही, १।१०१।२ ४

[3] ३—वही, १।३३८।३-३३७।०

लीन्हि रायँ उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ग्यान की।
समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह विचारु न अवसर जाने॥
बारहिं बार सुता उर लाई। सजि सुंदर पालकी मँगाई॥[1]

पुत्री प्रेम के समान पुत्र प्रेम भी मानस मे व्यक्त हुआ है, किन्तु उसकी स्वायत्तता संयोग पक्ष म ही दिखलाई देती है, वियोग पक्ष मे वह करुण का अंग बन गया है। धूल-धूसर पुत्रों को राजा दशरथ द्वारा गोद मे उठाकर खिलाया जाना वात्सल्य रस का एक अच्छा उदाहरण है।[2] इसी प्रकार राम लक्ष्मण के विवाह के उपरान्त उनींदे पुत्रों को सुलाने की चिंता मे भी वात्सल्य रस की ही व्यजना हुई है।[3]

तुलसीदासजी ने वात्सल्य का सम्बन्ध विस्तार भी अपने काव्य मे चित्रित किया है। उन्होंने पुत्र और पुत्री के समान ही पुत्रवधुओं के प्रति भी वात्सल्य की व्यंजना की है। जब राम और उनके भाई विवाहोपरांत अयोध्या लौटते हैं तो राजा दशरथ अपनी रानियो को निदेश देते है—

बधू लरिकनीं पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं।[4]

और

सुन्दर बधुन्ह सासु लै सोईं। फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोईं॥[5]

निश्चय ही यह प्रसंग शृंगार के लिये कहीं अधिक उपयुक्त था और इसलिये यह वात्सल्याभिव्यक्ति अस्थान पर हुई है, फिर भी इसका एक प्रयोजन है और वह यह कि निर्वासन के अवसर पर सीता के प्रति कौसल्या के वात्सल्य की जो व्यजना हुई है, उसका बीजवपन यहीं हो गया है और इस प्रकार पहले से ही पृष्ठभूमि तैयार कर देने का यह परिणाम निकला है कि उस संकटपूर्ण अवसर पर बहुओं के प्रति कौसल्या के सशक्त वात्सल्य की अभिव्यक्ति हुई है।[6]

मानस मे वात्सल्य का और भी विस्तार दिखलायी देता है। मिथिला प्रकरण से राम अपने सहज सौन्दर्य और कैशोर्य के कारण (ए बालक) वात्सल्य के उपयुक्त आलम्बन बन गये हैं और धनुष की कठोरता वात्सल्य की उद्दीप्ति करती है—बाल

१—मानस, १।३३७।२ ४
२—वही, १।२०२।३ ४
३—वही, १।३५५
४—वही, १।३५४।४
५—वही, १।३५७।२
६—वही, २/२८/१ ३

मराल कि मन्दिर लेहीं ।' रानी की स्नेहपूर्ण चिंता संचारी भाव है और उनका कथन भाव-व्यंजक होने के कारण अनुभाव का कार्य कर रहा है ।

चित्रकूट में भरत के प्रति राम का अत्यन्त स्नेहपूर्ण व्यवहार भी वात्सल्य का ही एक रूप है । राम की समस्त कोमलता उनके वात्सल्य की अभिव्यक्ति है जिसकी पुष्टि भरत के इस कथन से होती है---'राखा मोर दुलार गोसाईं ।'[1]

राम की शरणागत-वत्सलता भी वात्सल्य का विस्तार है, किन्तु ऐसे प्रसंगों मे वात्सल्य प्राय भक्ति-रस मे परिणत हो गया है । फिर भी वाल्मीकि की तुलना मे मानस मे वात्सल्य को कहीं अधिक स्थान मिला है और उसकी कहीं अधिक वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है । निस्सन्देह वात्सल्य रस को मानस में कहीं अधिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ है ।

अद्भुत रस

वाल्मीकि रामायण की तुलना मे मानस मे अलौकिकता का आधिक्य होने के कारण मानस मे अद्भुत तत्त्व अधिक मुखर है । मानस में अद्भुत की प्रबलता देखकर एक समीक्षक ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'मानस के नायक परब्रह्म राम के सभी कर्म अलौकिक और अचिन्त्य है, अतः उसमे एक प्रकार से अद्भुत रस का ही साम्राज्य कहा जा सकता है ।'[2] वास्तविकता यह है कि मानस मे यह अद्भुत तत्त्व प्राय: भक्ति का अंग बनकर आया है और इसलिये अधिकांशतः उसका अन्तर्भाव भक्ति रस मे हो गया है ।[3] अधिकांशतः वह या तो भक्ति रस मे घुल गया है अथवा वीर का अंग बनकर व्यक्त हुआ है ।[4] वाल्मीकि रामायण मे भी विस्मय-भाव रस दशा तक बहुत कम पहुँच पाया है । वह अधिकांशत या तो संचारी रहा है अथवा भाव-दशा से ऊपर नहीं उठ सका है ।

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनो में अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक भरद्वाज आश्रम पर भरत के आतिथ्य के प्रसंग मे हुआ है । भरद्वाज की अलौकिक सिद्धि के परिणामस्वरूप थके हारे अयोध्यावासियों की जो शुश्रूषा होती है वह अद्भुत रस की व्यंजक है । मानसकार ने भरत के उत्कट त्याग, दैन्य एवं नैतिक बल से अभिभूत होकर उनकी प्रशंसनीयता की जो लोकोत्तर अभिव्यक्ति की है उसमे भी अद्भुत रस है –

१–वही. २/२९९/३

२–डा० रामप्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० ३६९

३–द्रष्टव्य प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में भक्तिरस सम्बन्धी विवेचन, पृ० २०९

४–राम-रावण युद्ध में अद्भुत की अभिव्यक्ति प्राय. इसी रूप में हुई है ।

किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात ।
तस मगु भयउ न रामकहँ जस भा भरतहि जात ॥[1]

यहाँ स्वय कवि आश्रय है और भरत अपने आचरण की अपूर्वता मे अद्भुत रस के आलम्बन हैं तथा बादलो के द्वारा छाया की जाती रहने से विस्मय का भाव व्यक्त हुआ है। इस प्रसग मे अद्भुत रस की लोकोत्तरता लौकिक आचरण की ही अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति होने के कारण सहज स्वाभाविक प्रतीत होती है और इस प्रकार इस प्रसग की अद्भुतता मे लौकिकता और अलौकिकता का अपूर्व मिलन हुआ है। इस प्रसग की समता का कोई भी स्थल वाल्मीकि रामायण मे नहीं मिलता जहाँ अद्भुत रस की ऐसी लौकिक-अलौकिक-समन्वित अभिव्यक्ति हुई हो।

हास्य रस

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनो में हास्यरसपूर्ण स्थितियो का समावेश है, किन्तु हास्य रस के लिये दोनों कवियो ने प्राय. भिन्न-भिन्न प्रसगो का उपयोग किया है। कैकेयी-मथरा-सवाद और मधुवन-विध्वस के प्रसग दोनों काव्यों मे हैं, किन्तु कवि प्रवृत्ति के अतर के कारण इन प्रसगों मे वाल्मीकि रामायण मे ही हास्य रस की निष्पत्ति हुई है। मानस मे कैकेयी-मंथरा-सवाद में तो कवि ने हास्य रस की एक सूक्ष्म-तरल रेखा अकित की है, किन्तु मधुवन-प्रसग मे कथा-वेग के कारण भावात्मक धरातल प्राय उपेक्षित रहा है।

वाल्मीकि रामायण मे अस्थान पर हास्य रस का प्रयोग

वाल्मीकि रामायण के कैकेयी मथरा-संवाद मे यद्यपि कैकेयी गभीरतापूर्वक मन्थरा को पुरस्कृत करने की बात कहती है, तथापि कवि ने कैकेयी के मुख से मन्थरा को सजाने की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है वह बहुत विनोदपूर्ण है और उससे हास्य की सृष्टि हुई है जो अवसरानुकूल न होने पर भी कवि की विनोदी प्रकृति की परिचायक है। यहाँ कवि स्वयं हास्यरस का आश्रय प्रतीत होता है क्योंकि कैकेयी मथरा के बेडौल शरीर का वर्णन गम्भीर भाव से ही करती है, किन्तु कवि उस गम्भीरता के मध्य चुटकियाँ लेता प्रतीत होता है और इसलिये उसने मथरा की कुरूपता का वर्णन कैकेयी से इस प्रकार करवाया है मानो उसे उस कुरूपता मे ही बडा सौन्दर्य दिखलायी दे रहा हो—

त्व पद्मिव वातेन सनता प्रियदर्शना ।
उरस्तेऽभिनिविष्ट वै यावत् स्कन्धात् समुन्नतम् ॥

---

[1] —मानस, २/२१६

अधस्ताच्चोदर शात सुनाभिमिव लज्जितम् ।
प्रतिपूर्णं च जघन सुपीनौ च पयोधरौ ॥
विमलेन्दुसम वक्त्रमहो राजसि मथरे ।
जघन तव निमृष्ट रशनादामभूषितम् ॥
जघे भृशमुपन्यस्ते पादौ च व्यायतावुभौ ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मथरे क्षौमवासिनी ॥
अग्रतो मम गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने ।
आसन् या शम्बरे माया सहस्रमसुराधिपे ॥
हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्या सहस्रश. ।
तदेव स्थगु यद् दीर्घं रथघोणमिवाय म् ॥
मतय क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते ।
अत्र तेऽहं प्रमोक्ष्यामि माला कुब्जे हिरण्मयीम् ॥[1]

मानसकार ने इस प्रसग की गभीरता को अक्षुण्ण रखा है। मथरा की कुटिलता की गभीर परिणति से पूर्व कवि ने हास्य रस की एक लहर इस प्रसग मे अवश्य आने दी है —

हँसि कहि रानि गालु बड तोरे । दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे ॥[2]

किन्तु प्रसग के गम्भीर मोड लेते ही हास्य रस की इस लहर को कवि ने समेट लिया है।

उपयुक्त स्थान पर हास्य रस

मधुवन प्रसंग मे वाल्मीकि ने वानर-केलि का जो चित्रण किया है, उसमे वानरों की उछल कूद, कृत्रिम हास्य-रुदन आदि के वर्णन में हास्य रस की अच्छी सामग्री प्रस्तुत की है, किन्तु मानसकार ने कथा-वग मे उसे छोड दिया है। इसलिये मानस का कवि हास्य रस के लिये इस प्रसग का उपयोग नही कर पाया है, किन्तु इसके बदले मे उसने लका-विजय के उपरांत विभीषण द्वारा मणि एव वस्त्रों की वर्षा के प्रसंग म वानरो के कौतुक चित्रण के रूप में हास्य रस की थोडी-सी झलक अवश्य दिखलाई है।[3]

शूर्पणखा प्रसंग में हास्य रस की भिन्न प्रकृति

वाल्मीकि रामायण मे शूर्पणखा-प्रसग मे भी कवि ने हास्य रस की सृष्टि

१—वाल्मीकि रामायण, २/९।४१-४७

२—मानस, २।१२-४

३—मानस, ६।११६।३-४

सहयोगी के रूप मे राम के पराक्रम को उत्कर्ष प्रदान करने के लिये है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना उचित नही होगा।

इसी प्रकार नारद प्रसग मे भी नारद की अवमानना से युक्त होने के कारण हास्य कुछ-कुछ कटुतापूर्ण है। नारद को यहाँ उपहासास्पद रूप मे उपस्थित किया गया है। विष्णु ने उन्हे वानर-रूप देकर उपहास का आलम्बनत्व भी प्रदान किया है और कवि ने उन्हे स्वयवर प्रसग मे राजकुमारी की वरण-कामना से उत्कंठित होकर हास्यास्पद चेष्टाएँ करते हुए दिखलाकर—मुनि पुनि पुनि उकसहिं अकुलाही—उद्दीपन की सामग्री भी प्रस्तुत कर दी है और हर-गणो को हास्य का आश्रय बना दिया है। इस प्रकार इस प्रसंग मे हास्य रस की सफल अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु उसका आस्वाद हास्य की निर्मलता (कटुताहीनता) से युक्त नही है।

मानस का केवट-प्रसग और हास्य रस

मानस में हास्य रस की सर्वाधिक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति केवट के मूढ़तारोपण मे हुई है। केवट बडा सयाना है—राम के चरण पखार कर बडे लाभ की सिद्धि चाहता है, किन्तु बनता बहुत है—सर्वथा भोला बन जाता है और अहल्या प्रसग का उल्लेख इस रूप मे करता है मानो वह उसके रहस्य से अनजान हो। राम के चरण धोने के लिये उसकी बहानेबाजी सचमुच ही हास्यरस की अच्छी सामग्री बन गई है। अज्ञता का आत्मारोप, निरीहता का प्रदर्शन और राम के चरण प्रक्षालन की अनिवार्यता के प्रति सहज भोलेपन का अभिनय ये सब ऐसी चेष्टाएँ हैं जो राम को सीता और लक्ष्मण की ओर देखकर मुस्कराने के लिये (यह जतलाते हुए कि वे केवट की चाल को खूब समझ रहे हैं) प्रेरित कर देती हैं।[1] और केवट के इस आरोपित भोलेपन और आंतरिक चातुर्य को देखकर मानस के पाठक भी राम के साथ मुस्करा उठते हैं। राम के आश्रयत्व के साथ केवट के आलम्बनत्व का निर्वाह होने तथा मुस्कराहट के रूप मे उचित अनुभाव-योजना से इस प्रसग मे हास्य रस की सफल व्यजना हुई है।

रौद्र रस

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो मे अमर्ष की अभिव्यक्ति प्राय: वीर रस के प्रसंगो—विशेषकर राम-रावण-युद्ध मे हुई है। मानस मे धनुष-यज्ञ के अवसर पर राजा जनक के अवमाननापूर्ण शब्दों की प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप लक्ष्मण के स्वाभिमानपूर्ण शब्दों मे भी अमर्ष की अभिव्यक्ति हुई है जो पराक्रम

---

[1] —मानस,२।१००।१

प्रदर्शन के उत्साह मे पर्यवसित हो गई हैं। भरत के चित्रकूट आगमन पर लक्ष्मण के आक्रोश मे भी अमर्ष दोनो काव्यों मे वीर रस का अग बन गया है।

फिर भी वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो मे तीन प्रसग ऐसे हैं जिनमे शुद्ध रौद्र रस की अभिव्यक्ति हुई है। प्रथम प्रसग है मंथरा के प्रति शत्रुघ्न का रोष, द्वितीय प्रसग सुग्रीव के प्रति राम लक्ष्मण का आक्रोश है और तृतीय प्रसंग है सागर-वचन।

मंथरा के प्रति शत्रुघ्न का रोष

मथरा के प्रति शत्रुघ्न का आक्रोश दोनो काव्यो मे रौद्र रस की व्यजना से पूर्ण है, किन्तु मानस के इस प्रसग मे रौद्र की व्यजना कही अधिक सफल रही है। वाल्मीकि की मथरा उतनी दुष्ट नही है जितनी स्वभिमक्त है अतएव उसके प्रति सहृदय का आक्रोश बहुत प्रबल न होने से शत्रुघ्न के अमर्ष का साधारणीकरण सशक्त रूप मे नहीं होता। इसके विपरीत मानस मथरा ने की कुटिलता को देखकर उसके प्रति शत्रुघ्न का आक्रोश अत्यत रसनीय बन गया है। मानस मे वह अमर्ष के लिये सर्वथा उपयुक्त आलम्बन है। भरत और शत्रुघ्न के लौटने पर शोकपूर्ण वातावरण मे वह जब सजधज कर सामने आती है तो उसका आलम्बनत्व और भी पुष्ट हो जाता है। मथरा जब बन ठन कर आती है तो सामाजिक उसके प्रति आक्रोश मे भर उठता है और मन ही-मन कामना करता है कि उसे दड मिलना चाहिये। शत्रुघ्न द्वारा उसे दडित किया जाते देखकर उसकी कामना तृप्त हो जाती है। मथरा का नारीत्व यहाँ रौद्ररस मैं बाधक नही बनता क्योकि उसके प्रति पराक्रम नही, रोष व्यक्त करवाया गया है और नारी रोष का आलम्बन तो हो ही सकती है - यदि नारीत्व के कारण उसके आलम्बनत्व मे कहीं कोई कमी आती है तो उसकी कुटिलता उसकी पूर्ति कर देती है। इसीलिये मानस के इस प्रसग मे रौद्र रस की सफल व्यजना होती है। मानसकार ने शत्रुघ्न के प्रबल रोष की अभिव्यक्ति सशक्त चित्र विधान द्वारा की है जिससे रौद्र रस की व्यजना सफलतापूर्वक हो सकी —

हुमगि लात तकि कूबरि मारा। परि मुह भर महि करत पुकारा॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥
आह दइअ मैं काह नसावा। करत नीक फल अनइस पावा॥
सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥[1]

वाल्मीकि रामायण में शत्रुघ्न के रोष की व्यजना इतने सशक्त रूप मे इसलिये भी

---

[1]—मानस, २।१६३-१४

नहीं हो पाई है कि वहाँ मंथरा को इस प्रकार दंडित किया जाने का चित्र नहीं है। वाल्मीकि रामायण में मंथरा केवल घसीटी जाती है। जिससे उसके गहने टूटकर बिखर जाते हैं।[1] उसका कूबड़ टूटने या सिर फूटने अथवा दाँतों से रक्त स्राव का कोई चित्र वाल्मीकि रामायण में नहीं है और इसलिये रौद्र की अभिव्यंजना में रामचरितमानस में अपेक्षाकृत अधिक सफल रही है।

सुग्रीव के प्रति राम-लक्ष्मण का रोष

सुग्रीव के प्रति राम-लक्ष्मण के आक्रोश के प्रसंग में वाल्मीकि रामायण में अमर्ष की व्यंजना कहीं अधिक सशक्त रूप में हुई है। कृतघ्नता के कारण सुग्रीव अमर्ष का उचित आलम्बन है और दोनों काव्यों में उसका उल्लेख इसी रूप में हुआ है। वाल्मीकि रामायण में कृतघ्नता की अनुभूति राम की दुर्भाग्य चेतना से मिलकर अधिक सघन रूप में हुई है।[2] कृतघ्नता की सघन अनुभूति के परिणामस्वरूप वाल्मीकि रामायण में सुग्रीव राम के अमर्ष के लिए उपयुक्त आलम्बन बन गया है। मानस में —

सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोष पुर नारी ॥[3]

से कृतघ्नता की वैसी सघन अनुभूति नहीं हो पाती, फलतः वहाँ उत्तेजना वैसी प्रबल नहीं रही है।

दोनों काव्यों में राम का क्रोध सीमित मात्रा में ही व्यक्त होता, फिर भी वाल्मीकि रामायण में मानस की अपेक्षा राम का आक्रोश कहीं अधिक प्रबल रूप में व्यक्त हुआ है। वे सुग्रीव की भर्त्सना करते हुए[4] उसे धमकी देने के लिये लक्ष्मण से कहते हैं और उस सन्दर्भ में अपने पराक्रम का बखान भी करते हैं जबकि मानस में वे एक छोटे-से वाक्य के द्वारा धमकी भर देते हैं —

जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली ॥[5]

यह धमकी वाल्मीकि रामायण में दी गई विस्तृत धमकी का अंश मात्र है।[6] इस प्रकार इस प्रसंग में राम के अमर्ष का आवेग भी मानस की तुलना में वाल्मीकि रामायण में कहीं अधिक दिखलाई देता है।

१—वाल्मीकि रामायण, ४।७८।१६-१७

२व—वही, ४।३० ६७।६९

३—मानस, ४।१८।२

४—वाल्मीकि रामायण, ४।३०।७२ ७३

५—मानस, ४।१८।३

६—वही

यही बात सुग्रीव के प्रति लक्ष्मण के अमर्ष के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वाल्मीकि रामायण मे लक्ष्मण के वेग तथा ओठो के फड़कने के माध्यम से उनके क्रोध की भीषणा जीवन्त रूप मे व्यक्त हुई है —

सालातालाश्वकर्णांश्च तरसा पातयन् बलात् ।
पर्यस्यन् गिरिकूटानि द्रुमानन्यांश्च वेगित. ॥
शिलाश्च शकलीकुर्वन् पद्भ्यां गज इवाशुगः ।
दूरमेवपद त्यक्त्वा ययो कार्यवशाद् द्रुतम् ॥[1]

× । × ×

रोषात् प्रस्फुरमाणोष्ठः सुग्रीव प्रति लक्ष्मणः ।
ददर्श वानरान् भीमान् किष्किधायां बहिश्चरान् ॥[2]

इसके विपरीत मानसकार ने लक्ष्मण के अमर्ष की ओर हल्का सा सकेत भर किया है—

लछिमन क्रोधवत प्रभु जाना । धनुष चढा गहे कर बाना ॥[3]

फलत मानस के इस प्रसग मे रौद्ररस वैसा सान्द्र नही है जैसा वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देता है।

सागर बन्धन-प्रसंग में रौद्र रस

सागर-बधन के प्रसग मे भी दोनों मे रौद्र रस की व्यजना हुई है। कार्य-सिद्धि में बाधक होने से सागर का आलम्बनत्व सार्थक रहा है और वाल्मीकि तथा तुलसी ने इसी रूप मे उसके प्रति राम का क्रोधोदय चित्रित किया है जो वाल्मीकि रामायण मे अपेक्षाकृत अधिक विशद एव प्रभावशाली है। वाल्मीकि ने सागर के प्रति राम के आक्रोश-व्यजक शब्दो को अपने काव्य मे विस्तारपूर्वक स्थान दिया है[4] और इसके साथ ही राम के शर-सधान का भी पूरा ब्योरा दिया है जबकि मानस मे राम के क्रोध व्यजक शब्दों और शरसंधान का उल्लेखमात्र हुआ है। इस प्रसग मे राम का आक्रोश नीति-कथन[5] से दब सा गया है।

रौद्र रसाभास

वाल्मीकि रामायण मे राम के निर्वासन प्रसग मे लक्ष्मण के क्रोध की उद्दीप्ति भी रौद्र के अन्तर्गत आती है जिसे मानसकार ने छोड दिया है, किन्तु

---

१ – वाल्मीकि रामायण, ४ ३१/१४१ ५
२ – वही, ४/३१/१७
३ – मानस, ६/७५/१
४ – वाल्मीकि रामायण ६२०२-४
५ – मानस ५/५७ १२

धर्मबंधनग्रस्त पिता और धर्माचारी निरपराध भरत के प्रति लक्ष्मण का अमर्ष अनौचित्यपूर्ण होने से साधारणीकरणक्षम नहीं है और इसलिये इस प्रसंग में लक्ष्मण का अमर्ष रौद्ररसाभास के रूप में ही व्यक्त होता है।

बीभत्स रस

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में युद्ध-प्रकरण में रक्त मज्जादि के वर्णन में बीभत्स रस-प्रसंग रूप में है, किन्तु मानस में दो प्रसंग ऐसे हैं जिनमें स्वतन्त्र रूप से बीभत्स की अभिव्यक्ति हुई। इनमें से एक प्रसंग में परम्परागत लक्षणों के अनुसार बीभत्स रस है और दूसरे में नये दृष्टिकोण के अनुसार बीभत्स रस माना जा सकता है।

रूढ़ अर्थ में बीभत्स रस

परम्परागत लक्षणों के अनुसार मेघनाद के यज्ञ-प्रसंग में बीभत्स रस का संकेत मिलता है—यद्यपि बीभत्स की पूरी सामग्री वहाँ नहीं है। इस प्रसंग में रुधिर आदि का उल्लेख[1] बीभत्स का उत्तेजक है और लक्ष्मण तथा वानर-सेना आश्रय हैं, किन्तु अनुभाव-चित्रण के अभाव में बीभत्स रस की सफल व्यंजना नहीं मानी जा सकती।

व्यापक अर्थ में बीभत्स रस

डा० कृष्णदेव झारी ने बीभत्स की परिधि के विस्तार पर बल देते हुए यह मान्यता प्रस्तुत की है कि जहाँ भी घृणा स्थायी भाव होता है, वहीं बीभत्स रस की सृष्टि मानी जानी चाहिये[2]। इस दृष्टि से कैकेयी के प्रति भरत की घृणा से सम्बंधित स्थल पर बीभत्स रस की व्यंजना होती है। कैकेयी अपने घृणित कार्य के कारण घृणा स्थायी भाव की उपयुक्त आलम्बन है और कैकेयी के प्रति भरत की उक्तियाँ घृणाव्यंजक ही हैं —

जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति बारि उलीचा॥
हंसबंसु दसरथ जनक रामलखन से भाइ।
जननी तू जननी भई विधि सन कछु न बसाइ॥
जबतैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ। खण्ड खण्ड होइ हृदय न गयऊ॥
बर माँगत मन भई न पीरा। गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥[3]

---

[1] —मानस, ६/७५/१

[2] —डा० कृष्णदेव झारी, बीभत्स रस और हिन्दी-साहित्य, सैद्धान्तिक विवेचन

[3] —मानस, २/१६०/४ १६१

यह घृणा भाव धीरे-धीरे आक्रोश में रूपांतरित हो गया है और बीभत्स का स्थान क्रोध ने ले लिया है। वाल्मीकि रामायण के इसी प्रसंग में आद्यन्त आक्रोश की प्रधानता के कारण रौद्र रस की व्यंजना हुई है।

भयंकर रस

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में भयंकर रस की व्यंजना प्राय युद्ध प्रसंग में वीर रस के बीच बीच में हुई है। राजा दशरथ की मृत्यु के उपरांत करुण रस की पुष्टि में भी इसने अपना योग दिया है[1] किन्तु स्वतन्त्र रूप से उसकी अभिव्यक्ति दोनों में से किसी में भी शायद कहीं भी नहीं हुई है।

फिर भी वाल्मीकि रामायण और मानस दोनों में भाव स्तर पर भय की व्यंजना प्रभावशाली ढंग से हुई है। वाल्मीकि रामायण में विभीषण एवं माल्यवान के परामर्श में भय अन्तर्निहित है[2] और रावण भी कुम्भकरण से युद्ध का अनुरोध करते हुए भयभीत दिखलायी देता है।[3] रामचरितमानस में लंका दहन के उपरान्त 'गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी'[4] जैसी उक्तियों में युद्ध-त्रास प्रबल रूप में व्यक्त हुआ है। विभीषण, मन्दोदरी आदि का भय यहाँ भक्ति के पोषक रूप में व्यक्त हुआ है। रावण भी कभी कभी आतंकित दिखलायी देता है।[5] भय का सम्बन्ध प्रतिपक्ष से होने के कारण उसका साधारणीकरण नहीं होता और इसलिए इन स्थलों पर भय रस स्तर तक नहीं पहुँच पाया है।

शांत रस

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस में शांत रस भिन्न भिन्न रूप में व्यक्त हुआ है। वाल्मीकि रामायण में शांत रस प्रकृति के क्रोड में राज्यवंचना की चेतना के शमन से उत्पन्न हुआ है जबकि मानस में शांत रस का आधार समत्वपूर्ण दृष्टि है जिसके कारण राम राज्य-प्राप्ति और निर्वासन दोनों ही स्थितियों में निरुद्विग्न रहते हैं—

> प्रसन्नता या न गताभिषेकस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।
> मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा ॥[6]

---

[1] द्रष्टव्य—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में करुण रस विषयक विवेचन, पृ० २३४

[2] वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ९, १०, ३५

[3] वही, ६।६२।१४।१९

[4] मानस, ५।२७।१

[5] वही. ६।४८।४

[6] वही, २/२

वाल्मीकि रामायण मे चित्रकूट-वर्णन तथा मदाकिनी दर्शन के अवसर पर राम के हृदय मे प्रकृति-साहचर्य से राज्य-वचना का दुख शमित जाता है।[1] शम ही वहाँ शांत रस का स्थायी भाव है और प्रकृति उसकी उद्दीपक है तथा राज्य उसका आलम्बन है क्योंकि उसकी कामना का शमन होता है। राज्य-प्राप्ति की क्षतिपूर्ति और सीता का साहचर्य तोष उसके सचारी हैं। वाल्मीकि रामायण के इन प्रसगो मे शात और शृगार का यह सम्मिलन अपूर्व है।

रामचरितमानस मे राज्य प्राप्ति और राज्य-वचना दोनों के प्रति राम की धृति समन्वित एव सतुलित प्रतिक्रिया शात रस का आधार है। इस सदर्भ मे राज्य-प्राप्ति के प्रति उदासीनता[2] और निर्वासन के प्रति तत्परता[3] शांत रस के सचारी भाव हैं। आलम्बन यहाँ भी राज्य है और उद्दीपन हैं तत्सम्बन्धी सूचनाएँ।

मानस मे भक्ति रस के अन्तर्गत भी शात रस का उन्मेष अनेक स्थलो पर हुआ है, कि तु वहाँ वह भक्ति रस का पोषक मात्र रहा है—उसकी स्वतन्त्र सत्ता वहाँ दिखलायी नही देती। स्वतन्त्र रस के रूप मे उसकी अभिव्यक्ति मानस मे सीमित मात्रा मे ही हुई है।

डा० रामप्रकाश अग्रवाल ने ऋषि-मिलन एव धर्मोपदेश तथा नीति कथनों मे भी शात रस माना है,[4] कि तु उक्त प्रसगो की सावेगिक प्रकृति के अभाव मे वहाँ रस-निष्पत्ति नही होती—वस्तुत. ऐसे प्रसग सरसता की सीमा के बाहर हैं। अतएव उनमे रस की खोज व्यर्थ है।

अंगी रस और प्रधान रस का प्रश्न

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो के सम्बन्ध मे अगीरस और प्रधान रस का प्रश्न कुछ उलझा हुआ है। अगी रस की दृष्टि से तो वाल्मीकि रामायण के सम्बन्ध मे विचार करना ही उचित प्रतीत नही होता क्योंकि अंगी रस काव्य के अन्य सभी रसो को अपने मे अन्तर्ग्रथित किये रहता है—वह काव्य मे व्यक्त विभिन्न रसों के केन्द्र मे रहता है और अन्य सभी रस उसके अग रूप मे व्यक्त होते हैं।[5] वाल्मीकि रामायण न तो किसी केन्द्रीय समस्या को लेकर चली है न उसमे

१—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ९४-९५

२—मानस, २/९/३-४

३—वही, २/४५/४—४५/२

४—डा० रामप्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० ३८९

५—प्रबन्धेषु प्रथमतर प्रस्तुत सन् पुन पुनरनुसंधीयमानत्वेन स्थायी यो समस्तस्य
सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभि समावेशो य स नांगतामुपहन्ति ॥
—आनदवर्द्धन, ध्वन्यालोक, ३२२

समग्रतः किसी एक भाव की प्रतिष्ठा ही दिखलायी देती है। उसमे विभिन्न स्थलो पर विभिन्न रस स्वतन्त्र रूप मे व्यंजित हुए हैं—स्थल विशेष पर किसी रस के अन्तर्गत उसके पोषक रूप मे अन्य रसो का अन्तर्भाव अवश्य हुआ है, किन्तु समग्र काव्य में कोई एक केन्द्रीय रस दिखलायी नही देता जिससे सम्पूर्ण काव्य का सम्बन्ध हो अथवा जो अन्य सभी रसो के केन्द्र मे हो। इसलिये अंगीरस का प्रश्न यहां नहीं उठना चाहिए।

फिर भी प्रधान रस का प्रश्न उठ सकता है। रामायण मे मात्रा और शक्ति की दृष्टि से वीर रस ही प्रधान प्रतीत होता है। क्योंकि निर्वासन के उपरांत राम का सम्पूर्ण जीवन वीरता की ज्वलन्त कहानी है और निर्वासन के पूर्व ताडका-वध मे भी उनकी वीरता प्रकट हुई है। निर्वासन प्रसंग मे राम की धर्म-निष्ठा में भी उनकी *धर्मवीरता देखी गई है*[1] किन्तु *वीरता का सम्बन्ध पराक्रम* की अभिव्यक्ति से है जो बाधाओ से जूझने मे ही प्रकट होती है और मानस में इस रूप मे राम की धर्मवीरता प्रकट नहीं हुई है—उसका रूप बहुत कुछ धर्मबंधनजन्य विवशता का रहा है। अतएव इस *प्रसंग मे धर्मवीरता मानना उचित नहीं है, फिर भी मानस के अन्य* प्रसंगों मे वीर रस की प्रधानता स्पष्ट दिखलायी देती है। अरण्यकाण्ड मे राक्षसदमन के रूप मे राम के पराक्रम की जो अभिव्यक्ति आरम्भ होती है उसका चरमोत्कर्ष रावणवध के प्रसंग मे दिखलाई देता है। उत्तरकाण्ड में भी युद्ध और पराक्रम की कथाएँ चलती हैं और यद्यपि अंत मे करुण रस का उन्मेष शक्तिशाली रूप में होता है, फिर भी वह प्रसंग राम की जीवन-गाथा के मुख्य भाग से कटा हुआ-सा है और राम के वीरतापूर्ण कृत्यों की समग्र शक्ति के समक्ष उसका बल अधिक नहीं ठहरता। इसके साथ ही रामायण की आधिकारिका कथा से वह दूरान्वित भी है। अतएव मानस मे करुण रस की प्रधानता मानना उचित नही होगा। अयोध्याकाण्ड और उत्तरकाण्ड के अन्त मे करुण रस बहुत सशक्त रूप म अभिव्यक्त होने पर भी रामयाण के मध्यवर्ती भाग मे उसकी स्थिति गौण ही रही है। रामायण के अधिकाश प्रसंगो तथा मध्यवर्ती भाग मे वीररस की प्रतिष्ठा होने से उसका प्राधान्य मानना समीचीन होगा।

इसके *विपरीत मानस अपनी समग्रता मे एक केन्द्रीय समस्या 'जौं नर तनय त ब्रह्म किमि?'* से जुड़ा हुआ है। समस्त काव्य इसी प्रश्न का उत्तर देना है—पग पग पर तुलसीदासजी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए राम-भक्ति की रसधारा प्रवाहित करते हैं और इस प्रकार मानस-कथा के लगभग सभी प्रमुख प्रसंग और

---

[1] १—डा० रामप्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसी, साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० ३३८

रामकथा के लगभग सभी प्रमुख पात्रों का राम के साथ सम्बन्ध लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित होकर भक्ति रस में निमज्जित हुआ है इसलिए इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाना चाहिये कि मानस में प्रधान रस ही नहीं, अंगी रस का स्थान भक्ति-रस ने लिया है।

प्रश्न तब उलझता है जब भक्ति-रस को रस के रूप में स्वीकार ही नहीं किया जाए; किन्तु भक्ति रस को रस-रूप में न मानने पर मानस के साथ न्याय नहीं हो सकता क्योंकि कवि की घोषणाओं एवं उसकी समस्त काव्य-पद्धति से यह स्पष्ट है कि वह एक भक्ति-काव्य है—यह बात अलग है कि उसमें भक्ति तत्त्व के बावजूद काव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा भी बनाये रखी गई है। अतएव मानस को भक्तिकाव्य मानते हुए उसके अंगीरस के रूप में भक्ति रस को स्वीकार करना उचित होगा।

इस प्रकार रस प्राधान्य की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण वीर-काव्य है तो मानस भक्तिकाव्य। दोनों काव्यों के इस अन्तर ने उनके काव्य सौन्दर्य को दूर तक प्रभावित किया है।

निष्कर्ष

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों के काव्य-सौन्दर्य में उनकी रसयोजना और सांवेगिक विधान ने पर्याप्त योग दिया है। दोनों में विस्तृत फलक पर सांवेगिक उद्भावनाओं के समावेश से उनकी भावोद्दीपन-शक्ति को बल मिला है। दोनों में व्यापक रस दृष्टि के परिणामस्वरूप उनकी भावात्मक पीठिका, भावाभास भाव, रसाभास एवं रस व्यंजना के वैविध्यमय आस्वादन की सामग्री प्रस्तुत करती है।

फिर भी दोनों काव्यों की रस-योजना एवं उनके सांवेगिक सौन्दर्य में व्यापक अन्तर है। यह अन्तर किन्हीं अंशों में दोनों कवियों की जीवन-दृष्टि की भिन्नता से निष्पन्न है तो किन्हीं अंशों में उनकी कला-दृष्टि का परिणाम है।

सर्वप्रथम प्रतिपाद्य का अन्तर बहुत स्पष्ट दिखलायी देता है जिसके परिणामस्वरूप दोनों काव्यों की रस योजना की धुरी ही भिन्न रही है। वाल्मीकि रामायण में जीवन की यथार्थता अपने सहज रूप में व्यक्त हुई है और इसलिए उसमें सम्पूर्ण कथा को किसी एक केन्द्रीय भाव से बाँधने का कोई प्रयत्न परिलक्षित नहीं होता जबकि मानस में समस्त कथा राम के नरत्व में उनके ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा से बहुत स्पष्ट रूप में बँधी रही है। इसलिए मानस में लौकिक रस रह-रह कर उनकी अलौकिकता में (भक्ति-रस) में डूबते-उतराते रहे हैं जो कहीं-कहीं परस्पर एकात्म नहीं हो पाये हैं। लौकिक और अलौकिक धरातलों में जहाँ अन्विति नहीं आ पाई है

वहीं लौकिक रस भक्ति-रस के साथ एकात्म नहीं हो पाये हैं और ऐसे स्थलो पर मानस के काव्य-सौन्दर्य को क्षति पहुँची है। अयोध्याकाण्ड तक भक्तिरस और लौकिक रसो मे प्रचुराश मे अविरोध रहा है, किन्तु अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड और उत्तरकाण्ड मे इस अविरोध का निर्वाह न हो पाने से मानस के काव्य-सौन्दर्य का ह्रास हुआ है जबकि वाल्मीकि रामायण मे राम का ईश्वरत्व अत्यन्त क्षीण रहने से उसका रस-स्तर प्राय अकुंठित रहा है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस की रस-योजना एवं सावेगिक प्रभविष्णुता मे विस्तारगत अन्तर भी दिखलायी देता है। वाल्मीकि रामायण मे कवि की प्रवृति विस्तारपरक रही है। अतएव वहाँ छोटे-से-छोटे भाव को पूरे विस्तार मे व्यक्त किया गया है। राम के निर्वासन के प्रसग मे कैकेयी का हठ, राजा दशरथ का धर्मसंकट, कौसल्या और लक्ष्मण की प्रतिक्रियाएँ, सीता का साहचर्यानुरोध, भरत की वेदना और उनका हठ तथा सीताहरण के प्रसंग मे राम का विलाप, वालिवध के प्रसंग मे उसके द्वारा राम की धार्मिकता को दी गई चुनौती, उसका हृदय-परिवर्तन, तारा का विलाप, सुग्रीव के प्रति राम-लक्ष्मण का आक्रोश और तारा द्वारा लक्ष्मण के आक्रोश का शमन, युद्ध-प्रकरण मे दोनो पक्षो की सावेगिक प्रतिक्रियाओ का चित्रण कवि ने सविस्तार किया है जबकि मानसकार ने उक्त सभी प्रसंगो मे मितव्ययता का ध्यान रखा है। इसलिए वाल्मीकि रामायण की रस-सृष्टि कथा की सहज विवृति के अनुरूप रही है जबकि मानस मे अभिव्यक्ति-लाघव ने रस-व्यजना को प्रभावित किया है। मानसकार ने चुन-चुन कर मार्मिक व्यंजनाओ को अपने काव्य में स्थान दिया है। फलत मानस मे रसाभिव्यंजना परिस्थिति-सर्जना कौशल तथा मार्मिक चयन-पद्धति पर निर्भर रही है मानसकार प्राय: सावेगिक प्रतिक्रिया को प्रसग की सक्षिप्तता मे समेटकर उसे घनीभूत रूप म व्यक्त करता है और इस प्रकार विस्तारो से बचता हुआ भी रसात्मकता को क्षीण नहीं पडने देता। कैकेयी का दुराग्रह, राजा दशरथ का धर्म-संकट कौसल्या की प्रतिक्रिया, सीता का अनुरोध, सीताहरण के उपरात राम का विलाप तथा युद्ध-प्रकरण मे नायक-पक्ष की प्रतिक्रियाएँ—सभी मे सावेगिक धरातल मानसकार की अभिव्यक्ति-लाघव-सम्पन्न प्रगाढ रसवत्ता का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनों की रस योजना अपने-अपने स्रष्टा की की उदारता-अनुदारता से भी प्रभावित हुई है। वाल्मीकि की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक उदार है। उन्होंने एक तटस्थ एव निर्लिप्त व्यक्ति के रूप मे उभयपक्षीय सवेदनाओं को सहृदयतापूर्वक अपने काव्य मे वाणी दी है। इसके विपरीत मानसकार की दृष्टि प्राय एकांगी रही है। अतएव वे राम-पक्ष की संवेदनाओं को जितने प्रभावशाली

ढंग से प्रस्तुत करते हैं, उसकी तुलना मे प्रतिपक्ष की भावनाओं को प्राय महत्त्व नही देते। यही कारण है कि लक्ष्मण मूर्च्छा के प्रसंग मे वे शोक की जैसी सशक्त अभिव्यक्ति करते हैं। उसका चतुर्थांश भी रावण के पुत्र शोक और भ्रातृ-शोक मे दिखलाई नही देता। राम के वियोग मे सीता की व्याकुलता और सीता के वियोग मे राम की जिस व्यग्रता का चित्रण करते हैं, तारा और मन्दोदरी के विलाप मे वह पता नही कहाँ विलुप्त हो जाती है। इसलिए मानस मे ऐसे स्थलों पर प्राय भावाभास की स्थिति दिखलाई देती है, जबकि वाल्मीकि रामायण म ऐसे स्थलो पर भी कम से कम भाव की स्थिति अवश्य रही है।

इन एकांगी दृष्टि के परिणामस्वरूप नायक-पक्ष के सांवेगिक धरातल की क्षति भी मानस म हुई है। सहानुभूति के अभाव मे मानसकार प्रतिपक्ष की शक्ति को पूरी प्रखरता के साथ उजागर नहीं कर पाया है और इसलिए उससे जूझने मे नायक-पक्ष का पराक्रम भी चरमोत्कर्ष पर नहीं पहुँच सका है। इसके विपरीत वाल्मीकि ने दोनों के शौर्य की टक्कर में अनासक्त भाव से उभयपक्षीय शक्ति की दुर्दमता पूरे बल के साथ व्यक्त की है।

वस्तुतः मानसकार अपने काव्य मे भक्ति-भाव के कारण पूरी तरह निष्पक्ष नही रह पाया है जिससे मानसिक अन्तराल बनाये नही रख पाया है और इसलिए रसास्वाद के समान ही काव्य-सृष्टि के लिये भी जो सत्वोद्रेक आवश्यक है उसकी न्यूनता मानस मे दिखलाई देती है। यही कारण है कि मानस मे उभयपक्षीय संवेदनाओ को समान भाव से स्थान नही दिया जा सका है।

लेकिन मानस के पूर्वार्द्ध मे उसके सांवेगिक सौन्दर्य म एक अपूर्वता दिखलाई देती है जिसके दर्शन वाल्मीकि के उस अंश मे नहीं होते। धनुष-यज्ञ से लेकर चित्रकूट प्रसंग तक अन्तर्द्वन्द्व की जो योजना की गई है उससे उसका काव्य सौन्दर्य एक ऐसे स्तर पर पहुँच गया है जिसकी समता खोज पाना बहुत कठिन है। पूर्वराग मे सीता की मुग्धता और लज्जा का द्वन्द्व, राम की नैतिकता और अनुरक्ति का द्वन्द्व धनुष यज्ञ के अवसर पर सीता की अनाश्वस्तता और कामना का द्वन्द्व, अयोध्याकाण्ड मे राजा दशरथ का धर्मसंकट, कौसल्या के अन्तर मे धर्म और स्नेह का द्वन्द्व, भरत की आत्मग्लानि और राम-स्नेह के सम्बन्ध म आश्वस्तता, चित्रकूट मे भरत की मनोकामना और सैद्धांतिक विवशता, राम के भ्रातृ-स्नेह और पितृ आज्ञा-पालन के धर्म-बंधन के रूप मे रह-रह कर अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहा है जो वाल्मीकि रामायण मे दशरथ के धर्मसंकट मे परिसीमित है।

मानस के पूर्वार्द्ध मे वाल्मीकि की तुलना मे अपेक्षाकृत अधिक भाव-संयोजन-कौशल दिखलाई देता है— उसका कारण बहुत कुछ प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक से

उसका प्रभावित होना है मानसकार ने इन्ही से प्रेरणा प्राप्त कर अयोग शृंगार (पूर्वराग) *धनुष यज्ञ और परशुराम पराभव के प्रसंगो की भाव-पीठिका को नवोत्कर्ष* प्रदान किया है। शृंगार और वीर की मैत्रीपूर्ण निकटता तथा राम के शौर्य की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की योजना से मानस के सौन्दर्य मे जो अद्भुत निखार आ गया है उसका श्रेय प्रचुरांश में उक्त नाटकों के प्रभाव को है, फिर भी मानसकार ने अपनी प्रतिभा के बल पर इस अन्विति के भीतर सावेगिक प्रभाव को नूतन शक्ति प्रदान की है और इसका श्रेय है *यौन प्रवृत्ति की देह निरपेक्ष संवेदन-शीलता की प्रतिष्ठा* को जो मानसकार की अपूर्व काव्य प्रतिभा की उपज है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे कवियो के रचना स्वातन्त्र्य के परिणामस्वरूप एक समान स्थलों पर भावात्मक प्रतिक्रियाओ में अन्तर होने से रस व्यंजना मे भी भिन्नता रही है। वाल्मीकि रामायण मे परशुराम-प्रसंग हास्य रस से प्राय असम्पृक्त रहा है जबकि मानस के उक्त प्रसंग मे हास्य रस और वीर रस की समन्वित अभिव्यक्ति हुई है। वाल्मीकि रामायण मे राम का निर्वासन कौसल्या के शोक और लक्ष्मण के अमर्ष से तरंगायित है, जबकि मानस मे इतनी बडी घटना धर्म-चेतना के परिपार्श्व मे शान्तिपूर्वक घट जाती है। कौसल्या का शोक उनकी धर्म-चेतना से प्रचुरांश धुल जाता है। चित्रकूट-प्रसंग मे वाल्मीकि ने जो तनाव उत्पन्न किया है वह मानस के इस प्रसंग की कोमलता मे *कहीं दिखलायी नहीं देता*।

कहीं कहीं एक समान स्थायी भावो का चित्रण करते हुए भी दोनो कवियो ने उनके अन्तर्गत व्यभिचारियो की योजना भिन्न-भिन्न ढंग से की है फलत दोनो की रस-स्थितियों मे महत्वपूर्ण अन्तर आ गया है। वाल्मीकि रामायण मे राम के साथ वन जाने के लिए सीता के आग्रह मे जो उत्कटता और उग्रता है वह मानस की सीता के आग्रह मे उनकी लज्जाशीलता और प्रणय-कातरता में विलीन हो गई है। इसी प्रकार सीता हरण के उपरांत राम के विलाप मे उनके उन्माद, परिहास-कल्पना धर्माचरण की व्यर्थता, दुर्भाग्य की अनुभूति और आक्रोश का जो समावेश है उसके स्थान पर मानस मे क्षोभ और विरह-कातरता का समावेश किया गया है। लक्ष्मण-मूर्च्छा के प्रसंग मे भी वाल्मीकि ने राम के मन मे अपने शेष जीवन की निरर्थकता के साथ आत्मघात *की भावना का* जो समावेश किया है, उसे मानसकार बचा गया है; फिर भी राम के शोक की शक्ति को क्षीण न होने देने के लिये उसने अन्य प्रभावशाली व्यभिचारियों का अन्तर्भाव किया है और पिता की आज्ञा के प्रति अवहेलना का विचार —जो मानस मे केवल इस प्रसंग में व्यक्त हुआ है—राम के शोकावेग की सघनता की व्यंजना के लिये एक समर्थ संकेत है। इस प्रकार दोनो कवियों ने एक ही प्रसंग में *एक ही स्थायी भाव को विभिन्न व्यभिचारियों से पुष्ट करते हुए* अपने अपने काव्य की रस-योजना को भिन्न भिन्न रूप दिया है।

दोनो काव्यो मे विभावन—भावोत्तेजना के प्रेरक कारणो—की योजना मे भी अन्तर दिखलायी देता है। वाल्मीकि रामायण मे ताडका के उत्पातो के चित्रण से वह वीर रस के लिए उपयुक्त आलम्बन बन गई है जबकि मानस मे उसका आक्रमण एव उसके आक्रमण का प्रतिरोध सम्यक् चित्रण के अभाव मे वीररसानुभूति के लिए पर्याप्त नही है। दशरथ-परिवार के वैमनस्य के परिपार्श्व मे वहाँ लक्ष्मण का अमर्ष सहज स्वाभाविक प्रतीत होता है मानस मे परिवेशगत भिन्नता के कारण इस प्रकार की प्रतिक्रिया के लिए सम्यक् विभावन का अभाव रहा है। शूर्पणखा प्रसग मे दोनो कवियों ने शृगाराभास के साथ हास्य की जो योजना भिन्न-भिन्न ढग से की है उसका कारण भी विभावन-सम्बन्धी भिन्नता है। वाल्मीकि ने राम के सौन्दर्य के वैपरीत्य मे उनकी प्रणयाकांक्षिणी शूर्पणखा की कुरूपता की विडम्बना को हास्योत्तेजना का उपकरण बनाया है जबकि मानसकार ने उसकी आत्मप्रशसा और उसके रूप गर्व का उपयोग हास्य के लिये किया है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे आश्रय की प्रकृति की भिन्नता के कारण से भी रसाभिव्यक्ति मे अन्तर रहा है। निर्वासन के समय वाल्मीकि के राम भारी सयम के बावजूद अनाकुल नहीं रहते और उनकी आकुलता समस्त प्रसग की शोकपूर्णता मे अपना योग देती हुई करुण रस की ओर अधिक बल प्रदान करती है जबकि मानस मे निर्वासन को सहर्ष स्वीकार कर लेने से तथा राज्य के प्रति सहज अनासक्ति के परिणामस्वरूप शात रस की व्यजना हुई है। दूसरी ओर वाल्मीकि ने भिन्न उत्तेजना के परिपार्श्व मे राम के आश्रयत्व और राज्य के आलम्बनत्व को लेकर ही शात रस की योजना की है। राम अपनी औचित्यीकरण प्रकृति के परिणामस्वरूप वन में प्रकृति के क्रोड मे राज्य हानि की क्षति-पूर्ति का जो अनुभव करते हैं और उससे उन्हें जो सतोष लाभ होता है वह शान्तरस के रूप मे आस्वाद्य बन जाता है। इस प्रकार आश्रय की प्रकृति के अन्तर के कारण एक ही अवसर पर भिन्न भावो की योजना तथा भिन्न-भिन्न अवसरो पर एक ही भाव की (यद्यपि भिन्न प्रकार से) अभिव्यक्ति हुई है।

रस-योजना के अन्तर्गत शास्त्र के बधन मे वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो म से किसी एक को भी पूरी तरह नही बाँधा जा सकता। वाल्मीकि ने वन जाने के लिये सीता के आग्रह में तनाव-वृद्धि और सकट चेतना से शृगार और करुण का अपूर्व समन्वय किया है—दोनो विरोधी रस जिस प्रकार घुल-मिलकर एक हो गये हैं वह कदाचित् शास्त्रकारों के लिए अचिन्त्य है। इसी प्रकार वन में पहुँचकर प्रकृति से साक्षात्कार के क्षणों मे राम सीता के साहचर्य के साथ प्रकृति समागम के लाभ की चेतना से जो सतोष प्राप्त करते हैं उसमें शात और शृगार के विरोध के स्थान पर

परस्पर जो अनुकूलता मिलती है वह वाल्मीकि की दिव्यदृष्टि का परिणाम है। तुलसीदास ने यह चमत्कार भिन्न रसों के क्षेत्र मे दिखलाया है। परशुराम-पराभव के प्रसंग मे वीर और हास्य इस प्रकार एक-दूसरे के साथ एकाकार हो गये हैं कि उन्हें अलग अलग देख पाना ही कठिन है।

वाल्मीकि और तुलसी दोनो की रस-योजना, अपनी सीमाओ के बावजूद उनकी महान् प्रतिभाओ की साक्षी है। एक ही कथा-फलक पर रस-योजना के सम्बन्ध में दोनों की प्रतिभाओं की भिन्न-भिन्न रूप मे अभिव्यक्ति देखने से इस बात की पुष्टि होती है कि काव्य-सृष्टि का काव्य विषय से उतना सम्बन्ध नही है जितना स्रष्टा की प्रतिभा से। प्राचीनो का अत्यन्त सम्मान करने वाले तुलसीदास जैसे कवि ने अपनी रस-योजना मे जिस स्वतन्त्र दृष्टि का परिचय दिया है और इस स्वतन्त्र दृष्टि के परिणामस्वरूप वाल्मीकि रामायण से मानस के काव्य-सौन्दर्य में जो भिन्नता स्पष्ट दिखलायी देती है उसे दृष्टि मे रखते हुए यह स्वीकार करना होता है——

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते॥

५

वर्णन-सौन्दर्य

कवि अपने प्रतिपाद्य को एक विशिष्ट परिवेश में प्रस्तुत करता है: यह परिवेश देश और काल के आयामों में आबद्ध रहता है। इसलिए काव्य में—विशेषकर प्रबन्ध-काव्य में—स्थानगत और कालगत विवरणों से वास्तविकता का आभास होने लगता है। स्थान और समय की पीठिका के सम्मूर्तन में कवि के सौन्दर्य-बोध का महत्त्वपूर्ण योग रहता है क्योंकि वह अपने प्रतिपाद्य से सम्बन्धित देशकाल को उसकी अनवरतता ग्रहण नहीं कर सकता और इसलिए उसे चयन करना होता है—वह विशिष्ट स्थानों और काल-खण्डों को ही अपने काव्य में रूपांकित करता है। सम्भवतः इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए महाकाव्य के लक्षणों के अन्तर्गत वर्णनों के समावेश का उल्लेख भारतीय[1] एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र[2] दोनों में हुआ है। स्वयं महाकाव्य ही इस बात के साक्षी हैं कि वर्णनों के समावेश ने उनके सौन्दर्य में क्या योगदान किया है।

निरूप

द्विधा सौन्दर्य

काव्य के अन्तर्गत वर्णनों का समावेश दो प्रकार से उसकी सौन्दर्यवृद्धि में योग देता है—(१) वस्तु के अपने सौन्दर्य के बल पर और (२) वर्णन नैपुण्य के बल पर। प्रकृति और प्रकृतीतर दोनों प्रकार के पदार्थों का अपना सौन्दर्य होता है। जो व्यावहारिक जीवन में भी हमें मुग्ध करता है। जब उन्हीं पदार्थों का साक्षात्कार काव्य के माध्यम से होता है तो उनके अपने सौन्दर्य के साथ ही वर्णन-पद्धति का सौन्दर्य भी उसके साथ जुड़ जाता है। इसी बात को लक्ष्य कर डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने लिखा है - 'सुन्दर के रूप में गृहीत वस्तु को विषय-वस्तु (कण्टेण्ट) तथा प्रकाशभंगी (फार्म) नामक दो भेदों में बाँटा जा सकता। इन दोनों को ध्यान में रखते हुए कभी किसी

---

[1] १—साहित्य दर्पण; ६/६१९-६२१

[2] २—हिन्दी-साहित्य कोश, 'महाकाव्य' शीर्षक लेख

ने केवल विषय वस्तु को, किसी ने प्रकाश भंगिमा को और किसी ने दोनों को ही उसका आधार बताया है।'[१] वास्तविकता यह है कि काव्य मे वस्तु का अपना सौन्दर्य कवि-प्रतिभा के संश्लेष से द्विगुणित होकर व्यक्त होता है और वस्तुगत सौन्दर्य प्रकाशन-सौन्दर्य के साथ इस प्रकार एकात्म हो जाता है कि सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में उसका द्वैध व्यक्त नही होता।

वर्ण्य-सौन्दर्य

काव्य मे वर्ण्य वस्तु का सौन्दर्य केवल उसकी आकर्षण-शक्ति—सौकुमार्य, माधुर्य आदि पर ही निर्भर नही रहता, अनेक बार यह उसकी विकर्षण-शक्ति पर भी निर्भर करता है। जिस प्रकार काव्य मे शोक-भयादि दुखमूलक संवेग भी आनन्द-प्रद होकर व्यक्त होते हैं, ठीक उसी प्रकार जगत् की असुन्दर वस्तुएँ भी जब काव्य या कला मे प्रभावशाली ढंग से रूपांकित की जाती हैं तो उनके वर्णन मे भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होने लगती है। जैसा कि जार्ज सन्तायना ने लिखा है, 'कोई भी वस्तु अपने आप मे असुन्दर नही होती, हमारी आवश्यकता के प्रतिकूल होने के कारण वह उस समय हमे असुन्दर प्रतीत होती है।'[२] काव्य मे तथाकथित असुन्दर वस्तु का समावेश भी परिस्थिति की माँग पर आवश्यकतानुसार होता है और इसलिए उसमे भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। यह सौन्दर्य वर्ण्य वस्तु की जीवन्तता और यथार्थता पर भी प्रचुरांश मे निर्भर करता है। वर्ण्यवस्तु का चित्रण उसके यथार्थ-बोध को पुष्ट करता है क्योंकि 'सत्य से सम्बन्ध रखे बिना सौन्दर्य का प्रकाशन संभव नही होता।'[3]

निरीक्षण शक्ति

वर्णनो मे कवि-प्रतिभा का उन्मेष सर्वप्रथम उसकी निरीक्षण-शक्ति मे दिखलाई देता है और उसके निरीक्षण की सूक्ष्मता तथा व्यापकता दोनों सहृदय के लिए अनुरंजनकारी होती हैं। वाल्मीकि रामायण का वर्णन-सौन्दर्य कवि-कल्पना की सूक्ष्म एवं व्यापक निरीक्षण शक्ति पर प्रचुरांश मे निर्भर है। कवि सामान्य दृश्य को अंकित करते हुए कभी-कभी जब एकाएक कोई दुर्लभ चित्र प्रस्तुत कर देता है तो वर्णन-सौन्दर्य में अत्यधिक प्रभाव-शक्ति आ जाती है। दुर्लभ दृश्यों के अतिरिक्त रमणीय-दृश्यों की प्रचुरता से भी वर्णन-सौन्दर्य पुष्ट होता है और सामान्य दृश्यों के समावेश से वर्णन की सहजता बनी रहती है।

१—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सौन्दर्य-तत्त्व, पृ० ११३

२—George Santayana, *The sense of Beauty*, p. 220

३—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सौन्दर्य-तत्त्व, पृ० १७८

चयन-कौशल

कवि छविकार (फोटोग्राफर) न होकर चित्रकार होता है और इसलिए उसकी वाणी मे प्रतिकृति न होकर प्रतिसृष्टि होती है। अतएव काव्य मे वर्णन-सौन्दर्य बहुत कुछ चयन-निर्भर भी होता है। कवि चुन-चुन कर वस्तुओ और उनके अन्तस्सम्बन्धों को रूपायित करता है। चयन मे उसकी रुचि और प्रतिभा दोनो का योग रहता है। चयन मे कवि की अन्तर्दृष्टि प्रकट होती है जो रुचि और प्रतिभा दोनों की सम्मिलित देन है। चयन-कौशल कवि-प्रतिभा का परिचायक होता है। इस प्रकार वर्णन-सौन्दर्य मे कवि की चयन-प्रतिभा की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। जो कवि विशद रूप में प्रकृति या इतर वर्णनों को को अंगीकार नही करते वे चयन-प्रतिभा के बल पर कुछ थोड़े-से बिन्दुओ को उभार कर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने मे सफल होते हैं।

समग्राकृति (गेस्टाल्ट)-सर्जना

वस्तु-परिगणन वर्णन सौन्दर्य मे दूर तक सहायक नहीं होता। कवि की सफलता विभिन्न वस्तुओं को उनके अन्तस्सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक समग्राकृति (गेस्टाल्ट) के रूप मे उभारने पर निर्भर करती है। रस्किन ने सौन्दर्य-बोध मे सामंजस्य-बोध पर बहुत बल दिया है—'सौन्दर्य बोध का आनन्द प्रायः अति सूक्ष्म और अज्ञेय सामंजस्य-बोध से उत्पन्न होता है। चाहे फिर उस बोध के समय दृष्ट रूप मे बुद्धि-संचालन का संकेत न हो। यदि किसी वस्तु को अखण्ड रूप मे देखते हुए भी उसके अन्तर्निहित सम्बन्धो का स्पष्ट पता लग सकता है तो हमे सम्बन्ध-ज्ञान क भी स्वीकार करना पड़ेगा। सौन्दर्य-बोध के साथ ही नाना सम्बन्धो का बोध भी होता है, किन्तु यह स्पष्ट न रहकर बहुत कुछ अस्पष्ट रहता है। वस्तुत. सम्बन्ध-परम्परा गौण हो जाती है और उनके द्वारा उपस्थापित अखण्ड स्वरूप ही प्रधान होता है।'[1] रस्किन की यह मान्यता गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान समर्थित है। गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान के अनुसार ग्रहण स्वत. संग्रथित रूप मे होता है।[2] यह संग्रथन वर्ण्य वस्तुओ के नैकट्य और सादृश्य पर निर्भर रहता है। व्यवधानो की अल्पता और अदीर्घता से भी वर्ण्य वस्तु के समग्रता बोध मे सहायता मिलती है।[3] यही वर्णन की अन्विति है। इसे ही शुक्लजी ने 'संश्लिष्टता' कहा है।[4]

१—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सौन्दर्य-तत्त्व पृ० १७६

२—R.S Woodworth, *Contemporary Schools of Psychology, p. 127*

३—*Ibid, p. 128*

४—चिन्तामणि, पृ० १४८

अन्विति और यथार्थ-बोध

कभी-कभी वर्णन की अन्विति यथार्थ-बोध से बाधित होती है और उस समय कवि को काव्य-सौन्दर्य के दो उपकारक तत्त्वो—यथार्थ बोध और अन्विति--मे से एक को चुनना होता है। नयी कविता के समक्ष आज इसी प्रकार का संकट है और यह संकट संभवत आदि कवि के समक्ष भी रहा था। यथार्थ-बोध और अन्विति मे विरोध की मात्रा जितनी कम होगी, वर्णन-सौन्दर्य उतना ही अनाहत रहेगा।

दृश्य और द्रष्टा

वर्णन-सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल दृश्य से नही, द्रष्टा से भी है। इसलिए वर्णन के सन्निकर्ष से द्रष्टा के अंतर मे जो भावात्मक प्रतिक्रिया होती है उसका अंकन भी वर्ण्य की प्रभाव शक्ति के द्योतन के लिए उपयोगी रहता है। उससे जड़ वस्तु को चेतना का संस्पर्श मिलता है। वर्णन के मध्य द्रष्टा की भावात्मक प्रतिक्रिया भावोद्दीप्ति—उद्दीपक रूप और आत्म–प्रक्षेपण के रूप मे ही नहीं, सम्पर्क-सुख की अनुभूति के रूप मे भी व्यक्त होती है।

उद्दीपन-रूप

काव्य मे उद्दीपन-रूप मे प्रकृति वर्णन बहुचर्चित रहा है, किन्तु सचाई यह है कि भावोद्दीपक वर्णनो मे भी अनेकरूपता दिखलायी देती है। कभी वर्ण्य की सुन्दरता द्रष्टा की मनःस्थिति के अनुकूल होने के कारण उद्दीपक बन जाती है तो कभी प्रतिकूलता के कारण। उद्दीपन मे पूर्वसाहचर्य का भी महत्त्वपूर्ण अंश रहता है। कवि की मानवीय अन्तर्दृष्टि और उसके सूक्ष्म-निरीक्षण मे परस्पर जितनी अनुकूलता होगी वह उद्दीपन-रूप मे उतने ही अच्छे वर्णन दे सकेगा।

दोहरी गति

दृश्य और द्रष्टा का सम्बन्ध एक ओर दृष्टि से भी वर्णन-सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। द्रष्टा एक ओर जहां प्रकृति-व्यापार मे गति के दर्शन करता है, दूसरी ओर वही वह स्वय भी अपने अन्तर मे गतिशील रहता है—उसकी चेतना ठहरी नही रहती, चेतना धारा निरंतर प्रवाहित रहती है। इस प्रकार दृश्य और द्रष्टा की चेतना धारा की गतियो के सम्मिलन से वर्णन मे दोहरी गत्यात्मकता आ जाती है। प्रकृति व्यापार की गति उसके अपने अन्तर की गति से टकराती है जिससे कहीं गति मे दूना वेग आ जाता है तो कहीं वेग टूटता भी है। यह कवि-कौशल पर निर्भर करता है कि वह गति के इस टकराव का उपयोग कैसे करता है। अनेक बार द्रष्टा की भौतिक गति (जैसे चलते-चलते किसी दृश्य का दर्शन) भी वर्णन मे गति उत्पन्न कर देती है।

काव्य की समग्रता में वर्णन-सौन्दर्य

वर्णन समग्र काव्य में प्रायः अंश रूप में रहते हैं। इसलिए वर्णन सौन्दर्य का प्रश्न अंगी के साथ उसके सम्बन्ध पर या अंगी की समग्रता के मध्य उसकी स्थिति पर भी बहुत निर्भर करता है। विशेषकर प्रबन्ध-काव्यों में काव्य की समग्रता में वर्णनों के संतुलित आकार का प्रश्न अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जब वर्णन कथा के मार्ग में दीवाल की तरह आकर उसकी गति को कुंठित कर देते हैं तो उनसे केवल कथा-सौन्दर्य ही बाधित नहीं होता - समस्त प्रबन्ध-सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है जिससे वर्णन-सौन्दर्य भी निरर्थक हो जाता है।

इसलिए काव्य में—विशेषकर प्रबन्धकाव्यों में वर्णनों का प्रासंगिक होना बहुत आवश्यक है। उपयुक्त अवसर पर आवश्यकतानुसार ही वर्णनों का समावेश होना चाहिये। कथा की तुलना में उनका अनुपात सीमित रहना चाहिये। यदि कथा थोड़ी-थोड़ी दूर चलकर वर्णनों में डूबती रहे तो प्रवाह, भंग स्वभाविक है। वर्णनों की अधिकता और निरन्तर अति निकटता से काव्य-सौन्दर्य को क्षति हो सकती है। उससे कथा में तो ठहराव आ ही जाता है, वर्णन-सौन्दर्य भी एकतानता (मानोटोनी) से ध्वस्त हो सकता है। इसलिये वर्णन सौन्दर्य के निर्वाह के लिए वर्णन-संयम अत्यन्त आवश्यक है।

जिस प्रकार काव्य के एक अंग में अपने ही भीतर अन्विति आवश्यक है, उसी प्रकार समस्त काव्य के विभिन्न अंगों की परस्पर अन्विति भी काव्य-सौन्दर्य की साधक होती है। कथा और वर्णनों की परस्पर अन्विति इस दृष्टि से बहुत उपयोगी रहती है। कथा-प्रवाह में वर्णन-अवसर सहज रूप से आने पर वर्णन का समावेश स्वाभाविक प्रतीत होता है। जब कभी कवि कथा को एक ओर छोड़ कर वर्णन-मोह में पड़ जाता है और एक के बाद दूसरा वर्णन करता चला जाता है और कथा जहाँ की वहीं ठहरी रहती है तब कवि की यह वर्णनप्रियता रुचिकर प्रतीत नहीं होती—सहृदय उससे शीघ्र ही ऊब जाता है।

काव्य के अन्य अंगों के समान वर्णन-सामर्थ्य भी कवि-प्रतिभा की परिचायक होती है, किन्तु सामर्थ्य का औचित्यपूर्ण उपयोग ही सौन्दर्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो सकता है अतएव कवि की वर्णन-प्रतिभा की सफलता बृहदाकार और बहुसंख्यक वर्णनों के समावेश में ही निहित नहीं मानी जा सकती। समग्र काव्य को दृष्टिगत रखते हुए उसके भीतर उचित परिणाम एवं आकार में निरीक्षण-सम्पन्न प्रभावशाली वर्णनों का समावेश ही काव्य सौन्दर्य में साधक हो सकता है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस में प्रकृति-वर्णन

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस में दोनों कवियों की सर्जनात्मक

प्रतिभा और निरीक्षण शक्ति की भिन्नता के परिणामस्वरूप उनके प्रकृति-वर्णन में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। यह अन्तर प्रकृति वर्णन के विभिन्न पक्षों--परिदृश्य-उपस्थापन प्रकृति संवेदन और वर्णन पद्धति मे भली-भांति देखा जा सकता है।

परिदृश्य

वाल्मीकि रामायण मे परिदृश्य अपनी समग्रता में अंकित हुआ है। कवि जिस दृश्य को उठाता है उसको सर्वांशत चित्रित करता है। वाल्मीकि की यह प्रकृति प्राय प्रत्येक वर्णन मे व्यक्त हुई है। वन गमन के लिये सीता के आग्रह करने पर राम द्वारा वन की भयंकरता का वर्णन, वर्षा वर्णन और शरद-वर्णन दोनो काव्यो मे मिलते हैं, लेकिन मानस मे दृश्य अपनी समग्रता मे व्यक्त नही होता। कवि वन की कठिनाइयो का परिगणन मात्र करके रह जाता है।[1] इसके विपरीत वाल्मीकि रामायण में वन के संभावित कष्टो की गणना सूची मात्र प्रतीत नहीं होती--उसमे कष्ट अपेक्षाकृत मूर्त रूप मे अंकित हुए हैं जिसके कारण वन के कष्ट एक समग्र परिदृश्य के रूप मे उभरकर सामने आये हैं। निर्भय होकर क्रीडा करनेवाले जंगली पशुओ का चारो ओर से मनुष्य पर टूट पडना,[2] वन मे बहने वाली नदियों में कीचड की अधिकता और उनके भीतर ग्राहों का निवास,[3] पेय जल तक की दुष्प्राप्यता,[4] प्रचण्ड आंधी, घोर अन्धकार[5] बीच रास्तो मे दृप्त सर्पों का निर्भय विचरण[6] तथा पतंगे, बिच्छू, कीड डांस और मच्छर से मिलनेवाले कष्ट के उल्लेख[7] से वन का भयप्रद परिदृश्य अधिक व्यापक दिखलायी देता है।

इससे भी अधिक अन्तर वर्षा और शरद ऋतुओ के दृश्यो मे दिखलायी देता है। वाल्मीकि ने दोनो ऋतुओं के दृश्यो को उनकी समग्रता मे चित्रित किया है। उठते हुए मेघों, मेघाच्छादित आकाश की विविधरूपता, शीतल, मन्द सुगन्धित वायु, कही भाप से आकुल और कही वर्षागमन से उत्फुल्ल कुटज, धरती की धूल का प्रशमन सर्ज और कदम्ब के पुष्पों से युक्त जल से परिपूर्ण पहाडी नदियों के वेगमय प्रवाह, बादलो की भीषण गर्जना, वर्षा ऋतु मे वनो की विशेष शोभा, उडती हुई बलाका-पंक्ति से बादलो की शोभा-वृद्धि, वीरबहूटियो से आवृत धरती, मस्त मयूरो के नृत्य

१—मानस, २/६१/२ ६२।२
२—वाल्मीकि रामायण, २।२८।८
३—वही, २।२८।९
४—वही, २।२८।१०
५—वही, २।२८।१८
६—वही, २।२८।१९-२०
७—वही, २।२८।२१

केवडे की सुगन्ध से मदमाते हाथियो का प्रपात-ध्वनि से आकुल होकर मोरो के साथ चिंघाड उठना, प्रतिद्वन्द्वी से संघर्ष करने के लिए उत्सुक हाथी का वर्षा-पीडित होकर लौट पडना, आकाश से गिरे हुए जल का पत्तो के दोनो मे एकत्र होना और प्यासे पक्षियो एवं पपीहो का उन्हें पीना, वर्षा से भीगने पर उनके पखो का रंग-बिरंगा दिखलायी देना, पहाडी जल-प्रपातो का दृश्य—वर्षा ऋतु के उक्त विभिन्न अंगों और दृश्यो के समावेश से वाल्मीकि रामायण का वर्षा वर्णन एक व्यापक परिदृश्य के रूप मे अंकित हुआ है जिसमे कवि की व्यापक दृष्टि के साथ ही विभिन्न दृश्यो के परस्पर संगुम्फन से[1] परिदृश्य की समग्रता का बोध होता है। वाल्मीकि द्वारा अंकित विभिन्न दृश्य प्रकृति से घनिष्ठ सम्पर्क के सूचक हैं क्योकि उन्होंने जो दृश्य अंकित किये हैं उनमे प्रकृति-व्यापार की सूक्ष्म लीलाएं और रमणीय दृश्य ही नहीं, कुछ अत्यन्त दुर्लभ चित्र भी दिखलायी देते हैं। प्रतिद्वन्द्वी से संघर्ष के लिये उत्सुक गजेन्द्र का वर्षा से पीडित होकर लौट पडना[2] तथा आकाश से गिरे हुए और दोनो मे इकट्ठे हुए जल का पक्षियो द्वारा पिया जाना[3] ऐसे ही दुर्लभ दृश्य हैं जिन्हे प्रकृति-साक्षात्कार से वंचित कवि की कल्पना कदाचित् ही अंकित कर पाती। मानस के कवि की कल्पना वर्षा ऋतु को न तो इतने व्यापक रूप में ग्रहण कर पाई है और न वह वर्षा ऋतु के अंग-रूप दृश्यों को एक समग्र परिदृश्य के अन्तर्गत संग्रथित कर पायी है। इसके स्थान पर उसने नैतिक उक्तियो के परिप्रेक्ष्य में वर्षा ऋतु के एक-एक व्यापार का अलग-अलग उल्लेख किया है जिससे उसकी समग्रता बिखर गई है और वर्षा ऋतु के विभिन्न व्यापारों का उल्लेख परिगणन-कोटि से ऊपर नहीं उठ सका है।

इसी प्रकार शरद ऋतु के वर्णन मे कवि वर्षा बीत जाने पर पहाडी प्रदेश की शोभा के निखर जाने, आकाश के निर्मल हो जाने, कमल-वनो के खिलने, छितवन के पुष्पों से युक्त शरदकालीन वायु-प्रवाह, कीचड सूख जाने और धूल प्रकट होने गौओ के मध्य खडे हुए साडों के निनाद, कमलाच्छादित सरोवरों मे हाथियों का जल-पान; सूखे हुए कीचड वाले, बालुकासुशोभित, गौओं से सेवित और सारस-कलरव से गुंजित सरिता-जल में हर्षपूर्वक हंसों के उतरने का सजीव चित्र इस काव्य में अंकित किया गया है।[4] यद्यपि यह वर्णन इसी काव्य के वर्षा-वर्णन की तुलना में संक्षिप्त है, फिर भी इसमे भी कवि-दृष्टि की व्यापकता और उसके संग्रथन-कौशल की वैसी ही अभिव्यक्ति हुई है। परिदृश्य की स्थानीय एवं कालगत विशेषताओं का चित्रण

१—द्रष्टव्य—वाल्मीकि रामायण, किष्किंधाकाण्ड, सर्ग २८

२—वाल्मीकि रामायण, ४।२८।३२

३—वही, ४।२८।३५

४—वही, ४।३०, ३५-४२

वर्षा और शरद दोनों ही के वर्णन में कवि के सूक्ष्म निरीक्षण और प्रकृति के साथ सीधे सम्पर्क का द्योतक है। मानस में वर्षा और शरद दोनों में से किसी भी ऋतु के वर्णन में ऐसी सूक्ष्म दृष्टि प्रकृति-सम्पर्क या परिदृश्य-गुम्फन से व्यक्त व्यापकता के दर्शन नहीं होते। मानस के शरद वर्णन में भी उपदेशात्मकता के समावेश से उसकी समग्रता वैसे ही बाधित हुई है जैसे वर्षा वर्णन में।

फिर भी, अधिकांशतः वाल्मीकि चित्रित व्यापारों की संक्षिप्त सूची उपस्थित करते हुए भी मानसकार ने कहीं-कहीं अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है जो परिगणन-शैली के बावजूद प्रकृति सौन्दर्य के प्रति कवि की जागरूकता का द्योतक है, जैसे—

जल संकोच बिकल भइँ मीना।[1]
× × ×
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी।[2]
× × ×
मसक दंस बीते हिम त्रासा।[3]

वाल्मीकि ने वसन्त-वर्णन में भी एक समग्र गतिशील परिदृश्य उपस्थित किया है। वसंत के पुष्प-वैभव को कवि ने पूरे विस्तार में ग्रहण किया है। एक स्तर पर कवि ने पुष्पित वृक्षों का का परिगणन भी किया है,[4] किन्तु अधिकांशतः वह पुष्पित वृक्षों की मनोहारी छवि अंकित करने में प्रवृत्त रहा है। वायु के वेग से झूमते हुए वृक्षों द्वारा पुष्प-वर्षा, वायु की पुष्प-क्रीडा, वासन्ती वायु के संगीतपूर्ण वेग और वायु-वेग से हिलते हुए वृक्षों के परस्पर सट जाने का संश्लिष्ट चित्र कवि ने गतिशील रूप में अंकित किया है।[5]

मानस में इसी अवसर पर जो वसन्त-वर्णन किया गया है उसमें प्रारम्भिक पंक्ति में तो गतिशील दृश्य की झलक अवश्य मिलती है,[6] किन्तु शीघ्र ही वासन्ती वैभव कामदेव के सैनिक अभियान के रूप में विलीन हो जाता है। इस रूपक के बीच-बीच में वसन्त ऋतु की शोभा के विभिन्न उपादानों का विशिष्टताशून्य एवं गतिहीन उल्लेख मात्र हुआ है[7] जिसे परिगणन से अधिक मानना उचित प्रतीत नहीं होता। इस

---

[1] —मानस, ४।१५।४
[2] —वही ४।१५।५
[3] —वही, ४।१६।४
[4] —वाल्मीकि रामायण, ४।१।८०-८२
[5] —वही, ४।१।११-१६
[6] —बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिए जनु तानी॥ —मानस, ३।३७।१
[7] —मानस, ३।३७।१-६

प्रकार वसन्त-वर्णन के प्रसंग में भी मानसकार परिदृश्य के सौन्दर्य को उभारने मे बहुत सफल नहीं रहा है।

दोनों कवियों ने पम्पा सरोवर को वसन्त से सम्पृक्त रूप मे चित्रित किया है जिससे पम्पा का परिदृश्य वासन्ती वैभव मे बहुत निखर गया है। वाल्मीकि रामायण मे पम्पा सरोवर का दृश्य विशिष्टतापूर्ण है जिसमे स्थानीय रंग भी है। पम्पा सरोवर के दक्षिणी भाग में पर्वत शिखर पर खिली हुई कनेर की डाल, भ्रमरों द्वारा चूसे गये केसरों वाले कमलों पानी पीने के लिए आये हुए हाथियों और मृगों के समूह वायु वेग से आन्दोलित जल-लहरियों से हिलते-डुलते कमलों आदि के उल्लेख से एक संगुम्फित और गतिपूर्ण परिदृश्य[1] कल्पना-नेत्रों के समक्ष झूम जाता है। इसके विपरीत मानस में सरोवर की शोभा के सामान्य उपादानों का उल्लेख-भर हुआ है जिसमे विशिष्टता का प्रायः अभाव रहा है।

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनों मे ही कालगत परिदृश्य का बहुत सुन्दर रूप चन्द्रोदय-वर्णन मे मिलता है दोनों काव्यों मे चन्द्रोदय का वर्णन संक्षिप्त होता हुआ भी अपनी गत्यात्मक समग्रता मे व्यक्त हुआ है। वाल्मीकि रामायण मे चन्द्रिका के व्यापक प्रसार के साथ चन्द्रमा के वर्ण-सौन्दर्य और उसकी मृदु-मन्थर गति का सूक्ष्म दृश्य अंकित किया गया है—

चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्वंस्तारागणैर्मध्यगतो विराजन् ।
ज्योत्स्नावितानेन वितत्य लोकानुत्तिष्ठतेऽनेकसहस्ररश्मि ॥
शङ्खप्रभं क्षीरमृणालवर्णमुद्गच्छमानं व्यवभासमानम् ।
ददर्श चन्द्रं स कपिप्रवीरः पोप्लूयमानं सरसीव हंसम् ॥[2]

मानस का चन्द्रोदय-वर्णन रूपकात्मक है, फिर भी उसमे अंधकार को विदीर्ण करते हुए चन्द्रोदय का गतिशील दृश्य अंकित हुआ है। यहाँ रूपक चन्द्रोदय के दृश्य को उभारने मे सहायक ही हुआ है—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥[3]

जहाँ तक परिदृश्य उपस्थापन का प्रश्न है, वाल्मीकि से तुलसीदास की कोई समता नहीं है। वाल्मीकि ने जिस निराडम्बर दृष्टि से प्रकृति-पर्यवेक्षण किया था,

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ४/१/६२ ६६

[2] —वही, ५।२।५७-५८

[3] —मानस, ६/११/१-२

वह कदाचित् तुलसीदास के पास नहीं थी। एकाध अपवाद को छोड कर प्राय. तुलसीदासजी प्रकृति-व्यापार की सूची प्रस्तुत करके रह जाते हैं —प्रकृति-व्यापार का संश्लिष्ट और गतिपूर्ण चित्र अंकित नहीं कर पाते। इसके विपरीत वाल्मीकि प्रकृति-व्यपार को उसकी समग्र गतिशीलता मे ही अंकित करते ही हैं—जिससे उनका *प्रकृति-वर्णन प्राय. संश्लिष्ट चित्रो के रूप मे प्रत्यक्षीकृत होता है — इसके साथ ही* वे कुछ ऐसे दुर्लभ, किन्तु विश्वसनीय, चित्र भी अंकित करते हैं जिनमे उनके सूक्ष्म निरीक्षण की अपूर्व मोहकता होती है। उनकी कथा-पद्धति के समान ही प्रकृति-वर्णन *मे भी कवि-दृष्टि का व्यापक प्रसार दिखलायी देता है—वे जो परिदृश्य उपस्थित* करते हैं उनमे विस्तार के मध्य सूक्ष्म दृष्टि का उन्मेष होने से सौन्दर्य बहुत बढ जाता है जबकि मानस मे प्रकृति-व्यापार के ऐसे परिदृश्यो का प्राय. अभाव होने से *प्रकृति वर्णन बहुत प्रभावशाली नही बन पाया है।*

रमणीय दृश्य

प्रकृति-चित्रण मे प्रकृति की अपनी रमणीयता के समावेश से जो आकर्षण *उत्पन्न हो सकता है, वाल्मीकि ने उसका पूरा उपयोग किया है—विशेषकर वर्षा और* वसन्त-वर्णन मे ऐसे अनेक दृश्यो की छवि अंकित की है जो अपनी रमणीयता के बल पर पाठक को मुग्ध करने मे सक्षम हैं। वर्षा ऋतु मे पर्वतीय प्रपातों की *धारागति के शिलापात से विकीर्ण होने का दृश्य बड़ा ही मनोरम है।* पर्वत-शिखरों पर से गिरते हुए बहुसंख्यक झरनों से पर्वत की शोभा-वृद्धि और पर्वतीय प्रस्तर खण्डों पर गिरने से झरनों का वेग खण्डित होने तथा उनका जल विकीर्ण होने के दृश्य मे *बड़ी मनोहरता है—*

महान्ति कूटानि महीधराणां धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातैर्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः॥
शैलोपलप्रस्खलमानवेगा. शैलोत्तमानां विपुलाः प्रपाताः।
गुहासु सन्नादितबर्हिणासु हारा विकीर्यन्त इवावभान्ति।
शीघ्रप्रवेगा विपुलाः प्रपाता निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम्।
मुक्ताकलापप्रतिमा. पतन्तो महागुहोत्सङ्गतलैर्ध्रियन्ते॥
सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिका।
पतन्ति चातुला दिक्षु तोयधारा. समन्ततः॥[1]

इसी प्रकार वसन्त-वर्णन मे कवि ने पुष्प-वैभव को अत्यन्त रमणीय रूप मे *अंकित किया है। वाल्मीकि ने विभिन्न प्रकार के पुष्पों के खिलने का ही वर्णन नहीं* किया है, इ[illegible]ने पुष्प-वर्षा की गति का भी मनोहारी दृश्य उपस्थित किया है—

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ४।२८। ४८-५१

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमा ।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम् ॥
पतितै पतमानश्चै पादपस्थैश्च मारुतः ।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडतीव समन्ततः ॥[1]

रमणीयता के साथ गतिशीलता का सम्मिलन होने से वाल्मीकि द्वारा उपस्थित उक्त प्रकृति-दृश्यों का आकर्षण द्विगुणित हो गया है।

मानसकार ने प्रकृति की रमणीयता कहीं-कहीं रेखांकित की है, जैसे—

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा ।[2]

किन्तु वह कहीं भी प्रकृति की रमणीयता का वैसा सजीव चित्र उपस्थित नहीं कर सका है जैसा वाल्मीकि ने किया है।

कृषि-चेतना

भारतीय जीवन मे ऋतुओ के साथ कृषि का जो *अविच्छेद्य सम्बन्ध* है, वह वाल्मीकि के शरद ऋतु वर्णन मे भी स्पष्टतः झलक रहा है। शरद-वर्णन के अवसर पर वाल्मीकि ने धान की खेती पक जाने का उल्लेख एकाधिक बार भिन्न भिन्न रूप में किया है। सर्वप्रथम उन्होंने सारसों के नभ-विचरण के प्रसग मे उनके द्वारा पके हुए धान खाये जाने की चर्चा की है—

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारसचारुपंक्ति ।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला ॥[3]

दूसरी बार उन्होंने शरद की विभिन्न विशेषताओं के अन्तर्गत धान की खेती पक जाने की गणना की है—

जलं प्रसन्नं कुसुमप्रहासं
क्रौञ्चस्वनं शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम् ॥[4]

१—वाल्मीकि रामायण, ४।१।१२-१३
२—मानस, ४।१३।४
३—वाल्मीकि रामायण, ४।३०।४७
४—वही, ४।३०।५३

और तदुपरान्त विगत वर्षा-काल की देन का स्मरण करते हुए भूतल को धान की खेती से सम्पन्न बनाने के लिए भी पयोधरों के प्रति आभार प्रकट किया गया है—

लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा
नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।
निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा
त्यक्त्वा नभस्तोयधराः प्रणष्टाः ॥[1]

मानस के वर्षा वर्णन मे भी एक स्थान पर कृषि-विषयक उल्लेख मिलता है—

कृषी निरावहिं चतुर किसाना ॥[2]

किन्तु इस उल्लेख में वैसी प्रबल कृषि-चेतना दिखलायी नहीं देती जैसी वाल्मीकि के तत्सम्बन्धी वैविध्यपूर्ण उल्लेखो मे मिलती है ।

प्रकृति-परिवर्तन

प्रकृति समय के साथ परिवर्तनशील होती है । समर्थ कवि-प्रकृति-वर्णन के साथ उसके सामयिक परिवर्तन को भी अपनी कविता मे अंकित करते हैं । यह परिवर्तन ऋतु वर्णन में बहुत स्पष्ट झलकता है । वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने वर्षा और शरद-ऋतु का वर्णन लगभग निरन्तरता मे किया है । इसलिए वर्षा के उपरान्त शरद ऋतु मे प्रकृति-परिवर्तन के चित्र के लिए दोनो कवियो को यह एक सुअवसर मिला है । वाल्मीकि ने वर्षा के उपरान्त शरद मे प्राकृतिक परिवर्तन का विशद चित्र उपस्थित किया है । तुलसीदासजी ने प्रकृति-परिवर्तन का वैसा व्यापक चित्रण तो नही किया है, किन्तु उस ओर कुछ संकेत अवश्य किये हैं ।

वाल्मीकि रामायण मे वर्षा और शरद की प्राकृतिक स्थितियों मे स्पष्ट वैपरीत्य दिखलायी देता है । वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने नदियो के वेगपूर्ण प्रवाह का चित्रण किया था—

वर्षप्रवेगा विपुला पतन्ति
प्रवान्ति वाता समुदीर्णवेगा ।
प्रणष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलं विप्रतिपन्नमार्गा ॥[3]

इसके विपरीत शरद ऋतु मे कवि ने नदियो के कृश प्रवाह का चित्र उपस्थित किया है—

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ४।३०।५७

[2] —मानस, ४।१४।४

[3] —वाल्मीकि रामायण, ४ २८।४५

कुशप्रवाहानि नदीजलानि ।[१]

वर्षा-वर्णन में वाल्मीकि ने बादलों, हाथियों, मोरों और झरनों की ध्वनि अंकित की थी—

मेघाः समुद्भूतसमुद्रनादा महाजलौघैर्गगनावलम्बाः ।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापीर्महीं च कृत्स्नामपवाहयन्ति ॥[२]
× × ×
प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगंधमाघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु ।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति ॥[3]

शरद ऋतु में कवि ने चारों की ध्वनि शांत हो जाने का उल्लेख किया है—

घनानां वारणानां च मयूराणां च लक्ष्मण ।
नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहसानघ ॥[४]

वर्षा ऋतु में आकाश मेघाच्छादित हो जाने से सभी दिशाओं में अंधेरा छा जाने का चित्र उपस्थित करते हुए वाल्मीकि ने लिखा—

घनोपगूढं गगनं न तारा
न भास्करो दर्शनमभ्युपैति ।
नवैर्जलौघैर्धरणी वितृप्ता
तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः ॥[५]

शरद ऋतु में मेघाच्छादन हट जाने से आकाश में स्वच्छता आ जाने और दिशाओं का अंधकार दूर हो जाने का चित्र भी उन्होंने उपस्थित किया है—

व्यक्तं नभः शस्त्रविधौतवर्णं
कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कह्लारशीताः पवनाः प्रवान्ति
तमोविमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥[६]

मानस के कवि का ध्यान भी प्रकृति-परिवर्तन की ओर गया है। शरद ऋतु को उसने वर्षा के वार्धक्य का रूप दिया है जो स्वयं ही एक बड़े परिवर्तन का सूचक है—

---

[१]—वाल्मीकि रामायण, ४।३०।३६
[२]—वही, ४।२८।४४
[३]—वही, ४/२८/२८
[४]—वही, ४।३०।२६
[५]—वही, ४।२८।४७
[६]—वही, ४।३०।३६

वर्षा विगत सरद ऋतु आई । लछिमन देखहु परम सुहाई ।।
फूले कास सकल महि छाई । जनु बरषा कृत प्रगट बुढाई ।।[1]

मानसकार ने वर्षा ऋतु म कभी घना अंधकार छा जाने का और कभी सूर्य निकलने का उल्लेख किया था—

कबहुँ दिवस महँ निबिड तम कबहुँक प्रगट पतंग ।[2]

इसके विपरीत शरद ऋतु मे निर्मेघ आकाश की निर्मलता की चर्चा की है—

बिनु घन निर्मल सोह अकासा । हरिजन इव परिहरि सब आसा ।।[3]

इसी प्रकार वर्षा ऋतु मे नदी-नद तालावो मे जल एकत्र होने का जो उल्लेख किया गया है—

छुद्र नदी भरि चलीं तोराई । जस थोरेहुँ धन खल इतराई ।।
भूमि परत भा ढाबर पानी । जनु जीवहि माया लपटानी ।।
समिटि समिटि जल भरहिं तलाबा । जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा ।।[4]

उसके विपरीत शरद ऋतु मे नदी-तालाबो का पानी सूखने का उल्लेख किया गया है—

रस रस सूख सरित सर पानी ।[5]

इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने ऋतु परिवर्तनगत वैपरीत्य अपने काव्य म अंकित किया है, किन्तु जहाँ वाल्मीकि ने वैपरीत्यपूर्ण दृश्यो का प्रभावशाली चित्रण किया है, वहाँ तुलसीदास ने परिवर्तन की सूचना भर दी है। इसका कारण दोनो कवियों की प्रकृति वर्णन विषयक प्रवृत्ति मे निहित है । वाल्मीकि प्रकृति को उसके विशद रूप मे ग्रहण करते हैं जबकि तुलसीदास प्रकृति व्यापारों की गणना करना ही पर्याप्त समझते हैं । सच तो यह है कि मानसकार को न तो प्राकृत जनों से लगाव न है प्रकृति-व्यापार से ही । प्रसंग आ जाने पर वे उसके विभिन्न व्यापारो की चर्चा कर अपने तत्सम्बन्धी ज्ञान का परिचय तो दे देते हैं, किन्तु उसमे अपनी तल्लीनता व्यक्त नही करते जबकि वाल्मीकि की चेतना प्रकृति-व्यापार में अतर्लीन हो जाती है ।

सामयिक प्रभाव

प्राकृतिक स्थितियों का प्राणि-जगत पर जो प्रभाव पड़ता है, वाल्मीकि ने उसका चित्रण भी बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है । उन्होने पशु पक्षियों और मनुष्यों

१—मानस, ४।१५।१
२—वही, ४/१५
३—वही, ४/१५/५
४—वही, ४।१३।३ ४
५—वही, ४/१५/३

के जीवन पर प्रकृति के सहज प्रभाव को अत्यत सूक्ष्म रूप में रामायण मे अंकित किया है। वर्षा ऋतु मे हंसों के मानसरोवर-प्रस्थान, चकवा-चकवी के मिलन,[१] मयूरों के हर्षोन्माद,[२] मेढकों की टरटराहट,[३] साँडों की कामोत्तेजना[४] वानरो की निश्चिन्तता तथा हाथियो को गर्जना,[५] शरद ऋतु मे मोरों की विरक्ति,[६] गजराजो की गति-मन्दता,[७] काम-पीडित हथिनी द्वारा हाथी को घेर कर उसका अनुसरण, साँपो का बिलो से निकलना[८] आदि कुछ ऐसे उल्लेख हैं जिनसे पशु-पक्षियो के जीवन पर ऋतु-प्रभाव के अंकन मे कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का पता चलता है। इसी प्रकार हेमत ऋतु का वर्णन करते हुए कवि ने पशु-पक्षियो के जीवन की ऋतुप्रभूत गतिविधि का प्रभावशाली चित्रण किया है। हेमत म जल के निकट होने पर भी जलचर पक्षी पानी मे उतरने का साहस नहीं करते—

ऐतेहि समुपासीना विहगा जलचारिणः।
नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम् ॥[९]

और प्यासा हाथी अपनी प्यास बुझाने के लिये सूंड को जल मे डालते ही पानी की असह्य ठंडक के कारण तुरन्त ही सिकोड लेता है—

स्पृशन् सुविपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥[१०]

वसत ऋतु मे कवि ने मोरो की कामोत्तेजना[११] तथा हर्षोन्मत्त पक्षि समूह के कलरव[१२] का चित्रण करते हुए उनके जीवन पर ऋतु का मादक प्रभाव दिखलाया है।

केवल पशु पक्षियो के सम्बन्ध मे ही नहो, मानव-जीवन पर प्रकृति के प्रभाव के सम्बन्ध मे भी वाल्मीकि बहुत सचेत रहे हैं। वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए उन्होने

---

[१] —वाल्मीकि रामायण, ४।२८।१६
[२] —वही ४।२८।२१
[३] —वही, ४।२८।३८
[४] —वही, ४।२८।२६
[५] —वही, ४।२८।२७
[६] —वही, ४।३०।३१
[७] —वही, ४।३०।३५
[८] —वही, ४।३०।४५
[९] —वही, ३।१६।२२
[१०] —वही, ३।१६।२१
[११] —वही, ४।१।३८-४०,४२
[१२] —वही, ३।१६।४६

कामासक्ता कांता के प्रियगमन का उल्लेख किया है[१] और वर्षा के कारण मार्ग तथा राजाओ के वैर दोनो के अवरुद्ध होने की चर्चा की है।[२] इसके विपरीत शरद ऋतु मे मार्ग खुल जाने से राजाओ मे शत्रुता पुनः उद्दीप्त होने और उनके तत्सम्बन्धी उद्योगो मे लग जाने की बात भी वाल्मीकि ने कही है।[३]

मानस मे ऋतुओ के प्रभाव का ऐसा व्यापक एवं विशद चित्रण तो नहीं है, फिर भी उस ओर कुछ संकेत अवश्य दिखलाई देते हैं। वाल्मीकि रामायण के समान मानसकार ने भी वर्षा ऋतु मे मयूर-नृत्य,[४] चक्रवाक-पलायन[५] तथा मार्गावरोध[६] का उल्लेख किया है और शरद ऋतु मे भूमिगत जीवो के बाहर निकलने[७] तथा नृप, तपस्वी, वणिक और भिखारियो के नगर-निष्क्रमण की चर्चा की है।[८] वाल्मीकि ने वर्षा मे मार्गावरोध के कारण राजाओ की यात्रा के स्थगन और शरद मे उनकी यात्रा आरम्भ होने की बात कही थी। मानसकार ने तपस्वी, वणिक और भिखारियो का अंतर्भाव करते हुए सूची बढा दी है। वाल्मीकि के प्रभाव-विषयक उल्लेख विस्तृत और चित्रात्मक हैं जबकि मानस मे वे सूचीबद्ध-से जान पडते हैं। दूसरी बात यह है कि मानस के प्रस्तुत उल्लेख अप्रस्तुतो के मध्य बिखर-से गये हैं और इनकी संख्या भी अत्यल्प है।

प्रकृति-संवेदन

वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति की रमणीयता के प्रति मुग्धता की अभिव्यक्ति भी परिदृश्य-चित्रण के बीच-बीच मे होती रही है जिससे प्रकृति-सौन्दर्य का प्रभाव द्विगुणित हो गया है। एक ओर प्रकृति का अपना वैभव है तो दूसरी ओर उस पर मुग्ध होने वाला हृदय भी है। इस प्रकार उत्तेजना-प्रतिक्रिया (स्टीमुलेशन रेसपांस) की उभयपक्षीय समग्रता मे प्रकृति का सौन्दर्य बहुत निखर उठा है। वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति-सन्निकर्ष से इन्द्रियतोष और समग्रव्यक्तित्व के आनन्द-लाभ दोनो का समावेश किया गया है। वर्षा-वर्णन के अंतर्गत वाल्मीकि ने बरसाती वायु के

१—वाल्मीकि रामायण, ४।२८।२५
२—वही, ४।२८।५३
३—वही, ४।३०।६०
४—मानस, ४।१३
५—वही, ४।१४।५
६—वही, ४।१४।६
७—वही, ४।१७
८—वही, ४।१६

सस्पर्श से राम की आतरिक मुग्धता प्रकट की है। वे कहते हैं, वर्षा ऋतु की सुगधित एव शीतल वायु को अंजुलियो मे भरकर पिया जा सकता है—

मेघोदरविनिर्मुक्ता कर्पूरदलशीतला ।
शक्यमञ्जलिभिः पातु वाता केतक गन्धिनः ॥[१]

इसी प्रकार वासती पवन के सस्पर्श से श्रमपरिहार की अनुभूति का उल्लेख करते हुए वे उसकी सुखदता की चर्चा करते हैं—

स एव सुख सस्पर्शो वाति चन्दनशीतल ।
गन्धमभ्यवहन् पुण्य श्रमापनयनोऽनिल ।[२]

और प्रकृति-वैभव के कारण सीता-वियोगार्त राम भी पम्पा सरोवर को देखकर उसकी रमणीयता से अभिभूत हो जाते हैं--

शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना ।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा ॥[३]

हेमन्त ऋतु मे धूप की सुखदता और चांदनी की मलिनता के उल्लेख के रूप मे कवि ने प्रकृति-सवेदन की प्रभावशाली व्यजना की है—

अग्राह्यवीर्य. पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शत सुख. ।
सरक्तः किंचिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ ॥[४]

× × ×

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।
ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ॥[५]

प्रकृति-सम्पर्क से अनेक बार चेतना इस तरह आच्छन्न हो जाती है कि द्रष्टा कुछ समय के लिए जगत् की यथार्थता का अतिक्रमणकर दृश्य मे तल्लीन हो जाता है तथा प्रकृति और अपने बीच के व्यवधान के अतिक्रमण की कामना से पुलक उठता है। वर्षा-वर्णन के अन्तर्गत वाल्मीकि ने राम की इसी मन स्थिति का चित्रण किया हैं। इसी कामना से प्रेरित होकर राम सोचते हैं कि मेघ रूपी सोपानों पर चढ़कर सूर्यदेव को गिरिमल्लिका और अर्जुन पुष्प की मालाएं पहना सकना सरल हो गया है —

शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपंक्तिभिः ।
कुटजार्जुनमालाभिरलतुं दिवाकरः ॥[६]

---

[१] —वाल्मीकि रामायण, ४/२८/८

[२] —वही, ४/१/१७

[३] —वही, ४।१।६

[४] —वही, ३।१६।१९

[५] वही, ३/१६/१३-१४

[६] —वही, ४।२८।४

मानस मे प्रकृति-सम्पर्क से उद्बुद्ध इस प्रकार के उद्गारों का प्राय: अभाव है। प्रकृति के प्रति द्रष्टा की अनुरक्ति या मुग्धता बहुत ही थोड़े स्थलो पर अत्यल्प वेग के साथ व्यक्त हुई है। एकाध स्थान पर ही राम लक्ष्मण के समक्ष प्रकृति सौन्दर्य से अभिभूति व्यक्त करते दिखलायी देते हैं, जैसे—

देखहु तात बसत सुहावा।[1]

ऐसे उल्लेख तो वाल्मीकि रामायण मे कितने ही स्थलों पर मिलते हैं। इनमे द्रष्टा की दृश्य के प्रति मुग्धता का हल्का सा सस्पर्श तो है किन्तु इसकी भावात्मक शक्ति बहुत कम जान पड़ती है। मानस का कवि स्वय ही प्रकृतिसाक्षात्कारजन्य आनन्द के प्रति और इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य के प्रति अधिक अनुरक्त प्रतीत नही होता। उसकी रुचि मूलत भक्ति और नीति मे है। इसलिए उसने प्रकृति वर्णन को प्राय दृष्टान्तो या उपदेशो का माध्यम बनाया है या अधिक से-अधिक उद्दीपन के लिए उसका उपयोग किया है।

साहचर्य

वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति के साहचर्य से स्मृति की उद्दीप्ति भी बड़े स्वाभाविक रूप मे चित्रित की गई है जबकि मानस मे इस प्रकार साहचर्यवश स्मृति की उद्दीप्ति दिखलायी नही देती। वाल्मीकि रामायण मे हेमन्त और वर्षा ऋतुओ मे क्रमश लक्ष्मण और राम को सहसा भरत का स्मरण हो आता है। हेमन्त ऋतु मे लक्ष्मण सोचते हैं कि इस वेला मे भरत सरयू मे स्नान करने जाते होगे। उस ऋतु मे भरत के सरयू-स्नान से सभावित कष्ट की चिंता उन्हे सताती है—

सोऽपि वेलामिमा नूनमभिषेकार्थमुद्यत।
वृत प्रकृतिभिर्नित्य प्रयाति सरयू नदीम॥
अत्यन्त सुखसवृद्ध सुकुमारो हिमार्दित।
कथ त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥[2]

इसी प्रकार वर्षागमन पर राम के मन मे यह विचार उत्पन्न होता है कि इस ऋतु मे अयोध्या मे भरत क्या कर रहे होगे? और यह सोचते सोचते उन्हें अपने अयोध्या त्याग का स्मरण हो जाता है और उस सदर्भ मे अयोध्यावासियों के आर्त्तनाद और वर्षा ऋतु में सरयू के प्रवाह की वृद्धि मे सादृश्य दिखलाई देने लगता है। इस प्रकार राम का अनुचिन्तन प्रकृति के सहारे सहारे गतिशील दिखलाई देता है-

---

[1] —मानस, ३/३६/५

[2] —वाल्मीकि रामायण, ३।१६।२९ ३०

निवृत्तकर्मायतनो नूनं संचितसंचयः।
आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः॥
नूनमापूर्यमाणायाः सरय्वा वर्धते रयः।
मां समीक्ष्य समायान्तमयोध्याया इव स्वनः॥[1]

वसंत-वर्णन में सीता के प्रिय पुष्प के दर्शन से राम के अंतर में उनकी स्मृति की उद्दीप्ति दिखलाकर कवि ने साहचर्य के प्रभाव का बहुत अच्छा उपयोग किया है :

पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं प्रियपङ्कजाम् :
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते ॥[2]

यदि मानस में भी प्रकृतिगत साहचर्य का ऐसा प्रभावशाली प्रकरण कहीं होता तो उसके सौन्दर्य में प्रभूत वृद्धि हो गई होती।

उद्दीपन-शक्ति

प्रकृति में भावोद्दीपन की प्रबल शक्ति होती है। प्रकृतीतर आलम्बन के प्रति जब प्रकृति-दर्शन से भावोद्दीप्ति हो तभी उसे उद्दीपन कोटि के प्रकृति-वर्णन की संज्ञा दी जा सकती है। प्रकृति का वैभव जहाँ एक ओर द्रष्टा को मुग्ध करता है—द्रष्टा के हृदय में सौन्दर्य-बोध द्वारा आनंद उत्पन्न करता है और साहचर्यवश मन में अतीत की स्मृतियाँ जगाता है, वहीं परिस्थिति-प्रतिकूल होने पर उसे व्यथित भी करता है। वाल्मीकि ने आलम्बन-रूप में प्रकृति-दर्शन से उद्भूत हर्ष और पत्नी वियोगजन्य परिस्थिति के कारण उद्दीपन रूप में प्रकृति-वैभव के साक्षात्कार से उत्पन्न मनोव्यथा का बहुत सुंदर चित्रण किया है। पम्पा के सौन्दर्य को देखकर राम एक ही साथ मुग्ध होकर आनन्दित भी होते हैं और प्रिया-वियोग से व्यथित भी—

सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम्।
यत्र राजन्ति शैला वा द्रुमाः सशिखरा इव।
मां तु शोकाभिसन्तप्तमाधयः पीडयन्ति वै।
भरतस्य च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च॥
शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा॥[3]

मानसकार ने वसंत-वर्णन में इस प्रकार का संकेत तो अवश्य किया है, किन्तु उसमें प्रकृति-साक्षात्कार से उत्पन्न हर्षोद्वेग का ऐसा स्पष्ट एवं पूर्ण चित्रण नहीं है। मानस

१—वाल्मीकि रामायण, ४/२८/५५-५६
२—वही, ४।१।६७
३—वही, ४।१।४-६

मे राम यह कहते हुए कि वसत सुहावना लग रहा है तुरन्त ही उससे अपने त्रस्त होने की बात कहते हैं—

देखहु तात बसत सुहावा । प्रिया हीन मोहि भय उपजावा ॥[1]

परन्तु इस उक्ति मे हर्षोद्वेग की वैसी सघनता और प्रबल विरोध-चेतना नही है जैसी वाल्मीकि रामायण में दिखलाई देती है ।

वाल्मीकि ने प्रकृति की उद्दीपन शक्ति को अनेक रूपो मे चित्रित किया है । कही प्रकृति-सौन्दय परिस्थिति-प्रतिकूलता के कारण कष्टकारक बन जाता है, कही प्रकृति के साथ प्रिया अथवा उसके अगों का सादृश्य उसके स्मरण को उद्दीप्त करता है कहीं साहचर्य (एसोसिएशन) के कारण प्रिया का स्मरण हो आता है और कहीं प्रकृति की मादकता भावोद्दीप्ति मे योग देती है । पशुपक्षियो के दाम्पत्य को देखकर अपनी प्रिया के वियोग की चेतना हो आना भी प्रकृति की उद्दीपन-शक्ति का ही परिणाम है ।

वाल्मीकि रामायण मे अनेक स्थलो पर प्रकृति की उद्दीपन-शक्ति के ये विभिन्न रूप परस्पर गुथ गये हैं । वसत-वर्णन मे वसंत की मादकता प्रिया वियोग के कारण राम के लिये दुखदायी हो गयी है । उस पर तिर्यग्योनि मे पड़े हुए प्राणियो का अनुराग देखकर वे अपनी प्रिया के अपहरण की चेतना से और भी खिन्न हो जाते हैं और सोचते हैं *कि यदि सीता का अपहरण न हुआ होता तो वे भी उनके पास* वैसे ही पहुंचती जैसे उस क्षण उनके देखते हुए मोरनी कामभाव से मोर के पास पहुंची थी -

मम त्वय विना वासः पुष्पमासे सुदु सहः ॥
पश्य लक्ष्मण सरागस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
यदेषा शिखिनी कामाद् भर्तारमभिवर्तते ॥
ममाप्येव विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा ।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत् ॥[2]

और ऐसी स्थिति मे सुखद वसत भी दुखद बन जाता है । फूलो से सुगन्धित वायु अग्नि के समान तपाती है—

एष पुष्पवहो वायु. सुखस्पर्शो हिमावह. ।
तां विचि तयतः कान्ता पावकप्रतिमो मम ॥
सदा सुखमह मन्ये य पुरा सह सीतया ।
मारुत स विना सीतां शोकसजननो मम ॥[3]

---

[1] —मानस, ३।३८।५

[2] वाल्मीकि रामायण, ४।१।४१-४३

[3] —वही, ४।१।५३-५४

सीता के रूप साहृश्य के कारण भी वसत ऋतु वियोग को उद्दीप्त करती है। कमलो को देखकर राम को सीता के नेत्रकोषो की स्मृति हो आती है और सौरभ-पूर्ण वासती वायु से उन्हे सीता के निश्वासो का ध्यान हो आता है -

पद्मकोशपलाशानि द्रष्टु दृष्टिर्हि मन्यते।
सीताया नेत्रकोशाभ्या सदृशानीति लक्ष्मण ॥
पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनि सृत. ।
निश्वास इव सीताया. वाति वायुर्मनोहर: ॥[1]

सीता को प्रिय होने के कारण भी वसत राम के मन म साहचर्य के बल पर उनकी स्मृति उत्पन्न करता है। जलकुक्कुट की ध्वनि सुनकर राम को याद आता है कि सीता को भी उसका शब्द बहुत प्रिय था।[2] वसन्त ऋतु का समय उन्हे बहुत प्रिय था—इस बात का विचारकर राम बडे व्यथित होते हैं।[3] यह व्यथा इस चिता मे और भी बढ जाती है कि वसंत ऋतु के इस घातक प्रभाव से सीता पर क्या बीत रही होगी—

नून न तु वसन्तस्त देश स्पृशति यत्र सा ।
कथ ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेन् सा मया विना ॥
अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः ॥
श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषा च मे प्रिया ।
नून वसंतमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥[4]

मानस मे भी प्रकृति की उद्दीपन-शक्ति व्यक्त हुई है, किन्तु उसमे इस प्रकार की विश्लेषणा का अभाव है। मानस मे राम घन-गर्जना सुनकर डरते हैं[5] वसतागमन को काम के अभियान के रूप मे देखकर भयभीत होते हैं,[6] किन्तु समुचित विकास के अभाव मे प्रकृति की उद्दीपन-शक्ति उभर नहीं सकी है। प्रकृति-वर्णन के प्रसगो मे तो नहीं, लेकिन सीता को दिये गये सदेश मे प्रकृति की उद्दीपन शक्ति अवश्य निखरी हुई दिखलाई देती है —

१—वाल्मीकि रामायण, ४।१।७१-७२
२—वही, ४/१।२५
३—वही, ४/१/३१
४—वही, ४।१।४८-५०
५—मानस, ४।१३।१
६—वही, ३/३८/५

नव तरु किसलय मनहु कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू ॥
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा ॥[1]

उत्प्रेक्षण, प्रक्षेपण और भावारोप

वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति-व्यापार के साक्षात्कार के परिणामस्वरूप द्रष्टा की मानसिक प्रतिक्रिया उसकी कल्पना-शक्ति की उद्दीप्ति के रूप मे भी व्यक्त हुई है जबकि मानस मे उसका परिणाम नैतिक और धार्मिक उद्‌बोधन के रूप मे दिखलाई देता है। वाल्मीकि मे प्रकृति-सन्निकर्ष से द्रष्टा की कल्पना-शक्ति का उन्मेष अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है क्योकि उनका सबध या तो प्रकृति-व्यापार के मध्य मानवीय विधान से रहा है या प्रकृति मे अपने भावो को प्रतिबिम्बित किया गया है या फिर प्रकृति को भावात्मक सन्दर्भ से युक्त किया गया है और इस दृष्टि से भी वाल्मीकि का प्रकृति-वर्णन बहुत समृद्ध दिखलाई देता है क्योकि प्रकृति-दर्शन से मानवीय कल्पना सहज रूप मे स्फूर्त हुई है, अप्रासंगिक आरोपण-प्रवृत्ति के दर्शन इस महान काव्य मे नही होते।

वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति-विषयक उत्प्रेक्षाएँ दो प्रकार की है—(१) पात्र के भाव-जगत् से उद्‌भूत, (२) दृश्यगत वैशिष्ट्य से उद्‌भूत। वियोग-संतप्त राम द्वारा वसन्त ऋतु का अग्नि रूप मे साक्षात्कार प्रथम प्रकार का प्रक्षेपण है। उन्हे अशोक-पुष्प के लाल-लाल गुच्छे अगारवत् प्रतीत होते हैं, नूतन पल्लव लाल लपटों के रूप में दिखलायी देते हैं और भ्रमरो की गुंजार मे अग्नि की चट-चट सुनाई देती है।[2] ऐसी मन स्थिति मे राम को अशोक अपने वायु-प्रताडित स्तवको से डाँटता हुआ जान पडता है,[3] लेकिन जब राम प्रकृति-वैभव से अभिभूत होकर थोडी देर के लिए अपनी व्यथा से मुक्त हो जाते हैं तो उनकी कल्पना-शक्ति उस दृश्य के सम्मूर्तन मे संलग्न हो जाती है और तब उन्हें पुष्पित कनेर स्वर्णाभूषण-भूषित पीताम्बरधारी मनुष्य के रूप मे दिखलायी देता है[4] और वायु-कम्पित तिलक मञ्जरी पर आसीन भ्रमर उस प्रेमी के समान जान पड़ता है जो अपनी मदोद्धत प्रेयसी से मिल रहा हो।[5]

१—मानस, ५।१४।१-२
२—वाल्मीकि रामायण, ४।१।२९३०
३—वही, ४।१।५९
४—वही, ४।१।२१
५—वही, ४।१।५८

प्रकृति मे मानवीय भावो का आरोपण भी प्रक्षेपण का ही परिणाम है। वाल्मीकि के राम प्रकृति की सजीवता का अनुभव करते हुए वर्षाकालीन नदियों के तीव्र प्रवाह को कामातुर युवतियो के पति-गमन के रूप मे देखते हैं।[1]

मानस मे प्रक्षेपण धर्म और नीति के घेरे मे घिरा रहने के कारण इतना सहज एव यथार्थपरक तथा वैविध्यपूर्ण दिखलायी नहीं देता। वहाँ प्रक्षेपण का मुख्य आधार दृश्य का स्वरूप है। प्राकृतिक दृश्यो मे मानसकार को धर्म और नीति की जो झलक दिखलायी दी है उसके परिणामस्वरूप प्रकृति और धर्म तथा प्रकृति और नीति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-रूप मे समानातर वर्णन हुआ है। इस प्रकृति के परिणामस्वरूप उन्हे वर्षा ऋतु मे बूँद का आघात सहने वाले पहाडो में दुष्टो के वचन सहने वाले सतो के दर्शन हुए हैं -

बूँद अघात सहैं गिरि कैसें। खल के बचन संत सहैं जैसें ।।[2]

और सिमट-सिमट कर तालाबों मे जल भरने मे उन्हे सज्जनो के पास सद्गुणो के आने का दृश्य दिखलाई देता है -

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुण सज्जन पहिं आवा ।।[3]

इसी प्रकार शरद ऋतु में मार्गो के पानी के सूखने मे उन्हें संतोष द्वारा लाभ का प्रशमन दिखलाई देता है—

उदित अगस्त पथ जल सोखा। जिमि लोभइ सोषइ संतोषा ।।[4]

इस प्रकार मानसकार को वर्षा एवं शरद् ऋतु के विभिन प्रसंगो मे नीति, धर्म[5] या राज्य विषयक सिद्धान्त[6] का प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है।

इस प्रतिबिम्बन मे भी एक प्रकार का आकर्षण है क्योंकि ऐसी उक्तियों में मानव-जीवन और प्रकृति एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं जिसमे जीवन मे प्रकृतिसिद्ध सत्य का और प्रकृति मे मानव-जीवन की चैतन्यता का समावेश हो जाता है, किन्तु यह बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव आयाससाध्य और आरोपित प्रतीत होता है क्योंकि उनका उन्मेष वैसा प्रासंगिक एवं सहज स्फूर्त प्रतीत नही होता जैसा वाल्मीकि रामायण के प्रकृति वर्णन मे मानवीय आरोप अथवा भावदशा के प्रक्षेपण मे दिखलाई देता है।

१—वाल्मीकि रामायण ४।२८।३९

२ मानस, ४।१३।२

३ - वही, ४।१३।४

४ —मानस, ४।१६।२

५ —ऊसर बरसइ तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हियँ उपज न कामा ।। — वही, ४।१४।५

६ —पंक न रेनु सोह अस धरनी। नीति निपुन नृप कै जस करनी ।।—वही ४।१५।४

प्रकृति-व्यापार मे कवि को मानव-जीवन की झलक मिलती है और तब वह प्रकृति-व्यापार पर मानव-जीवन की गतिविधि का आरोप करते हुए दोनों को एकाकार कर देता है। वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो ने प्रकृति और मानव-जीवन को एकात्म करते हुए इस प्रकार के रूपकों की सृष्टि की है, किन्तु वाल्मीकि के प्रकृति विषयक रूपकों मे जहाँ प्रकृति के सहज जीवन-तत्त्व का उन्मीलन दिखलाई देता है, वहाँ मानस मे प्रकृति का रूपात्मक वर्णन उपदेश का माध्यम बन गया है। एक ओर प्रकृति मे जीवन-माधुर्य की जीवन्त अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी ओर प्रकृति के व्याज से कवि ने श्रेयस्कर सन्देश देना चाहा है। वाल्मीकि रामायण मे पम्पा-सरोवर के तटवर्ती चैत्र के वसन्त वैभव मे विरह व्यथित राम को वायु-वेग मे संगीतपूर्ण नृत्य शिक्षा की झलक मिलती है।[1]

वर्षा वर्णन मे भी वाल्मीकि ने इसी प्रकार संगीत-नृत्य का रूपक उपस्थित किया है। भ्रमरों की गुंजार मधुर वीणा-ध्वनि है, मेढकों का स्वर कंठताल के समान प्रतीत होता है, मेघ गर्जना के रूप मे मृदंग बज रहे हैं। इस संगीतपूर्ण वातावरण मे मयूर-नृत्य से नृत्य-गान समारोह का दृश्य उपस्थित हो गया है।[2] शरद वर्णन मे कवि ने ज्योत्स्नावृत रात्रि को श्वेत परिधानावृत मानवी के रूप में उपस्थित किया है।[3]

मानव जीवन के सुन्दर एवं सुखपूर्ण पक्ष को ही वाल्मीकि ने प्रकृति पर आरोपित नही किया है, उसके उत्पीडित पक्ष की झलक भी उन्होने प्रकृति के माध्यम से दिखलाई है। वर्षा वर्णन मे बिजली की चमक और मेघ गर्जना को संकलित करते हुए वाल्मीकि ने उसे विद्युत्-कशाघात-ताडित आकाश के आर्तनाद का रूप दिया है—

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम् ।
अंत स्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥[4]

रामचरितमानस मे प्रकृति के माध्यम से मानव-जीवन के ऐसे स्वाभाविक एवं प्रभावशाली चित्र नही मिलते फिर भी मानसकार ने वसन्त-वर्णन के अंतर्गत वसन्तागमन के रूप मे कामदेव की सेना के विजयाभियान का शक्तिशाली चित्रण किया है। यद्यपि उस रूपक में वैसी सहजता एवं संश्लिष्टता नहीं है जैसी वाल्मीकि

१—वाल्मीकि रामायण, ४।१।१५
२—वही, ४।२८।३६ ३७
३—वही, ४।३०।४६
४—वही, ४।२८।११

रामायण के प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी अंशों में मिलती है, फिर भी काम-पीड़ित राम के द्वारा वसंतागमन को एक आशंका के रूप में देखना सर्वथा प्रासंगिक एवं अनुभूति प्रेरित प्रतीत होता है। तुलसीदासजी ने अपनी व्याख्यात्मक प्रकृति के अनुसार वसंत के एक-एक अंग का सादृश्य सेना के एक-एक अंग एवं उसकी एक-एक गतिविधि से दिखलाया है।[1]

प्रकृति पर प्रकृति का आरोप

वाल्मीकि रामायण में प्राकृतिक दृश्यों के सम्पूर्ति के लिये अप्रस्तुत रूप में भी प्रकृति के उपादानों का उपयोग किया गया है जिससे प्रकृति-सौन्दर्य में दोहरी प्रभविष्णुता उत्पन्न हो गई है। आकाश में उड़ती हुई सारस-पंक्ति के सौन्दर्य को कवि ने वायुकम्पित-पुष्पमाला की कल्पना के सहारे अंकित किया है—

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा प्रहर्षिता सारसचारुपंक्तिः ।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा वातावधूता प्रथितेव माला ।।[2]

और कुमुदों से भरे हुए उस जलाशय को, जिसमें एक हंस सोया हुआ है कवि ने निर्मेघ आकाश में तारों के मध्य प्रकाशमान चन्द्रमा के सौन्दर्य के अनुमान से चित्रित किया है—

सुप्तैक हंस कुमुदैरुपेतं महाह्रदस्य सलिलं विभाति ।
घनैर्विमुक्त निशि पूर्णचन्द्रं तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ।।[3]

एक प्राकृतिक छवि को दूसरी के सादृश्य से अंकित करने में आदि कवि का वैलक्षण्य व्यक्त हुआ है। इस संबंध में वाल्मीकि रामायण से मानस की कोई समता नहीं है।

प्रकृति और चेतना-प्रवाह की टकराहट

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में प्रकारांतर से मानव-चेतना पर प्रकृति की प्रभाव शक्ति का चित्रण किया गया है, किन्तु वाल्मीकि रामायण में मानव-चेतना के प्रवाह की गति से प्राकृतिक दृश्य की टकराहट का जो यथार्थमूलक चित्रण दिखलाई देता है वह मानस में प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता। चित्रकूट की शोभा का वर्णन करते हुए राम अपने वनवास औचित्यीकरण में लग जाते हैं—

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते ।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि ।।

१—मानस, ३।३६।४ ३७।६

२—वाल्मीकि रामायण, ४।३०।४७

३—वही, ४।३०।४८

अनेन वनवासेन मम प्राप्त फलद्वयम् ।
पितुश्चानृण्यता धर्मे भरतस्य प्रिय तथा ॥[1]

और तदुपरान्त उनकी चेतना पुन उसकी रमणीयता पर लौट जाती है और अन्त मे वे पुन उस रमणीय दृश्य के मध्य जीवन यापन का अवसर प्राप्त होने के रूप मे अपने निर्वासन का औचित्य प्रतिपादित करने लगते हैं।[2] इसी प्रकार पम्पा-सरोवर के सान्निध्य में वसन्त की शोभा का वर्णन करते-करते राम सीता के विरह से व्यथित होने लगते हैं[3] और तदुपरान्त पुन प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति उन्मुख हो जाते हैं। द्रष्टा की चेतना के क्रमिक विपर्यातरण का बडा ही स्वाभाविक चित्रण आदि कवि ने किया है। साहचर्यवश प्रकृति की शोभा राम को सीता की स्मृति मे निमग्न कर देती है और तदुपरात साहचर्य के बल पर ही उनका ध्यान प्रकृति सौन्दर्य की ओर खीचते हुए पुन उन्हे उसी मे लीन होने कवि ने दिखलाया है।[4] इस प्रकार आतर-बाह्य जगत् की अन्त क्रिया का एक सशक्त चित्र वाल्मीकि के प्रकृति वर्णन मे मिलता है। इस रूप मे प्रकृति और चेतना प्रवाह की टहराहट मानस मे दिखलाई नही देती।

प्रकृति वर्णन-पद्धति

वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो की प्रकृति वर्णन पद्धति मे भी बहुत अ तर है। यह अ तर मुख्यतया सघनता से सम्बधित है। वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति-वर्णन मानस की तुलना में बहुत अधिक सघन और स श्लिष्ट है जबकि मानस मे प्रकृति वर्णन बहुत कुछ विश्लिष्ट एव क्षीण है। वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति व्यापार तो प्राय एक दूसरे से गुथे हुए और गतिशील रूप मे अ कित हुए ही हैं, उसके साथ ही द्रष्टा की प्रतिक्रिया भी उनके साथ निर तर गुथती रही है। कही प्रकृति की रमणीयता के प्रति द्रष्टा की मुग्धता कहीं प्रकृति-सन्निकर्ष से उनकी भावोद्दीप्ति, कही उसके द्वारा प्रकृति म आत्मप्रक्षेपण, कही दो प्राकृतिक पदार्थों या व्यापारो मे उनके द्वारा ममता स्थापन, कहीं साहचर्यवश स्मृति-जागरण और कही मुक्त साहचर्यों की लीला के रूप मे दृश्य और द्रष्टा की प्रतिक्रिया का चित्रण एक दूसरे के सान्निध्य मे हुआ है। फलत वाल्मीकि के प्रकृति-चित्रण में यथार्थ के ठोस आधार पर प्रकृति के रूप वैविध्य और उसकी गतिशीलता का अत्यन्त व्यापक, सूक्ष्म एव सघन चित्रण

१—वाल्मीकि रामायण, २।९४।१६।१७
२—वाल्मीकि रामायण, २।९४।२७
३—वही, ४।१।२७ ५४
४—वही ४।१।५५।६०

दिखलाई देता है। मानसकार ने संक्षेप में अधिक से अधिक प्रकृति-व्यापारों को समेटने की चेष्टा की है जिसके परिणामस्वरूप उनके वर्णन सूचीबद्ध-से दिखलाई देते हैं। प्रकृति-व्यापारों का जो उल्लेख मानसकार ने किया है वह अधिक से अधिक रेखा-चित्र कहलाने का अधिकारी है। उनमें रेखाएँ खींच दी गई हैं, किन्तु रंग नहीं भरे जा सके हैं। उपदेशात्मकता के परिणाम स्वरूप प्रकृति और जीवन में जो बिम्ब-प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है उससे इन वर्णनों के प्रभाव में वृद्धि अवश्य हुई है किन्तु वहाँ प्रकृतीतर तत्वों को भी प्रकृति के समान-महत्व मिल जाने से प्रकृति-सौन्दर्य का एकांत प्रभाव दिखलाई नहीं देता। प्रकृति-वर्णन के बीच में प्रकृतीतर तत्वों के आ जाने से प्रकृति सौन्दर्य की निरंतरता बाधित हुई है और सघनता के लिये अनुकूल स्थिति नहीं आ पाई है। यद्यपि मानसकार ने प्रकृति वर्णन को बिखरने से बचाये रखा है, फिर भी उनकी संश्लिष्टता की रक्षा नहीं हो सकी है। दृश्य और द्रष्टा की प्रतिक्रियाओं का समाहार भी मानस के प्रकृति-वर्णन में दिखलाई नहीं देता। यह कहना अधिक उचित होगा कि मानस में प्रकृति-वर्णन स्वयं-प्रयोज्य न होकर प्रायः नैतिक और धार्मिक उपदेशात्मकता का साधन रहा है।

अन्य वर्णन

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में प्रकृति के अतिरिक्त मनुष्यों और वस्तुओं का वर्णन भी हुआ है। मनुष्यों के रूप और उनकी शक्ति तथा उनकी कुछ क्रियाओं, जैसे युद्ध, यात्राओं, समारोहों आदि का वर्णन दोनों महाकवियों ने किया है। वस्तु-वर्णन में नगर-वर्णन सर्वाधिक उल्लेखनीय है क्योंकि दोनों कवियों ने इसी ओर विशेष रुचि व्यक्त की है।

रूप-वर्णन

वाल्मीकि रामायण तथा रामचरितमानस दोनों में अनेक स्थानों पर विभिन्न मनुष्यों के रूप का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि रामायण में रूप-वर्णन कथा-गति के सहज मोड़ के रूप में प्रसंगतः आये हैं जबकि मानसकार ने कहीं-कहीं उनके लिए सायास अवसर निकाला है।

दोनों काव्यों में सुन्दर और असुन्दर दोनों प्रकार के रूप का चित्रण किया गया है। सुन्दर रूप के वर्णन से तो काव्य सौन्दर्य में निखार आया ही है, असुन्दर रूप-वर्णन से भी सजीवता और वर्णन-नैपुण्य के परिणामस्वरूप काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि हुई है। स्वभावतः सुन्दर रूप का सम्बन्ध नायक-पक्ष से होता है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने नायक-पक्ष के रूप-सौन्दर्य को उद्घाटित किया है।

वाल्मीकि रामायण मे राम से प्रणय-याचना में असफल और अपमानित शूर्पणखा रावण को राम के विरुद्ध भड़काती हुई रावण को उनका जो परिचय देती है उसके अन्तर्गत राम के रूप का भी संक्षिप्त वर्णन करती है। वह उनकी लम्बी भुजाओ और बडी-बडी आँखो का उल्लेख करती हुई उनके समग्र रूप सौन्दर्य को कामदेव के समान बतलाती है।[1] बाहुओ की विशालता से राम का पराक्रम, बडी-बडी आखो से उनकी आकर्षण-शक्ति और समग्रता कामदेव के समान रूप से उनकी असाधारण मोहकता व्यक्त हो रही है। मानसकार ने भी अनेक स्थलो पर राम के सौन्दर्य की व्यंजना के लिए उन्हे कामदेव के समान (या उससे भी बढकर) बतलाया है उनकी विशाल भुजाओ का उल्लेख किया है और उनके अन्य अंगों की सुन्दरता की चर्चा करते हुए उनकी वेश-भूषा का भी वर्णन किया है।[2] उपर्युक्त वर्णन मे राम के सौन्दर्य-विषयक अनेक प्रभावशाली उक्तियो का अन्तर्भाव हुआ है। अरुण चरण, उज्ज्वल नख, भूषण विभूषित विशाल भुजाएँ, कम्बु-कण्ठ, दो-दो दतुलियाँ, अरुणाधर, तोतले बोल, माता द्वारा काले-घुघराले बालो की सज्जा आदि के रूप मे बाल-सौन्दर्य के अनेक उपादान समकालित हैं, फिर भी यह वर्णन बहुत सुन्दर नही कहा जा सकता। इसमे ऐसे अनेक तत्त्वो का समावेश भी हो गया है जिनसे सौन्दर्य का समग्र प्रभाव आहृत हुआ है। रूप-सौन्दर्य के मध्य सामुद्रिक लक्षणो के समावेश और पौराणिक संदर्भों के अन्तर्भाव से सौन्दर्य-चित्रण की सक्षता मे बाधा पडी है। इसके साथ ही रूप का जो असाधारण आतिशय्य दिखलाया है, उससे सहज विश्वसनीयता खण्डित हुई है।[3] अनेक अंगों का उल्लेख सौन्दर्यव्यंजक रूप में न होकर उनकी सुन्दरता का सीधा अभिधात्मक उल्लेख किया गया है जिससे उसमे सामान्यता की गन्ध बनी रही है। ऐसे उल्लेखो से किसी प्रकार की प्रभाव व्यंजना नही होती है। ये विभिन्न तत्त्व उपर्युक्त वर्णन मे कुछ ऐसे घुले मिले रहे है कि समग्रत यह वर्णन बहुत उत्कृष्ट नहीं बन पाया है, यद्यपि उसकी अनेक संभावनाएँ इसमे दिखलायी देती हैं।

अन्य स्थानों पर भी मानसकार ने राम के रूप और पराक्रम की समन्वित व्यंजना की जो चेष्टा की है। उसमे सौन्दर्य-व्यंजक समर्थ उपादानो का समावेश है, किन्तु रूढिपिष्ट अप्रस्तुतो ने उनके सौन्दर्य की विशिष्टता को ओझल कर दिया है जिससे उसकी प्रभाव शक्ति की बडी क्षति हुई है।

१—वाल्मीकि रामायण, ३।४।५-६

२—मानस, १/१९८/१-६

३—निर्दिष्ट सीमा के परे चले जाने से अतिशयोक्ति अलंकार नष्ट हो जाता है।
—लांजाइनस, काव्य में उदात्त-तत्त्व, पृ० १७२ (सं० डा० नगेन्द्र)

नारी-रूप-वर्णन की दृष्टि से भी दोनों काव्यों में पर्याप्त अंतर है। वाल्मीकि रामायण मे शूर्पणखा रावण को सीता के प्रति आकर्षित करने के प्रयोजन से उनके रूप का अत्यन्त उत्तेजक वर्णन करती है–

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना ।
धर्मपत्नी प्रिया नित्यं भर्तुः प्रियहिते रता ॥
सा सुकेशी सुनासोरुः सुरूपा च यशस्विनी ।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा ॥
तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुंगनखी शुभा ।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥
नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी ।
तथारूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥
यस्य सीता भवेद् भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत् ।
अभिजीवेत् स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरंदरात् ॥
सा सुशीला वपुश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
तवानुरूपा भार्या सा त्वं च तस्याः पतिर्वरः ॥
तां तु विस्तीर्णजघनां पीनोत्तुंगपयोधराम् ।[1]

वाल्मीकि ने इस वर्णन मे सीता के अंग-सौन्दर्य के साथ ही उनकी सुवर्णता और समग्र देह-कांति का उल्लेख भी किया है–उनका रंग तपाये गये सोने जैसा है (तप्तकाचनवर्णाभा), वे श्लाघ्य रूपवती और अद्वितीय सुन्दरी हैं (वपुश्लाघ्या-रूपेणाप्रतिमा भुवि) और इसके साथ ही उनके सुशील स्वभाव का भी उल्लेख है सा सुशीला)। इस प्रकार बाह्य रूप सौन्दर्य के साथ आंतरिक मनस्सौन्दर्य का समावेश होने से उनके समग्र व्यक्तित्व की मोहकता बहुत बढ़ गई है। कवि ने तीन स्तरों पर उनके सौन्दर्य को निरूपित किया है–(१) अंग-सौन्दर्य जिसके अन्तर्गत कवि ने उनके विस्तीर्ण जघनों और पीनोत्तुंग पयोधरों की चर्चा की है, (२) समस्त देह-यष्टि का सौन्दर्य और तेज जिसके अन्तर्गत कवि ने उन्हें कांचनवर्णी और सुरूपा कहा है और (३) मानसिक सौन्दर्य जिसके अन्तर्गत सीता की सुशीलता का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार समग्रतः सीता का चित्र अत्यन्त भव्य रूप मे अंकित हुआ है।

सीता के रूप-वर्णन मे मानसकार ने भी अत्यन्त कमनीय कल्पना उपस्थित की है। जिनने सीता के सुन्दर रूप को सृष्टि के मूल मे सौन्दर्य के अनेक उपादानों की संयोजना की उत्प्रेक्षा की गई है–

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ३।३४।१५-२१

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई ॥
सोभा रजु मन्दर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू ॥
एहि बिधि उपजहि लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल ॥[1]

× × ×

जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगट देखाई।
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबि गृहँ दीपसिखा जनु बरई ।।[2]

उपर्युक्त उद्धरणो मे सीता के सौन्दर्य के समग्र प्रभाव की अत्यन्त सूक्ष्म और सशक्त व्यंजना हुई है, फिर भी प्रभाव शक्ति मे वह वाल्मीकि की समता नहीं कर सकता। मानस की उपर्युक्त पंक्तियो मे कमनीय एवं सूक्ष्म प्रभाव व्यंजना के बावजूद अमूर्तता बनी रही है। सीता का यह रूपांकन अपनी अमूर्तता के कारण उस वैशिष्ट्य से वंचित है जो वाल्मीकि रामायण की सीता के सौन्दर्य के तीनों स्तरो के समन्वय से व्यक्त होता है।

वाल्मीकि का रावण यद्यपि सुन्दर नहीं कहा जा सकता, फिर भी उसकी शरीर-रचना का जो वर्णन वाल्मीकि ने किया है वह उसके असाधारण बल एवं भीषण पराक्रम का द्योतक है। हनुमान जी जब इन्द्रजित् द्वारा पकड़े जाकर उसके दरबार मे लाये जाते हैं और उस समय उसके रूप का जो साक्षात्कार करते हैं उसका वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने उसकी दर्शनीय, लाल लाल और भयावनी आंखो तीखी एवं बड़ी-बड़ी चमकीली दाढ़ो, लम्बे लम्बे ओठो और कोयले के ढेर के समान काले शरीर और चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख का उल्लेख किया है।

विचित्रं दर्शनीयैश्च रक्ताक्षैर्भीमदर्शनैः ।
दीप्ततीक्ष्णमहादंष्ट्रं प्रलम्ब दशनच्छदं ॥
शिरोभिर्दशभिर्वीरो भ्राजमान महौजसम् ।
नानाव्यालसमाकीर्णैः शिखरैरिव मन्दरम ।
नीलांजनचय हारेणोरसि राजता ।
पूर्णचन्द्राभवक्त्रेण स बालार्कमिवाम्बुदम् ।[3]

अन्यत्र वाल्मीकि ने रावण की विशाल एवं गोलाकार दो भुजाओं के साथ उसकी लाल-लाल आंखों का उल्लेख करते हुए उसे स्वच्छ स्थान मे रखे हुए उड़द के ढेर के समान बतलाया है—

---

[1] १—मानस, १।२४५।४ २४६

[2] २—वही, १।२२९।३-४

[3] ३—वाल्मीकि रामायण, ५।४९।५ ७

ताभ्यां स परिपूर्णाभ्यामुभाभ्यां राक्षसेश्वरः ।
शुशुभे चल संकाशः शृंगाभ्यामिव मंदरः ॥[1]

× × ×

पांडुरेणापविद्धेन क्षौमेण क्षतजेक्षणम् ।
महार्हेण सुसंवीतं पीतेनोत्तरवाससा ॥
माषराशिप्रतीकाशं निश्वसन्तं भुजंगवत् ।
गांगे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुंजरम् ॥[2]

वाल्मीकि ने कुंभकरण के भीषण रूप का चित्रण भी प्रकृष्ट रूप मे किया है। वाल्मीकि ने उसका जो चित्र उपस्थित किया है उसमे पराक्रम की व्यंजना के साथ ही भयंकरता का भी पूरा समावेश है। रामायणकार ने का उसका चित्र अंकित करते हुए लिखा है कि उसका शरीर रोमावलियो से भरा हुआ था, वह साँप के समान साँस लेता था उसके नासापुट विस्तीर्ण थे और मुख पाताल जैसा—

ऊर्ध्वलोमाचिततनुं श्वसन्तमिवा पन्नगम् ।
भ्रामयन्तं विनिश्वासै शयानं भीमविक्रमम् ।
भीमनासापुटं तं तु पातालविपुलाननम् ।
शयने न्यस्तसर्वांगं मेदोरुधिरगन्धिनम् ॥[3]

मानस मे रावण या उसके किसी पक्षधर का पराक्रम-व्यंजक रूप-चित्रण कवि को अभीष्ट नहीं रहा है, किन्तु परशुराम का जो रूप चित्र मानसकार ने उपस्थित किया है, वह अवश्य ही काठिन्य-व्यंजक है। परशुराम और राम मे एक बार मुठभेड़ हो जाने के बावजूद वे राम विरोधी नही माने जा सकते और इसलिये तुलसीदास ने उनके रूप वर्णन के माध्यम से उनके तेज की अच्छी व्यजना की है—

गौरि सरीर भूति भल भ्राजा । भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥
सीस जटा ससि बदनु सुहावा । रिस बस कछुक अरुन होइ आवा ॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते । सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ।
बृषभ कंध उर बाहु बिसाला । चारु जनेउ माल मृगछाला ॥
कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधें । धनु सर कर कुठारु कल काँधें ॥

१—वाल्मीकिरामायण, ५।१०।२२
२—वही, ५।१०।२७ २८
३ वही, ६।६०।२८-२९

सांत बेषु करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनितनु जनु बीर रस आयउ जहँ सब भूप॥[१]

वाल्मीकि ने अपने काव्य की विस्तारमयी प्रवृत्ति के अनुसार राक्षसों के रूप-चित्रण के लिये भी पर्याप्त अवकाश निकाल लिया है। वहाँ राक्षस अधिकांशत कुरूपता की प्रतिमूर्तियों के रूप में चित्रित किये गये हैं। हनुमान जब लंका में प्रवेश करते हैं तो देखते हैं कि कोई राक्षस गुप्तचर जटा बढ़ाये है, कोई सिर मुंडाये हुए, कोई गोचर्म या मृग-चर्म धारण किये हुए है तो कोई नंग-धड़ंग है, कोई काणा है तो कोई बहुरंगा किसी किसी के पेट और स्तन बड़े हैं, कोई विकराल है तो किन्हीं के मुँह टेढ़े हैं, कोई विकट है तो कोई बौना है।[२]

यद्यपि वाल्मीकि ने कुछ ऐसे राक्षसों की चर्चा भी की है जो सुन्दर और असुंदर के मध्य माने जा सकते हैं, फिर भी असुन्दरता की ओर उनका संकेत अवश्य रहा है। जहाँ वे यह लिखते हैं कि कुछ राक्षस न तो अधिक स्थूल थे न अधिक दुबले पतले, न अधिक लम्बे थे न अधिक ठिगने, न बहुत गोरे थे न बहुत काले, वहीं वे यह भी लिखते हैं कि कोई न अधिक कुबड़े थे न अधिक बौने अर्थात् कुछ कुछ कुबड़े-बौने अवश्य थे।[3]

मानस में शिवजी की बरात के वर्णन-प्रसंग में तुलसीदास जी ने इस प्रकार की कुरूपता के कुछ चित्र उपस्थित किये हैं जो वाल्मीकि के राक्षस-चर-वर्णन के समान ही अपनी कुरूपता के बल पर पाठक को अभिभूत करते हैं—

कोउ मुख हीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बिन पद बाहू॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना॥

तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरें।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनिततन भरें॥
खर स्वान सुअर सृकाल मुख गन बेष अगनित को गनै।
बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥[४]

मानसकार का यह कुरूपता-निरूपण अप्रतिम है। इससे मानसकार की रूप-चित्रण विषयक कल्पना शक्ति का भी अनुमान लगाया जा सकता है। इस क्षेत्र में यद्यपि वह वाल्मीकि की समता का अधिकारी नहीं है, फिर भी कमनीय, दुर्धर्ष,

---

१—मानस १।२।६७ २-२६८
२—वाल्मीकि रामायण, ५ ४ १५ १७
३—वही, ५।४।१९
४—मानस, १।९२।४ छद

भयानक तथा बीभत्स सभी प्रकार के रूपांकन मे उसकी गति है—इसमे संदेह के लिये अवकाश नहीं रह जाता।

यात्रा-वर्णन

राम-कथा मे छोटी-बडी अनेक यात्राओं के वर्णन के लिये अवकाश है, किन्तु तीन यात्राएँ दोनो कवियो के लिये प्राय वर्ण्य रही हैं-(१) राम की वन यात्रा (२) भरत की चित्रकूट-यात्रा और (३) हनुमान की लंका-यात्रा। वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो ने उक्त यात्राओं के वर्णन को अपने-अपने काव्य मे स्थान दिया है।

राम की वन-यात्रा उनके जीवन का एक करुण प्रसंग है। वाल्मीकि ने इस प्रसंग की करुणापूर्णता का निर्वाह करते हुए भी वन-वैभव के प्रति यात्रियो की जागरूकता व्यक्त की है। राम के वन-प्रयाण का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने मार्ग मे पडने वाले ग्रामों के निवासियो से राम के प्रति सहानुभूति व्यक्त करवाई है। वे लोग राम के अन्यायपूर्ण निष्कासन के लिये राजा दशरथ की आलोचना करते हैं।[1] वाल्मीकि ने राम के प्रति निषादराज गुह के मैत्रीपूर्ण आचरण और राम के नौकारोहण की चर्चा भी की है। तदुपरान्त भरद्वाज के आश्रम पर उनके सत्कार और भरद्वाज के निर्देश पर चित्रकूट-वास के निर्णय तथा चित्रकूट पहुँचने का वर्णन है। इस यात्रा-प्रकरण में वर्णन-सौन्दर्य की दृष्टि से भरद्वाज आश्रम से चित्रकूट तक पहुँचने का प्रसंग उल्लेखनीय है। इस अवसर पर मार्ग के प्राकृतिक वैभव की चेतना से राम अभिभूत होते दिखलाई देते हैं।[2]

मानस मे वन-यात्रा का सौन्दर्य प्रकृति-निर्भर न होकर मानवतामूलक है। मानस के राम की वन-यात्रा मे ग्रामवासियो—विशेषकर ग्रामवधुओं की राम के प्रति सहानुभूति राजा दशरथ की अवहेलना तक सीमित न होकर कहीं अधिक आत्मीयतापूर्ण है। निषाद-राज के व्यवहार मे भी सेवा-भावना भक्ति के समावेश से बडी हुई दिखलायी देती है, किन्तु इस यात्रा की सौन्दर्य-वृद्धि मे केवट के 'प्रेम-लपेटे अटपटे' व्यवहार का बहुत योग रहा है। इसके साथ ही वाल्मीकि से राम द्वारा निवास-स्थान पूछे जाने पर वे जो सूची उपस्थित करते हैं वह भी बडी मोहक है। मानस मे वन-यात्रा पितृ-आदेश के प्रति राम के विक्षोभ से मुक्त होने के कारण और भी निखर उठी है जबकि वाल्मीकि रामायण मे वन-यात्रा के अवसर पर राम का विक्षोभ अव्यक्त नहीं रह सका है। कुल मिलाकर वन यात्रा का सौन्दर्य मानस मे अपेक्षाकृत अधिक मनोहारी है।

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, २।४९।४-८

[2] २—वही, २।५६।६-११

भरत की चित्रकूट-यात्रा का वर्णन भी दोनों कवियों ने किया है। दोनों काव्यों में यह यात्रा भरत की भावुकता से सम्पृक्त रही है, किन्तु वाल्मीकि रामायण में यात्रा की चहल पहल और वन-प्रदेश की रमणीयता की अनुभूति से भी उसका सौन्दर्य उजागर हुआ है। यात्रा-मार्ग और यात्री के परस्पर सन्निकर्ष का सौन्दर्य वाल्मीकि रामायण में भरत की चित्रकूट यात्रा में खिल उठा है। भरत पर्वत-शिखरों पर वृक्षों से पुष्प-वर्षा देखकर मुग्ध होते हैं, सैनिकों द्वारा खदेड़े गये मृगों के दौड़ने में आनन्द लेते हैं और सुनसान वन में अपने ससैन्य आगमन से उत्पन्न हुई चहल पहल का अनुभव भी करते हैं[1] मानस के भरत को बाहर की ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। वे अपने भीतर ऐसे खोये रहते हैं कि मार्ग के सौन्दर्य और अपने साथ के लोगों की चहल-पहल की ओर उनका ध्यान ही नहीं जा पाता। अपने उद्वेग के कारण वे मार्ग-भर अपने आप में खोये रहते हैं। फलतः मानस के भरत की चित्रकूट *यात्रा का सौन्दर्य भरत अनुताप की उज्ज्वलता से उद्भासित हुआ है।* चित्रकूट की ओर अग्रसर होते हुए उनके मन में द्वन्द्व चलता है। जब वे माँ के दुष्कृत्य का विचार करते हैं तो उनके मन में अनेक कुतर्क उठते हैं। उन्हें चिंता होती है कि भरत-आगमन की सूचना पाकर राम अन्यत्र न चले जाएँ, किन्तु जब राम के वत्सल स्वभाव की ओर ध्यान जाता है तो वे आश्वस्त हो जाते हैं और शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने लगते हैं।[2] मानस के भरत की चित्रकूट-यात्रा उनके निष्कलुष हृदय की आभा से जगमगा उठी है। मार्ग की शोभा उपेक्षित रह जाने पर भी भरत के अन्तःकरण की उज्ज्वलता से यह यात्रा-प्रसंग आलोकित हो उठा है।

हनुमान की लंका-यात्रा का वर्णन दोनों काव्यों में उनके निष्ठापूर्ण उत्साह से परिपूर्ण है। वाल्मीकि ने उनके उत्साह और वेग के साथ उनकी वेगपूर्ण यात्रा का प्रभाव भी अंकित किया है। आकाश में उड़ान लेने के लिये वे जिस प्रकार अपने शरीर को सिकोड़कर उड़ने के लिये उद्यत होते हैं उसका वर्णन कवि ने बड़ी सूक्ष्मता और पर्याप्त विस्तार के साथ किया है—

दुधुवे च स रोमाणि चकम्पे चानलोपमः।
ननाद च महानादं सुमहानिव तोयदः॥
आनुपूर्व्यां च वृत्तं च लांगूलं रोमभिश्चितम्।
उत्पतिष्यन् विचिक्षेप पक्षिराज इवोरगम्॥

---

[1] —वही, ९३।२१-२५

[2] —मानस, २३२।४-२३३।४

तस्य लांगूलमाविद्धमतिवेगस्य पृष्ठतः ।
ददृशे गरुडेनेव ह्रियमाणो महोरगः ॥
बाहू संस्तम्भयामास महापरिघसन्निभौ ।
आससाद कपिः कट्यांचरणौ स चुकोच च ॥
स हृत्य च भुजौ श्रीमांस्तथैव च शिरोधराम् ।
तेजः सत्व तथा वीर्यमाविवेश स वीर्यवान् ।
मार्गमालोकयन् दूरादूर्ध्वंप्रणिहितेक्षणः ।
रुरोध हृदये प्राणानाकाशमवलोकयन् ॥[1]

तदुपरान्त हनुमान जब आकाश मे उछलते हैं तो उनके उछलने से पर्वत और उस पर उगे हुए वृक्षो पर जो प्रभाव पड़ता है—उसका भी कवि ने मार्मिक चित्रण किया है जो अतिशयोक्तिपूर्ण होने के बावजूद अत्यन्त प्रभावशाली है। जब हनुमान आकाश मे उछले तो उनके वेग से अनेक वृक्ष उखड़ गये और उनके साथ ही उड चले। उन वृक्षों मे जो अधिक भारी थे वे दूर जाकर समुद्र मे गिर गये, शेष भी जैसे-जैसे हनुमान जी के वेग से मुक्त होते गये वैसे-वैसे समुद्र मे गिरने लगे।[2] आकाश में उडते हुए हनुमान के बादलों मे छिप जाने और बाहर निकल आने का दृश्य भी बड़े मनोहर रूप मे वाल्मीकि ने अंकित किया है।[3] उनके वेग से व्याप्त वायु के परिणामस्वरूप समुद्र मे जा खलबली मचगई उसका भी सूक्ष्म चित्रण वाल्मीकि ने सविस्तार किया है।[4]

मानसकार ने हनुमान की लंका-यात्रा का जो वर्णन किया है वह न तो ऐसा सूक्ष्म और चित्रोपम तथा विस्तृत है न ऐसा पराक्रम-व्यंजक ही। मानस मे हनुमान के पराक्रम के कुछ संकेत वाल्मीकि रामायण से अवश्य मिलते-जुलते हैं—जैसे आकाश मे उछलने से पूर्व हनुमान जिस पर्वत पर चढते हैं वह उनके बल से कस मसाने लगा है। वाल्मीकि ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—

तेन चोत्तमवीर्येण पीड्यमानः सः पर्वतः ।
सलिलं सम्प्रसुस्राव मदमत्त इव द्विप. ॥
पीड्यमानस्तु बलिना महेन्द्रस्तेन पर्वतः ।
रीतीर्निर्वर्तयामास कञ्चनञ्जनराजती. ।

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ५।१।३२-३७
[2] —वही, ५।१।४७-४२
[3] —वही, ५।१।८१-८२
[4] —वही ५।१७०-७७

मुमोच च शिलाः शैलो विशालाः समनःशिलाः ।
मध्यमेनार्चिषा जुष्टो धूमराजीरिवानलः ॥
हरिणा पीड्यमानेन पीड्यमानानि सर्वतः ।
गुहाविष्टानि सत्त्वानि विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ॥
स महान् सत्त्वसंनादः शैलपीडानिमित्तजः ।
पृथिवीं पूरयामास दिशश्चोपवनानि च ॥[1]

मानसकार ने यही आशय संक्षेप मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

सिंधु तीर एक भूधर सुन्दर । कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर ॥
बार बार रघुबीर सँभारी । तरकेउ पवन तनय बल भारी ॥
जेहिं गिरि चरन देइ हनुमन्ता । चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता ॥[2]

और हनुमान की गति की सूचना देने के लिये उन्होंने केवल इतना लिखा है—

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना । तेही भाँति चलेऊ हनुमाना ॥[3]

इस प्रकार के संकेतो से काव्य का वर्णन सौन्दर्य निखरता नहीं है । यही कारण है कि वाल्मीकि ने हनुमान की लंका-यात्रा का जैसा सुंदर वर्णन किया है उसकी तुलना में मानस का उक्त-वर्णन प्रभावित नहीं कर पाता ।

सच तो यह है कि वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों मे यात्रा-वर्णनकी प्रभूत समता होते भी भौतिक जगत् और मानव अन्तःकरण दोनो मे वाल्मीकि की जैसी रुचि है वैसी मानसकार की नही । मानस का कवि भौतिक जगत् मे प्रायः रुचि व्यक्त नहीं करता । इसलिये उनके यात्रा वर्णनो मे मानव की आन्तरिक गतिविधि ही अधिक व्यक्त हुई है जबकि वाल्मीकि ने भौतिक जगत् और आंतरिक गतिविधि दोनो के सन्निकर्ष को अपने काव्य मे सम्मूर्तित किया है ।

समारोह-वर्णन

वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने अनेक समारोहों का वर्णन अपने-अपने काव्य में किया है । विवाह और राज्याभिषेक का वर्णन दोनो काव्यो मे है, किन्तु वाल्मीकि रामायण मे अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर धार्मिक समारोह का वर्णन भी मिलता है । जिसकी ओर मानस मे संकेत-भर मिलता है ।

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, ५।१४ १८

[2] २—मानस, ५।०।३

[3] ३—वही, ५।०।४

वाल्मीकि ने राम तथा उनके भाइयों के विवाह का वर्णन अपनी विस्तार-प्रिय प्रकृति के विरुद्ध संक्षेप में किया है, फिर भी यह वर्णन सुगठित और सम्यक्-रूपेण सम्पूर्णित है। वाल्मीकि ने संक्षेप के बावजूद वैवाहिक विधि का समग्र चित्र अंकित किया है जिसमें विधिपूर्वक वेदी बनवाने और उसे पुष्पों से सुसज्जित करने तथा विभिन्न सामग्रियों को यथास्थान रखने का वर्णन करने के साथ विधिवत् अग्नि-में हवन करने तथा मंगल-वाद्यों के बजने के साथ राजा जनक के कन्यादान का चित्रण किया गया है।[1]

मानस में राम-विवाह का वर्णन बहुत विस्तृत है। उस वर्णन के अन्तर्गत मानसकार ने विवाह-समारोह के छोटे-से छोटे कृत्य का भी ध्यान रखा है जिसे देखते हुए यह कहना उचित है कि उस वर्णन से 'हिन्दू-गृहस्थ के जीवन का प्रत्यक्ष चित्र सामने आता है।[2] मानस के राम-विवाह-वर्णन से गार्हस्थिक समारोहों के संबंध में तुलसीदास जी का ज्ञान अवश्य प्रकट होता है, किन्तु काव्य के सौन्दर्य-विधान में उक्त वर्णन का अनुकूल योग नहीं रहा है। इतने विस्तृत वर्णन से कथा-गति कुंठित हुई है, अतिशयोक्तिपूर्ण विवरणात्मकता ने समस्त प्रसंग को नीरस बना दिया है और साथ ही यह वर्णन विशिष्ट चित्र उपस्थित करने में असफल रहा है। वर्णनों में विवरणों का समावेश ही काफी नहीं है, उनसे एक समग्र एवं प्रभावशाली चित्र अंकित होना भी आवश्यक है और इस दृष्टि से विवाह-विषयक रीति-व्यवहार का जो विवरण मानस में उपस्थित किया गया है वह आकर्षक नहीं बन पाया है।

समारोह का एक अन्य रूप राजनीतिक आयोजन में दिखलाई देता है। वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में पहले अयोध्याकांड में राम के राज्याभिषेक की तैयारियों का वर्णन है और दूसरी बार वाल्मीकि के युद्धकांड तथा मानस के उत्तरकांड में राम के राज्याभिषेक का वर्णन है।

राज्याभिषेक की तैयारी का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने राम के धार्मिक अनुष्ठान और अभिषेक की तैयारी के प्रति तत्परता और उसके प्रति प्रजा के उत्साह का चित्रण किया है। नगर-सज्जा तथा प्रकाशादि की व्यवस्था का यथार्थपरक और हृदयग्राही चित्रण राम-राज्याभिषेक की तैयारियों के वर्णन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

मानस में भी राम के राज्याभिषेक की तैयारियों का सजीव वर्णन मिलता है। इस वर्णन में अभिषेक के प्रति राम की तत्परता और उनके धार्मिक अनुष्ठान

---

[1] —वाल्मीकि रामायण १।७३।२०-२९

[2] —डा० रामप्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसीदास, साहित्यक मूल्यांकन पृ० ३१०

की चर्चा को को कवि ने छोड दिया है, किन्तु वसिष्ठ को अभिषेक की तैयारियों मे सोत्साह स लग्न दिखलाते हुए राजा दशरथ के अन्त:पुर को इस शुभ समाचार से हर्षमग्न दिखलाया है और वाल्मीकि रामायण के समान ही, बल्कि उसकी तुलना में कहीं अधिक, प्रजाजनों को राम के अभिषेक के प्रति उत्साहित, बल्कि उत्कंठित दिखलाया है—

सकल कहहिं कब होइहि काली।[1]

इस प्रकार विवरणों की भिन्नता के बावजूद दोनों मे राम के राज्याभिषेक की तैयारियो का प्रथम वर्णन सजीव और प्रभावशाली बन पडा है।

वनवास से लौटने पर राम के राज्याभिषेक का वर्णन वाल्मीकि मे अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट एव मूर्त है। वाल्मीकि ने सुग्रीव के आदेशानुसार जाम्बवान्, हनुमान, वेगदर्शी और ऋषभ चार वानरो द्वारा चारो समुद्रो और पाँच सौ नदियों से सोने के कलशो मे पानी लाये जाने का,[2] सीता-राम को चौकी पर बिठाकर वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कात्यायन, सुयश, गौतम और विजय नामक ऋषियो द्वारा उनका अभिषेक किये जाने का[3] तदुपरान्त वंशपरम्परागत मुकुट से, जिसकी सुन्दरता का वाल्मीकि ने विस्तृत वर्णन किया है, तथा अन्य आभूषणो से राम को सुसज्जित किये जाने का[4] और अन्तत. राम को दी गई भेंटो और राम द्वारा आत्मीय जनों तथा सेवको को दिये गये दान-मान का[5] वर्णन किया है। मानसकार ने विशेष विवरणो को सक्षेप मे समेटते हुए सरदारों द्वारा (जिनका नामोल्लेख मानसकार ने नहीं किया है) मगल द्रव्य लाये जाने और आभूषणो से सीता-राम को विभूषित किये जाने के उपरात दिव्य सिंहासन पर सीता राम को विभूषित किये जाने के उपरान्त दिव्य सिंहासन पर सीता-राम के प्रतिष्ठित होने और विप्रो को विविध प्रकार के दान दिये जाने का चलता हुआ उल्लेख किया है।[6]

अतएव मानस मे राम के राज्याभिषेक का वर्णन वैसा प्रभावशाली नहीं बन पाया है जैसाकि वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देता है।

वाल्मीकि ने अश्वमेध यज्ञ की धूमधामपूर्ण तैयारी का भी सजीव वर्णन किया है। वाल्मीकि के इस वर्णन को पढने पर लगता है कि राम ने बड़े पैमाने

१—मानस, २।१०।३
२—वाल्मीकि रामायण, ६।१२८।५२ ५८
३—वही, ६।१२८।६०-६१
४—वही ६।१२८।६४ ६७
५—वही, ६।१२८।६९-८७
६—वही, ७।१० ७।११।४

पर अश्वमेध की तैयारी की थी जिसके अन्तर्गत अनेक राजाओ को निमन्त्रण भेजा गया,[1] अन्य राज्यो मे रहने वाले ब्रह्मर्षि भी सपत्नीक आमन्त्रित किये गये।[2] सभी अभ्यागतों को ससम्मान, ठहराने की व्यवस्था की गई,[3] बोझ ढोने वाले लाखो पशुओ पर ढो ढो कर खाद्य पदार्थ एकत्र करने की योजना बनाई गई,[4] मार्ग मे क्रय-विक्रय के लिये बाजारो की व्यवस्था भी की गई,[5] इस यज्ञ मे एकत्र हुए लोगो की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखा जाने और याचको को संतुष्ट किये जाने का सविस्तार वर्णन वाल्मीकि ने किया है।[6] वाल्मीकि रामायण के इस वर्णन से यज्ञ समारोह की चहल-पहल का जीवन्त चित्र सहृदय की कल्पना मे अंकित हो जाता है। मानसकार ने इस ओर संकेत करते हुए भी अनिरंजना के बल पर इस प्रकरण को यह लिखकर टाल दिया है कि—

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे।।[7]

इसका कारण संभवत यह है कि अश्वमेध की कथा के साथ सीता के भूमि-प्रवेश का प्रकरण जुडा है जो मानसकार को वांछित नही है। अतएव इस प्रसंग को बचाने के लिये कवि ने किसी विशेष अश्वमेध का वर्णन न कर राम द्वारा करोडो अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख किया है जिससे वह अवांछित प्रकरण की चर्चा से बच गया है और अश्वमेध का उल्लेख भी अचर्चित नहीं रहा है।

युद्ध-वर्णन

वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो ने युद्ध-वर्णन मे अपनी कल्पना-शक्ति का चमत्कार दिखलाया है। दोनो काव्यो मे युद्धो की भीषणता, और रक्तपात का व्यापक चित्रण हुआ है। उभयपक्षीय प्रहार और बचाव का चित्रण भी दोनो कवियों ने बडी सूक्ष्मता के साथ किया है। दोनो के युद्ध वर्णन मे गति और उद्दीप्ति है। विस्तार की दृष्टि से वाल्मीकि का युद्ध-वर्णन अधिक सम्पन्न दिखलाई देता है, किन्तु यथार्थ के आग्रह के कारण उसमे अन्विति के दर्शन नही होते—विपुल संख्या के कारण वाल्मीकि रामायण के युद्ध प्रकरण सहृदय की ग्राहिका कल्पना शक्ति की

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ७।९१।२

[2] —वही ७।९१।१२

[3] —वही, ७।९१।१८

[4] —वही, ७।९१।१९ २१

[5] —वही, ७।९१।२२

[6] —वही, ७।९२।५ ८, १० ११

[7] —मानस, ७।२३।१

सीमा के लिये दुर्ग्राह्य से प्रतीत होते हैं जबकि मानसकार ने युद्ध वर्णनो मे काट-छाँट कर उनकी संख्या परिमित कर दी है और उनका आकार भी नियंत्रित रखा है। इस प्रकार मानसकार का युद्धवर्णन उसकी अपूर्व सम्पादन शक्ति के बल पर वाल्मीकि की तुलना मे अधिक निखर उठा है।

नगर-वर्णन

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो मे अनेक नगरो (या नगरियो) का वर्णन भी मिलता है। वाल्मीकि ने अयोध्या, किष्किंधा और लंका के वर्णन मे रुचि ली है जबकि मानसकार ने अयोध्या, मिथिला और लंका का वर्णन अपने काव्य मे किया है।

वाल्मीकि ने अयोध्या के उत्कृष्ट स्थापत्य, उसकी सुरक्षित स्थिति और वैभव सम्पन्नता का अनेकशः उल्लेख किया है[1]—इसके साथ ही वहाँ के निवासियो की नीति परायणता और धर्म-निष्ठता[2] का वर्णन करते हुए उसे भव्य रूप मे अपने काव्य मे मूर्तित किया है।[3]

मानसकार ने भी उसके स्थापत्य[4] और वैभव की ओर संकेत किया है[5] किन्तु उसकी भव्यता और सम्पन्नता का उसने कुछ ऐसा अतिरंजित वर्णन किया है जो अलौकिकता की सीमा तक पहुँच गया है[6] फलतः वह लौकिक सौन्दर्य से दूर प्रतीत होती है।

दोनो कवियो ने लंका वर्णन मे भी रुचि प्रदर्शित की है। वाल्मीकि ने लंका का वर्णन करते हुए वहाँ के रंगीन जीवन की झाँकी और कुरूप, मध्य श्रेणी के तथा सुंदर निवासियो का उल्लेख किया है।[7] मानसकार ने वहाँ के निवासियो की युद्धप्रियता की ओर विशेष रूप से इंगित किया है।[8]

वाल्मीकि ने किष्किंधा का वर्णन करते हुए उसकी विशिष्ट स्थिति और

---

[1] —वाल्मीकि रामायण १।५।१० ११

[2] —वही १।५।१३ १५

[3] —द्रष्टव्य वही १।६

[4] —मानस ७।२६।२

[5] —वही ७।२६ छंद

[6] —वही, ७।२६ छंद

[7] —वही ५।४।१० १२—५/४/१५ २०

[8] —मानस, ५/२ छन्द

वैभव-सम्पन्नता[1] के साथ वहाँ के निवासियों के आमोद-प्रमोदमय जीवन का जो चित्र उपस्थित किया है उससे उसकी विशिष्टता का बोध होता है।[2]

मानसकार ने सीता के सम्बन्ध से मिथिला का वर्णन किया है और उसे अत्यन्त वैभव-सम्पन्न तथा सुन्दर नगरी बतलाया है, किन्तु इससे उसकी विशिष्टता उभर कर सामने नहीं आती। ऐसा वर्णन किसी भी वैभवसम्पन्न सुन्दर नगरी का हो सकता है।

फिर भी जिस प्रकार वाल्मीकि ने अयोध्या, लंका और किष्किन्धा का वर्णन भिन्न भिन्न रूप में किया है वैसे ही तुलसीदासजी ने अयोध्या, लंका और मिथिला के वर्णन में भिन्नता बनाये रखी है। वाल्मीकि की अयोध्या स्थापत्य, सुरक्षा और वैभव-सम्पन्नता से युक्त है, लंका विलासमय जीवन और भयंकर निवासियों का अधिष्ठान है और किष्किन्धा गुफा में बसी हुई, लालित्यमय जीवन व्यतीत करने वाले निवासियों तथा प्राकृतिक वैभव से सम्पन्न है। इसी प्रकार मानस की मिथिला लौकिक दृष्टि से सम्पन्न एवं सुन्दर कही जा सकती है। मानस की तीनों नगरियों का विभेद बहुत कुछ वर्णगत है जबकि वाल्मीकि रामायण की तीनों नगरियाँ व्यक्ति-वैचित्र्य से सम्पन्न हैं।

प्रबंध-शृंखला में वर्णनों की स्थिति

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों में वर्णनों का समावेश प्रबंधशृंखला के भीतर इस प्रकार किया गया है कि उनसे प्रबंध-गति प्रायः कुंठित नहीं हुई है। दोनों में वर्णन प्रायः कथा के सहज प्रभाव में अंतर्भुक्त हो गये हैं। वाल्मीकि रामायण के वर्णन अपेक्षाकृत विस्तृत और मानस के वर्णन संक्षिप्त हैं, किन्तु दोनों के वर्णन प्रबन्ध की समग्रता में समानुपातिक दिखलाई देते हैं। वाल्मीकि की समग्र प्रबंध कल्पना में जो विस्तार है, उसके वर्णनों का आकार भी उसी के अनुरूप है और मानस की प्रबंध-कल्पना में सापेक्षिक दृष्टि से जो क्षिप्रता और लाघव है, उसके वर्णन भी उसी अनुपात में संक्षिप्त हैं। इस प्रकार विस्तार की दृष्टि से दोनों की स्थिति अपने अपने प्रबन्ध की समग्रता में भली भाँति समायोजित है।

दोनों काव्यों की प्रबन्ध-कल्पना की समृद्धि में भी उनके वर्णनों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वाल्मीकि रामायण के चित्रोपम, मूर्त और वैशिष्ट्यपूर्ण वर्णनों ने कथा को यथार्थ परिवेश प्रदान करने के साथ कथा-नायक की भावनाओं को

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ४।३३।४

[2] —वही, ४।३३।६

उद्दीप्त किया है और साहचर्य सम्बन्ध से उनकी स्मृतियों को उभार दिया है। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन की ओर से प्रकृति वैभव की ओर सहृदय का ध्यान ले जाकर वाल्मीकि ने कथा के बीच-बीच में सहृदय की कथा-भाराक्रान्त चेतना को विश्रान्ति का अवसर भी प्रदान किया है और यह अवसर प्रबन्ध-शृंखला को शिथिल किये बिना ही दिया गया है क्योंकि वर्णन के भीतर ही भीतर प्रबंध योजना के सूत्र निरन्तर जुड़े रहे है। मानस के वर्णनों मे यद्यपि वैसी मूर्तता या वैशिष्ट्य-सम्पन्नता के दर्शन नही होते जैसी कि वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देती है, फिर भी कथा-नायक की भावोद्दीप्ति के साथ मानसकार के नैतिक धार्मिक प्रयोजन को पुरस्सर करने मे बहुत सहायक हुए हैं। मानसकार ने कथागति को अकुंठित रखते हुए वर्णनों के माध्यम से मानव-आचरण और प्रकृति मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव के समावेश द्वारा धार्मिक और नैतिक उपदेशो के लिये अवकाश निकाल लिया है। धार्मिक-नैतिक उपदेश का प्रयोजन मानस की मूल प्रबन्ध-योजना का अंग है और इस दृष्टि से मानस की प्रबन्ध-कल्पना मे उसके वर्णनो का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इसके साथ ही कही-कहीं मानस के वर्णन अपेक्षित वातावरण की सृष्टि मे भी सहायक हुए हैं। लंका-वर्णन के अंतर्गत वहाँ के निवासियो की युयुत्सा का चित्रण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस की प्रबंध-शृंखला इतर कारणों से कही-कही शिथिल अवश्य दिखलाई देती है, किन्तु उक्त दोनों काव्यो मे से किसी में भी प्रबंध-शैथिल्य का दोष वर्णनो को नहीं दिया जा सकता।

निष्कर्ष

वर्णन-सौन्दर्य की दृष्टि से निस्संदेह वाल्मीकि रामायण मानस की तुलना में कहीं अधिक सम्पन्न काव्य है। उसके वर्णनो मे विस्तार है सर्वांगीणता है, गति है, चित्रोपमता है मूर्तता है, वैशिष्ट्य है और जीवन के साथ घनिष्ट संबंध बोध भी है। वाल्मीकि के वर्णनों की तुलना मे मानस के वर्णन संक्षिप्त और क्षिप्र हैं, उनमे कवि-दृष्टि का वैसा व्यापक उन्मेष भी नहीं है प्राय वस्तुगत वैशिष्ट्य या व्यक्ति-वैचित्र्य की चेतना भी वैसी प्रबल नही है और संश्लिष्टता के स्थान पर परिगणनात्मक उल्लेखो का बाहुल्य है। फिर भी मानस के वर्णनों का अपना वैशिष्ट्य है और यह वैशिष्ट्य जीवन और प्रकृति के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-रूप मे उपस्थापन में निहित है। मानस मे आदर्श के अनेक सूत्र प्रकृति वर्णन मे पिरोये जाकर मूर्त रूप मे व्यक्त हुए हैं, उनमें संभाव्यता की प्रतीति उत्पन्न हुई है और वे वर्णन सूक्ति रूप मे खिल उठे हैं। इस रूप मे मानस के वर्णन युग-युगोंन से सहृदयों के हृदय हार बने हुए हैं।

इस प्रकार दोनो कवियो के वर्णनो ने अपने-अपने ढंग से उनके काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि जो मे योगदान किया है, वह स्तुत्य है।

६

सम्प्रेषण एवं सम्मूर्तन

कवि जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है उसे काव्य के माध्यम से अपने सहृदय मे संक्रमित करना उसका लक्ष्य होता है। अतएव उसकी कृति की सफलता उसकी सम्प्रेषण-क्षमता पर निर्भर करती है और उसकी सम्प्रेषण क्षमता उसकी सम्मूर्तन शक्ति पर प्रचुरांश मे आश्रित रहती है। क्रोचे ने तो यहाँ तक कहा है कि सम्मूर्तन शक्ति ही समस्त कला का प्राण तत्त्व है क्योंकि कला 'सम्प्रतीति (Intution) अथवा सहजानुभूति है'[1] और सहजानुभूति बिम्ब सृजन है, पर ऐसे बिम्बों का असम्बद्ध संकलन नही जिसकी उपलब्धि पूर्ववर्ती बिम्बो का प्रत्याह्वान करके, उन्हे मनमाने रूप म ढलने देकर और संयुक्त करके तथा मनुष्य के सिर पर एक घोड़े की गर्दन जोड़ देकर और इस प्रकार बच्चो का खिलवाड़ करके होती है, प्राचीन काव्यशास्त्र ने सहजानुभूति और निरर्थक कल्पना के भेद को व्यक्त करने के लिए एकता के सिद्धान्त को अपनाया और इस बात पर बल दिया कि कैसी भी कलाकृति क्यो न हो उसे एकता के सूत्र मे बँधा रहना चाहिए अथवा इसी से सम्बन्धित अनेकता म एकता के सिद्धान्त को अपनाया जिसकी माँग यह थी कि विविध प्रकार के बिम्ब अपना केन्द्र ढूँढे और व्यापक बिम्ब मे अन्तर्भूत हो जाय।'[2] अभिप्राय यह है कि क्रोचे की दृष्टि मे सृजनानुभूतिजन्य एवं अन्वितिपूर्ण बिम्बविधान ही कला का प्रमुख लक्षण है। क्रोचे ने व्यापक दृष्टि से कला के सम्बन्ध मे विचार किया है और इसलिए उन्होंने सभी कलाओ के सम्बन्ध म चरितार्थ हो सकने वाला एक व्यापक लक्षण निर्धारित किया है, किन्तु जब हम केवल काव्य के सम्बन्ध मे विचार करते हैं तो अपेक्षाकृत प्राथमिक स्तर से विचार किया जा सकता है।

१—क्रोचे, सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्त्व, पृ० ९

२—वही, पृ० २४ २५

विभिन्न पक्ष

काव्य-भाषा

काव्य का माध्यम भाषा है और काव्य ग्रहण सर्वप्रथम भाषा के स्तर पर होता है। यही उसका सर्वाधिक बाह्य परिधान है। अपने स्थूल रूप में काव्य कवि के कथ्य की भाषागत अभिव्यक्ति है। भाषा ही काव्य का कलेवर है—आत्मा चाहे कुछ भी हो। (आत्मा दिखलाई नहीं देती, लेकिन देह तो इन्द्रियगोचर होती ही है।) इसलिये काव्य में भाषा का उतना ही महत्त्व है। जितना जीवन में देह का। जीवन-धारण के लिये जिस प्रकार देह आवश्यक है उसी प्रकार काव्य का कथ्य भाषा बिना व्यक्त नहीं हो सकता। सम्भवतः इसलिये काव्य की परिभाषा करते समय भारतीय आचार्यों ने भिन्न-भिन्न विशेषणों का उपयोग करते हुए भी विशेष्य के सम्बन्ध में प्रायः सहमति दिखलाई है। मम्मट ने 'शब्दार्थ' को काव्य कहा है,[1] विश्वनाथ ने वाक्य को काव्य की संज्ञा दी है[2] और जगन्नाथ ने 'शब्द' को काव्य माना है।[3] पाश्चात्य समीक्षकों में ब्रेडले ने रूप और वस्तु के ऐकात्म्य पर बल देकर काव्य में अभिव्यक्ति-पक्ष को प्रभूत महत्त्व दिया है[4] और अभिव्यक्ति का आधारभूत तत्त्व है भाषा।

भाषा का इन्द्रियगोचर पक्ष

भाषा की इन्द्रियगोचरता उसकी वर्णध्वनि से सम्बन्धित है। इसलिये अर्थ-सम्प्रेषण से भी पूर्व भाषा का सौन्दर्य उसकी वर्णध्वनि पर निर्भर रहता है। वर्णध्वनि भाषा के नाद-सौन्दर्य की वाहक होती है और इस प्रकार काव्य की संगीतात्मकता में उसका महत्त्वपूर्ण योग रहता है। मम्मट ने शब्दार्थों में जब शब्द को स्थान दिया तो सम्भवतः उनका प्रयोजन वर्ण-ध्वनि को काव्य-परिभाषा में उचित स्थान दिलाना रहा होगा, अन्यथा 'अर्थ' के साथ शब्द स्वतः जुड़ा रहता है—उसका पृथक उल्लेख न होने पर भी अर्थ के साथ उसका समावेश हो ही जाता है। इसलिये तुलसीदास जी ने भाषा के इन्द्रियगोचर पक्ष के लिये 'शब्द' का प्रयोग न कर वर्णध्वनि के सूचक 'वर्ण' या 'अक्षर' का प्रयोग किया है—

---

[1] १—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'—काव्यप्रकाश, १।४

[2] २—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' —साहित्य दर्पण, १।३

[3] ३—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—रसगंगाधर, १/१

[4] ४—द्रष्टव्य—*Oxford Lectures on Poetry* में *Poetry for Poetry's Sake* निबंध

(१) वर्णानामर्थसंघाना[1]
(२) आखर अरथ अलंकृति नाना[2]
(३) कबिहि अरथ आखर बल सांचा[3]

भारतीय काव्यशास्त्र मे शब्दालंकारों और गुण-विचार के अंतर्गत वर्ण-ध्वनिसौन्दर्य पर विचार हुआ है। अनुप्रासादि अलंकार वर्ण-ध्वनि-निर्भर ही हैं और माधुर्य तथा ओज गुण वर्णध्वनिमूलक हैं। माधुर्य और ओज गुण का विभिन्न रसों से जो सम्बन्ध लगाया गया है[4] वह यह सूचित करता है कि भारतीय काव्य चिंतकों ने अवसरानुकूल वर्ण-ध्वनि के प्रयोग को उचित माना है अर्थात् काव्य मे वर्णध्वनि का सौन्दर्य उसके अवसरानुकूल प्रयोग पर निर्भर करता है, किसी विशेष प्रकार की (जैसे कोमल, स्निग्ध, मधुर) ध्वनियो के आधिक्य पर नही। अनुरणनात्मक बिम्बो की सृष्टि इसी स्तर पर होती है।

वर्णध्वनि के उपरात शब्दार्थ-विशिष्ट अर्थबोधक विशिष्ट शब्द-के सौन्दर्य का विशेषकर सम्यक् अर्थाभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त शब्द-चयन के सौन्दर्य का प्रश्न उपस्थित होता है और इस दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र मे 'अर्थव्यक्ति' गुण का समावेश किया गया है जिसका सम्बन्ध अर्थ को ऐसे पदो से व्यक्त करने से है जिससे वह उद्दिष्ट अभिप्राय से परे न जा सके।[5] श्लेष और यमक अलंकारो का सम्बन्ध भी शब्दार्थ-स्तर से ही है क्योंकि उक्त दोनो अलंकारो मे अर्थ-विशेष मे शब्द विशेष के प्रयोग से ही सौन्दर्य का समावेश होता है।

अर्थोन्मीलन और शब्द शक्तियाँ

शब्द स्तर के उपरात वाक्य-स्तर पर भाषागत सौन्दर्य मुख्यतया शब्द-शक्तियों एवं वाक्य गठन शैली पर निर्भर रहता है। शब्द शक्तियो मे अर्थोन्मीलन की शक्ति कभी शब्द विशेष मे निहित रहती है तो कभी सम्पूर्ण वाक्य-रचना में, लेकिन प्रत्येक दशा मे वाक्य ही शब्द शक्ति सौन्दर्य का प्रकाशक होता है क्योंकि वाक्य मे प्रयोग होने पर ही शब्द-शक्ति प्रकट होती है।

भारतीय काव्य शास्त्र मे शब्द शक्तियो और उनके भेदोपभेदो का विस्तृत विवेचन हुआ है। पाश्चात्य काव्य-चिन्तन मे आई० ए० रिचर्ड्स जैसे विद्वानों ने

१—मानस, मंगलाचरण (बाल० ३।३)
२—वही, १।८।५
३—वही, १।२४।२
४—(क) द्रष्टव्य विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण, ८।१,३
(ख) द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य कोश, पृ० २०१ (सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा)
५—अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य—दण्डी, हिन्दी साहित्य कोश, पृ० २०२ से उद्धृत

अर्थोन्मीलन पर गहन चिंतन किया है। उन्होने प्रकरण-विषयक सावेगिक अर्थोन्मीलन-प्रक्रिया पर विचार किया है जो भारतीय दृष्टि से व्यंजना शब्दशक्ति के सदृश है।

भारतीय दर्शन मे अर्थ विधायक तत्त्वों के अन्तर्गत जाति, गुण क्रिया और यदृच्छा का उल्लेख किया गया है जो अभिधा की चतुर्विध अर्थाभिव्यक्ति पर प्रकाश डालता है।[1] लक्षणा अपनी वक्रता और सम्मूर्तन शक्ति के बल पर काव्य सौन्दर्य मे योग देती है—विशेषकर लोकोक्तियो और मुहावरों के रूप मे रूढ़ा लक्षणा के विनियोग से काव्य सौन्दर्य बहुत खिल उठता है। व्यजना दो स्तरो पर काव्य-सौन्दर्य मे साधक होती है—(१) उक्ति-विशेष की व्यजना और (२) समग्र प्रकरण की ध्वन्यात्मकता के रूप मे वह काव्य सौन्दर्य मे योग देती है। व्यजना शक्ति वस्तुतः आन्तरिक अर्थ का उन्मीलन करती है—वह वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ के भीतर के अर्थ को उद्घाटित करती है। व्यजना से वक्ता, बोधव्य, कंठध्वनि, वाक्य-वैशिष्ट्य, वाच्यार्थ, अन्य व्यक्ति के सान्निध्य, प्रसंग, स्थान और अवसर के अनुसार अर्थ प्रकट होता हैं—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥[2]

ये समस्त तत्त्व प्रकरण बोध के ही विभिन्न अंग हैं और मम्मट ने व्यंग्यार्थ को इन पर निर्भर बतलाकर इस प्रकार से अर्थ-व्यजना मे प्रकरण की भूमिका की ही व्याख्या की है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्पष्टतः प्रकरण के महत्त्व पर बल दिया है। पाश्चात्य विचारको मे आई० ए० रिचर्ड्स ने अर्थाभिव्यक्ति में प्रकरण की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी है।[3]

भाषागत काव्य सौन्दर्य शब्द-शक्तियो के भेदोपभेदो मे ही नही, समग्र अर्थोन्मीलन-प्रक्रिया मे निहित है। वस्तुतः भाषा स्तर पर काव्य-सौन्दर्य का अनुशीलन शब्द शक्तियों के भेदोपभेदो की गवेषणा से उतना उद्घाटित नही होता जितना समग्र प्रक्रिया के विश्लेषण से। भेदोपभेदो की गवेषणा जितने अंशो में शास्त्रीय-दृष्टि की वाहक है, उतने अंशो मे भाषागत-सौन्दर्य-प्रक्रिया की गतिशील प्रकृति की उद्घाटक नही है।

---

[1] १—द्रष्टव्य—डा० गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २५०

[2] २—काव्यप्रकाश, ३/२१ २२

[3] ३—द्रष्टव्य—डा० रामअवध द्विवेदी, साहित्य सिद्धान्त, पृ० ४७-४८

बिम्ब-विधान

वर्णध्वनि से अर्थाभिव्यक्ति तक सम्प्रेषण सौन्दर्य के तीन स्तर दिखलाई देते हैं—(१) वर्णध्वनि-योजना, (२) वाक्य विन्यास और (३) अर्थोन्मीलन। अर्थोन्मीलन के उपरान्त सम्प्रेषण चतुर्थ स्तर को जन्म देता है और वह है बिम्ब, विधान। इस स्तर पर पहुँचकर सम्प्रेषण सम्मूर्तन में परिणत हो जाता है और सम्मूर्तन का सौन्दर्य दो प्रकार से व्यक्त होता है—एक स्वयं उसका सौन्दर्य होता है और दूसरा उसके माध्यम से उद्घाटित समस्त काव्य का आंतरिक सौन्दर्य जो कभी-कभी सम्मूर्तन या रूप-विधान का अतिक्रमण भी कर जाता है।

प्रतिबिम्बात्मक या लक्षित बिम्ब : विविध रूप

काव्य-बिम्ब का सर्वाधिक सरल रूप प्रतिबिम्बात्मक बिम्ब (Photographic image) में दिखलाई देता है। प्रतिबिम्बात्मक बिम्ब भाषा की अभिधा शक्ति पर आश्रित रहता है। प्रतिबिम्बात्मक बिम्ब को डा० नगेन्द्र ने प्रत्यक्ष बिम्ब या प्राथमिक बिम्ब की संज्ञा दी है।[1] लक्षित बिम्ब से भी उनका यही अभिप्राय प्रतीत होता है।[2] प्रत्यक्ष या प्राथमिक और लक्षित बिम्ब में कोई अंतर है तो केवल इतना ही कि प्रत्यक्ष या प्राथमिक बिम्ब का संबन्ध व्यावहारिक जीवन में बिम्ब-ग्रहण से है जबकि लक्षित बिम्ब प्रत्यक्ष या प्राथमिक बिम्ब की काव्याभिव्यक्ति है। अतएव काव्य के संदर्भ में उसे लक्षित बिम्ब कहना समीचीन होगा। लक्षित बिम्ब दो प्रकार के होते हैं-(१) स्थिर और (२) गतिशील। जहाँ दृश्य वस्तु या व्यक्ति का चित्र स्थिर रूप से अंकित किया जाय वहाँ वह स्थिर लक्षित बिम्ब कहलाता है और जहाँ गतिमय रूप में उसका चित्र अंकित किया जाय वहाँ वह गत्यात्मक लक्षित बिम्ब कहलाएगा। लक्षित बिम्ब कभी स्वयं-प्रयोज्य होता है तो कभी उसका प्रयोजन भावाभिव्यंजन होता है। तदनुसार उसके दो भेद दिखलाई देते हैं (१) स्वयंप्रयोज्य लक्षित बिम्ब और (२) भावाभिव्यञ्जक लक्षित बिम्ब। लक्षित बिम्ब के उपर्युक्त सभी रूप अभिधाश्रित रहते हैं क्योंकि वे शब्दों के तात्कालिक अर्थ से प्रकट होते हैं। लक्षित बिम्ब स्वभावोक्ति अंलकार के नाम से भारतीय काव्यशास्त्र में चर्चित रहा है।

उपलक्षित-बिम्ब

प्रस्तुत को अधिक उजागर करने के लिये कवि उपमानों का प्रयोग करता है। सादृश्यमूलक सभी अलंकार अप्रस्तुत-विधान के अंग हैं। अप्रस्तुत-विधान

---

[1] —डा० नगेन्द्र, काव्य-बिम्ब, पृ० २७

[2] —डा० नगेन्द्र, काव्य—बिम्ब पृ० ४१

उपलक्षित बिम्बो के रूप मे मूर्तित होता है।[1] प्रतीक, रूपातिशयोक्ति आदि के रूप मे उपलक्षित बिम्ब अनेक रूपों मे काव्य मे प्रतिष्ठित होता है। अनेक बार लक्षित और उपलक्षित बिम्ब के संग्रथन से एक समग्र बिम्ब की सृष्टि होती है और अनेक बार उपलक्षित बिम्ब स्वतः समग्र होता है। इसी प्रकार लक्षित बिम्ब भी अनेक बार अपने आप मे स्वतन्त्र होता है। वस्तुतः यह कवि की बिम्ब-योजना पर निर्भर करता है कि वह लक्षित और उपलक्षित बिम्बो को किस प्रकार समायोजित करता है। प्राधान्य और नैरन्तर्य दोनो ऐसे तत्त्व हैं जिनका बिम्ब-संग्रथन पर प्रभाव पडता है।

लक्षणा का योग

उपलक्षित बिम्ब-सर्जना मे लक्षणा शब्द शक्ति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। गौणी लक्षणा सादृश्य-विधान के लिये बहुत उपयोगी रहती है। कई बार मुहावरों मे भी गौणी लक्षणा का सूक्ष्म योग रहता है। इस प्रकार गौणी लक्षणा न केवल अलकारो के माध्यम से, बल्कि प्रतीकों और मुहावरों के माध्यम से भी उपलक्षित बिम्ब-सर्जना मे योग देती है।

लक्षणा शब्द-शक्ति का रहस्य साहचर्य मे निहित है, वह साहचर्य के कारण अभिधार्थ से भिन्न साहचर्यमूलक अर्थ समर्पित कर तदनुसार बिम्ब निर्माण मे योग देती है। यह साहचर्य कही साधर्म्यपरक, कही नैकट्यपरक और कहीं उपादानाश्रित होता है। इसलिये लक्षणामूलक बिम्बो का क्षेत्र सादृश्य-विधान मे ही सीमित न रहकर अन्य रूपो (जैसे प्रतीक आदि के रूप मे) भी बिम्ब-सर्जना द्वारा काव्य के सम्मूर्तन मे योग देता है।

बिम्ब योजना के विभिन्न रूप

काव्य मे बिम्ब प्राय. स्फुट रूप मे प्रकट न होकर एक योजना के अन्तर्गत आते है और तब बिम्बों के पारस्परिक सग्रंथन का प्रश्न उपस्थित होता है। कवि कभी कभी एक के बाद एक स्फुट-बिम्ब प्रस्तुत करता चला जाता है। ऐसी स्थिति मे उसकी बिम्ब-योजना सरल कहलाती है। जब बिम्ब परस्पर सग्रथित होकर भी अपनी स्वायत्तता का परित्याग नही करते तब वह बिम्ब योजना मिश्र कही जा सकती है—जब बिम्ब परस्पर इस तरह गुथ जाएँ कि उनकी स्वायत्तता एक समग्र बिम्ब मे विलीन हो जाए तब जटिल बिम्ब की सृष्टि होती है।

छंद-योजना और संगीत-तत्व

काव्य मे भाव गति के सम्मूर्तन मे भाषा के साथ छंद-योजना की भी

---

[1] —वही, पृ० ४१

महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। छंद काव्य में संगीत तत्व का समावेश करते हैं। छंद-सौन्दर्य भावानुसारिता और प्रवाह पर बहुत निर्भर रहता है। भाव में एक आंतरिक लय होती है छंद उसे मूर्त रूप प्रदान करता है[1] और छंद-प्रवाह काव्य-गति को रूपायित करता है। इस प्रकार छंद-योजना भी काव्य के सम्मूर्तन व्यापार के ही एक अंग के रूप में काव्य-सौन्दर्य की सिद्धि में योगदान करती है।

रूपातिशयी काव्य-सौन्दर्य

इस प्रकार वर्णध्वनि से लेकर बिम्ब-विधान तक सम्मूर्तन-व्यापार काव्य-सौन्दर्य का वाहक होता है—काव्य-सौन्दर्य को सहृदय तक सम्प्रेषित करता है, किन्तु न तो एक-एक काव्यांग का कोई स्वायत्त सौन्दर्य होता है न सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य सम्मूर्तन-व्यापार में सीमित ही रहता है। कई बार काव्य-सौन्दर्य सम्मूर्तन-व्यापार या रूप-सृष्टि का अतिक्रमण कर जाता है—व्यक्त 'रूप' में वह जितना प्रकट होता है वह सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य का अंश मात्र होता है क्योंकि सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य सदैव 'रूप-विधान में समा नहीं पाता। जैसा कि तुलसीदास ने कहा है—

> सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥[2]

सौन्दर्यातिशय की तुलना में रूप विधान सीमित होता है किन्तु यह सीमित रूप-विधान अपनी समग्रता से सौन्दर्यातिशय को उद्भासित करता है। जैसे किसी रमणी का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसके विभिन्न अंगों में प्रकट न होकर अंगों की समग्रता से व्यक्त होता है उसी प्रकार काव्य-सौन्दर्य भी रूप-विधान में न समाकर काव्य की समग्रता में झलकता है[3]—रूप-विधान अपनी सीमा में उसे उद्भासित भर करता है। यह बात ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कही है, किन्तु पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र से भी इसका अनुमोदन होता है। बामगार्टन[4] और काण्ट[5] दोनों ने कला-सौन्दर्य के रूपातिक्रमण की बात कही है।[6]

भाषा-सौन्दर्य

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस यद्यपि एक ही परम्परा की दो

---

[1] १—द्रष्टव्य—असौरी ब्रजनंदनप्रसाद, काव्यात्मक बिम्ब, पृ० १६९ ७०

[2] २—मानस, २।२९३।३१

[3] ३—ध्वन्यालोक, १।४

[4] ४—Dr. K. C Pandey, *Comparative Aesthetics, Vol. II*

[5] ५—*Ibid*

[6] ६—द्रष्टव्य—प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ० ३७

महान कृतियाँ हैं, फिर भी भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से उनकी तुलना करना एक कठिन कार्य है क्योंकि तुलना उन्ही वस्तुओ की जा सकती है जिसमे कोई सामान्य तत्त्व हो । इस दृष्टि से दो भिन्न-भिन्न भाषाओ के काव्यो के भाषा-सौन्दर्य की तुलना का औचित्य संदिग्ध प्रतीत होता है यद्यपि हिन्दी संस्कृत की वंशजा है, फिर भी उसकी प्रकृति कई बातो मे अपनी पूर्वजा से भिन्न है । संस्कृत श्लिष्ट बहिर्मुखी संयोगात्मक भाषा है[1] और हिन्दी श्लिष्ट बहिर्मुखी वियोगात्मक भाषा ।[2] दोनों का सौन्दर्य उनकी अपनी प्रकृति से दूर तक प्रभावित हुआ है । इसलिये वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के भाषागत-सौंदर्य निरूपण मे पर्याप्त भेद होना स्वाभाविक है । इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि भाषागत भिन्नता के बावजूद भाषा-विषयक काव्यगुण और अलंकार-विधान के संबन्ध मे हिन्दी संस्कृत की अनुगामिनी (कम से कम पूर्वाधुनिक काल तक) रही है और इसलिये दोनो की तुलना एक ही निकष पर की जा सकती है । यह तर्क बहुत उचित है, फिर भी दोनो की प्रकृतिगत भिन्नता को ध्यान मे रखना आवश्यक है क्योंकि भाषा-सौन्दर्य के साधक तत्त्व भाषा की अपनी प्रकृति के अनुसार ही उसके उत्कर्ष मे अपना योग देते हैं ।

भाषा का इन्द्रियगोचर पक्ष

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों काव्यो मे भाषा के इन्द्रियगोचर पक्ष की ओर क्रमश वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो का समुचित ध्यान रहा है । वर्णध्वनि, पद योजना और वाक्य-विन्यास तीनो स्तरो पर दोनो कवियो ने न्यूनाधिक मात्रा मे भाषा के इन्द्रियगोचर सौन्दर्य को निखारा है । यह सौन्दर्य मुख्यतया दो रूपो मे व्यक्त हुआ है—(१) आवृत्तिमूलक वर्णध्वनि, या आनुप्रासिक सौन्दर्य के रूप मे और (२) भाषा-संगठन के परिणामस्वरूप वर्णध्वनि, पद-योजना और वाक्य-विन्यास के सम्मिलित प्रभाव से निष्पन्न गुण-सम्पन्नता के रूप मे । दोनो रूपो मे रामायण और मानस की तुलना से रोचक सादृश्य और सूक्ष्म विभेद प्रकट होता है ।

आवृत्तिमूलक वर्णध्वनि-सौन्दर्य : अनुप्रास की छटा

वर्णध्वनियो, की आवृत्ति का सौन्दर्य दोनो काव्यो प्रस्फुटित हुआ है, किन्तु इस ओर मानसकार की रुचि अधिक प्रतीत होती है । वाल्मीकि ने प्राय व्याकरण:

१—द्रष्टव्य—डा० भोलानाथ तिवारी, भाषा-विज्ञान, भाषाओं का रूपात्मक वर्गीकरण
२- वही

मूलक वर्णध्वनि-समुच्चय की आवृत्ति की है, किन्तु कहीं-कहीं एकाकी वर्ण-ध्वनि की भी प्रभावशाली ढंग से आवृत्ति की है, जैसे—

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका।[1]

परन्तु वाल्मीकि रामायण मे इस प्रकार के उदाहरण विरल ही हैं। एकाकी वर्णध्वनि की आवृत्ति की तुलना मे वर्णध्वनि समुच्चय की आवृत्ति के उदाहरण वहाँ अधिक दिखलाई देते हैं। कभी एक ही प्रकार से निर्मित क्रियापदो, कभी एक ही कारक के विभक्त्यंत पदों, कभी समस्त पदों के अन्तर्गत अंगभूत एक ही शब्द की आवृत्ति से और कभी एक स्वतन्त्र पद की आवृत्ति से कवि ने अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न किया है।

एक ही प्रकार से निर्मित क्रियापद की चमत्कारपूर्ण आवृत्ति का एक प्रभावशाली उदाहरण वर्षा-वर्णन के अन्तर्गत दिखलाई देता है जहाँ कवि ने वर्तमान काल मे अन्य पुरुष बहुवचन के क्रियारूपों की आवृत्ति से चमत्कार उत्पन्न किया है—

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति।
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ता
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः॥[2]

एक ही प्रकार के विभक्त्यंत पदो की आवृत्ति के उदाहरण अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे मिलते हैं क्योंकि वाल्मीकि ने विभिन्न कारको मे इस प्रकार के प्रयोग किये हैं। इस प्रकार के उदाहरणो मे प्रथमा बहुवचन का एक उदाहरण बहुत ही प्रभावशाली है। उसमे जिन संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है वे सब इन्द्रान्त हैं। इस प्रकार शब्द और विभक्ति दोनो के योग से वहाँ वर्णध्वनि-समुच्चय की आवृत्ति मे दोहरा चमत्कार उत्पन्न हो गया है—

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विश्रान्ततरा मृगेन्द्राः।
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः॥[3]

एक अन्य श्लोक मे कवि ने इसी प्रकार के इन्द्रान्त पदो की प्रथमा विभक्ति मे आवृत्ति करने साथ तृतीया विभक्ति मे अन्य शब्दो की आवृत्ति की है जिसमे उपर्युक्त

---

[1]—वाल्मीकि रामायण, ४।३०।४५

[2]—वही, ४।२८।२७

[3]—वही, ४।३०।४३

श्लोक जैसा चमत्कार तो दिखलाई नहीं देता, फिर भी उसका संस्पर्श वहाँ अवश्य प्रतीत होता है—

नरैनरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्रा
सुरेन्द्रदत्तं पवनोपनीतं ।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूप श्रिय स्वामिव दर्शयति ॥[1]

कहीं कहीं कवि ने एक ही प्रकार के तृतीया बहुवचन प्रयोगों की झड़ी सी लगाते हुए इस प्रकार के प्रभाव को घनीभूत कर दिया है—

अभ्यागतैश्चारु विशालपक्षै
स्मरप्रिय पद्मरजो वकीर्णै ।
महानदीनां पुलिनोपयातै
क्रीडन्ति हंसा सहचक्रवाकै ॥[2]

× × ×

मनोज्ञगन्धै प्रियकैरनल्पै पुष्पातिभारावनताग्रशाखै ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामैरुद्योतितानीव वनान्तराणि ॥[3]

कवि ने विभक्ति आवृत्ति का चमत्कार षष्ठी तथा सप्तमी के प्रयोगों में भी दिखलाया है। षष्ठी विभक्ति के प्रयोगों की आवृत्ति का प्रभाव कुछ अधिक सघन दिखलाई देता है क्योंकि उसमें 'प्रिय' और मद शब्द की आवृत्ति का प्रभाव भी अन्तर्भूत हो गया है—

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
वने प्रियाणां कुसुमोद्गतानाम ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गजोत्तमानां गतयोऽद्य मन्दा ॥[4]

एक अन्य श्लोक में षष्ठी विभक्ति की आवृत्ति ऐसे शब्दों के साथ की गई है जिनमें एक को छोड़कर सभी के के अन्त में 'न' ध्वनि है फलत वहाँ षष्ठी विभक्ति

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ४।२८।४६
[2] —वही ४।३०।३१
[3] —वही, ४।३०।३४
[4] —वही, ४।३०।३५

की आवृत्ति 'न' वर्णध्वनि की आवृत्ति से संयुक्त होने के मोहक प्रभाव की सृष्टि करती हैं—

घनानां वारणानां मयूराणां च लक्ष्मण ।
नाद: प्रस्रवणानां च प्रशांत: सहसानघ ॥[१]

इसी प्रकार सप्तमी की आवृत्ति के साथ कवि ने आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों की आवृत्ति को मिलाकर उसके प्रभाव में वृद्धि की है—

शाखासु सप्तच्छदपादपानां
प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम ।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां
श्रियं विभाज्याद्य शरत्प्रवृत्ता: ॥[२]

एक ऐसा उदाहरण भी रामायण में मिलता है जिसमें पहले पुल्लिंग में और तदुपरान्त स्त्रीलिंग में सप्तमी की आवृत्ति करते हुए एक साथ दो प्रकार की आवृत्तियों का प्रभाव उत्पन्न किया गया है—

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता । [३]

विभक्तियों के अतिरिक्त कृदन्त की आवृत्ति से भी वाल्मीकि ने वर्णध्वनि-समुच्चय के चमत्कारपूर्ण प्रभाव की सृष्टि की है। वर्षा-वर्णन में इसका एक अच्छा उदाहरण देखने को मिलता है जहाँ प्रत्येक चरण के आरम्भ में 'जाता' या 'जाता:' का प्रयोग हुआ है—

जाता वनान्ता: शिखिसुप्रनृत्ता
जाता: कदम्बा: सकदम्बशाखा: ।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा ॥[४]

'कदाचित्' की आवृत्ति का चमत्कार भी रामायण में एकाधिक स्थानों पर व्यक्त हुआ है, जैसे—

१—वाल्मीकि रामायण, ४।३०।२६
२—वही, ४।३०।२८
३—वही, ४।३०।३२
४—वही, ४।२८।२६

क्वचित् प्रगीता इव षट्पदौघैः क्वचित् प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः ।
क्वचित् प्रमत्ता इव वारणेन्द्रैर्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ।[1]

उपर्युक्त उदाहरणों से वर्णध्वनि प्रयोग में आवृत्तिजन्य सौन्दर्य सृष्टि के सम्बन्ध में वाल्मीकि के सामर्थ्य का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है। वाल्मीकि ने इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण प्रयोग व्यापक मात्रा में भले ही न किये हों किन्तु जहाँ उन्हें ऐसा करना अभीष्ट रहा है, इसमें वे पूर्णतया सफल रहे हैं।

वर्णध्वनि-आवृत्ति की प्रवृत्ति मानस में व्यापक रूप से पाई जाती है, किन्तु रामायण के समान वहाँ आवृत्ति प्रधानतः व्याकरणमूलक न होकर शब्द-चयन मूलक है। इस अन्तर का कारण संस्कृत और अवधी की स्वरूपगत भिन्नता है। संस्कृत संयोगात्मक भाषा है और अवधी वियोगात्मक। इसलिए अवधी में संस्कृत के समान कारक और क्रिया-रूपों के साथ शब्द एकाकार नहीं होता, उसकी सत्ता प्रायः स्वतन्त्र रहती है। कारकों और क्रियाओं की आवृत्ति से वर्णध्वनि-सौन्दर्य की सृष्टि के लिये वहाँ प्रायः अवकाश नहीं रहता। अतएव मानसकार ने शब्द-रूप के आधार पर आवृत्ति की योजना न कर शब्द-चयन और शब्द-विन्यास के आधार पर वर्णध्वनि की आवृत्ति को सँजोया है। जहाँ कवि ने संस्कृत का प्रयोग किया है वहाँ कभी कभी वाल्मीकि जैसी वर्णध्वनि-आवृत्ति भी की है। मानस के प्रारम्भ में ही तुलसीदास ने षष्ठी विभक्ति की आवृत्ति का चमत्कार दिखलाया है—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥[2]

किन्तु उसका सौन्दर्य वहाँ अधिक निखरा है जहाँ कवि ने आवृत्ति का आधार व्याकरण को न बनाकर शब्द-चयन और शब्द-क्रम को बनाया है जैसे—

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।[3]

और यही प्रवृत्ति मानस की 'भाषा' में व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होती है। मंगलाचरण के साथ ही कवि की प्रवृत्ति व्यक्त होने लगती है—

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू ।
सुकृति संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती ।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलक गुन गन बस करनी ।[3]

१—वाल्मीकि रामायण, ४।२८।३३
२—मानस, बालकाण्ड, मंगलाचरण का संस्कृत पद्य
३—वही
४—वही १।५।१ २

उपर्युक्त चौपाइयों में वर्णध्वनि-प्रयोग का वैशिष्ट्य यह है कि कवि ने ऐसे शब्दों को निरन्तरता में संयोजित किया है जिनमें प्रारम्भिक द्वितीय अथवा अंतिम वर्णों की आवृत्ति हुई है। 'पद पदुम परागा' में लगातार तीन ऐसे शब्द आते हैं जिनमें से प्रत्येक के आरम्भ में 'प' ध्वनि है। इनके अतिरिक्त प्रथम दो शब्दों में द्वितीय ध्वनि 'द' की आवृत्ति भी है। 'सुरुचि सुबास सरस', में लगातार तीन ऐसे शब्द आये हैं जिनमें से प्रत्येक के आरम्भ में 'स' ध्वनि है। 'मूरि मय चूरन चारू' में प्रथम दो शब्दों का आरंभ 'म' ध्वनि से और अन्तिम दोनों का 'च' ध्वनि से होता है। इसी प्रकार 'मंजुल मंगल मोद' और 'मंजु मुकुर मल' में 'म' ध्वनि से आरंभ होने वाले शब्दों की निरंतरता दिखलाई देती है। 'सुकृति संभु तन बिमल बिभूति' में मध्यवर्ती शब्द 'तन' के दोनों ओर जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनकी निरन्तरता में शब्दों की प्रथम वर्ण-ध्वनि के साम्य का निर्वाह किया गया है। 'मूरि मय' में दोनों शब्द 'म' से आरंभ होते हैं और 'बिमल बिभूति' में 'बि' से। शब्दों के द्वितीय अक्षर के समान ध्वनि के निर्वाह का उदाहरण भी 'जन मन' और 'गुन गन' में देखा जा सकता है। इस प्रकार निरंतरता में समान वर्णध्वनि से आरंभ शब्दों का प्रयोग कर तुलसीदास ने काव्य-श्रवण को ध्यान में रखते हुए उसको कर्णप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। मानस में यह प्रवृत्ति व्यापक रूप से पाई जाती है। जिस प्रकार कवि ने मानस के आरंभ में वर्णध्वनि के कौशलपूर्ण प्रयोग से काव्य को कर्णप्रिय बनाया है, उसी प्रकार मानस के अंत की ओर जाते हुए इस प्रकार की कुछ चौपाइयों की रचना की है, जैसे—

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभगम्य अखंड अनूपा॥[1]

में प्रत्येक शब्द 'अ' से आरंभ होता है। इसी प्रकार—

बिनय विवेक विरति सुखदायक।[2]

में अंतिम शब्द को छोड़कर सभी शब्द 'बि' से आरंभ होते हैं।

मानस के मध्य भाग में भी इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण दिखलाई देते हैं जिनमें वर्णध्वनि-संयोजन पर असाधारण अधिकार के परिणामस्वरूप मानसकार वर्णध्वनि सौन्दर्य की सृष्टि कर सका है। अयोध्याकांड में—

सुकृत सील सुख सींव सुहाई।[3]

में सभी शब्द 'स' से आरम्भ होते हैं, और—

१—मानस, ७।११०।२

२—वही ७।३५।३

३—वही, २।१४।४

सासु ससुर गुर सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ।।[1]

मे अकेले 'गुरु' को छोड़कर शेष सभी शब्द 'स' आरंभ होने वाले हैं।

मानस मे वर्णध्वनि-आवृत्ति पर आधृत भाषा-सौन्दर्य का एक और रूप भी दिखलाई देता है। व्यञ्जनगत भिन्नता के भीतर स्वरगत सादृश्य का निर्वाह करते हुए एक ही प्रकार के स्वरक्रम से सम्पन्न शब्दो का प्रयोगकर मानसकार ने इस प्रकार का चमत्कार उत्पन्न किया है —

जोग बियोग भोग भल मदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फदा ।
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू । सपति बिपति करमु अरु कालू ।।[2]

मे 'जोग वियोग-भोग' 'सपति बिपति' और 'मध्यम भ्रम' मे आतरिक नाद की सृष्टि इसी प्रकार की गई है। 'जनमु-मरनु' मे भी स्वर-सादृश्य के बोध से इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न किया गया है—

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं ।[3]

मे भी आनरिक तुक-सम्पन्नता से कर्णप्रिय प्रभाव की सृष्टि की गई है।

कहीं-कहीं कवि ने एक साथ दोनो रूपो मे वर्णध्वनि की आवृत्ति करते हुए दोनों प्रकार से मानस के वर्णध्वनि सौन्दर्य को समृद्ध किया है, उदाहरणार्थ—

प्रिय हिय की सिय जाननिहारी । मनि मुदरी मन मुदित उतारी ।।[4]

मे पूर्वार्द्ध मे वर्णध्वनि की आवृत्ति का सौन्दर्य आतरिक तुक पर निर्भर है जिसमे शब्दो की अंतिम दो ध्वनियों मे से प्रथम ध्वनियों मे केवल स्वर-साम्य होता है और द्वितीय ध्वनियों मे व्यजन-साम्य भी रहता है। 'प्रिय हिय की सिय' मे इसी प्रकार की आवृत्ति है। उत्तरार्द्ध मे वर्णध्वनि सौन्दर्य अंतिम शब्द के अतिरिक्त शेष सभी शब्दो के आरम्भ मे 'म' की आवृत्ति से उत्पन्न हुआ है।

दोनों प्रकार की वर्णध्वनि-आवृत्ति के समन्वित रूप का निर्वाह मानसकार ने कहीं-कहीं लगातार कई पंक्तियों में किया है, जैसे—

परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा । प्रिय परिवार कुरग विहगा ।।
सासु ससुर सम मुनि तिय मुनिवर । असनु अमिअ सम कद मूल फर ।

१—मानस, २।६४।१
२—वही, २।९१।३
३—वही, २।२।४
४—वही २।१०।२

नाथ साथ सांथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदाई॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोहिं सक बिषय बिलासू॥[1]

ऐसे उदाहरणों से मानसकार का वर्णध्वनि-प्रयोग के सम्बन्ध मे जो असाधारण नैपुण्य सिद्ध होता है वह वाल्मीकि से विशिष्ट है। वाल्मीकि ने वर्णध्वनि-आवृत्ति से जो चमत्कार उत्पन्न किया है वह संस्कृत की संयोगात्मक प्रकृति के अनुसार व्याकरण-मूलक है जबकि मानसकार ने 'भाषा' की प्रकृति के कारण व्याकरणमूलक वर्णध्वनि का अवकाश न होने पर भी शब्द-चयन और शब्द-क्रम-कौशल के द्वारा वर्णध्वनि-आवृत्ति से उत्पन्न सौन्दर्य की सृष्टि कर अपना आप्ताधिकार व्यक्त किया है।

अनुरणनात्मक प्रभाव की सृष्टि

वर्णध्वनियों की आवृत्ति के माध्यम से कवि कभी-कभी अनुरणनात्मक प्रभाव की सृष्टि भी करते हैं—वर्णध्वनियों की आवृत्ति के माध्यम से वे वर्ण्य क्रिया अथवा *स्थिति का ध्वनि-बिम्ब उपस्थित करते हैं। वाल्मीकि की विशालाकार रामायण मे* इस प्रकार के उदाहरण दुष्प्राप्य हैं—खोजने पर कहीं ऐसा उदाहरण मिल सकता है, जैसे—

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति॥[2]

मे 'विश्रम्य' की आवृत्ति इस प्रकार की गई है कि वर्णध्वनि-संयोजन ही रुक-रुक कर आगे बढ़ने का प्रभाव प्रेषित करता है। मानस मे इस प्रकार के उदाहरण पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। बालकाड मे सीता के आभूषणों की ध्वनि को सम्मूर्तित करते हुए कवि ने लिखा है—

कङ्कन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि॥[3]

अयोध्याकाड मे जब राम सुमन्त्र के साथ रथ को अयोध्या लौटाते हैं तो व्यथित रथाश्वों के स्वर को अपने काव्य मे कवि ने सम्मूर्तित किया है—

हिंकरि हिंकर हित हेराहिं तेही।[4]

---

[1] —मानस, २/१३९/३-४

[2] —वाल्मीकि रामायण, ४।२८।२२

[3] —मानस, १।२२९।१

[4] —वही, २।१४२।४

और सुन्दरकाड मे अशोकवाटिका-विध्वस के उपरात राक्षसो का सामना करते हुए हनुमान का चित्र भी कवि ने वर्णध्वनि-योजना के माध्यम से अकित किया है—

कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥[1]

स्पष्ट है कि अनुरणनात्मक चित्रण की प्रवृत्ति मानस के कवि मे आदि कवि की तुलना मे कही अधिक रही है ।

भाषा-संगठन और गुण-सम्पन्नता

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे भाषागत भिन्नता के बावजूद भाषा-सगठन की दृष्टि से आश्चर्यजनक समानता के दर्शन होते हैं । दोनों मे वर्णध्वनि-योजना और वाक्य-गठन मे प्रवाह एवं प्रसादात्मक संक्षिप्ता है । हिन्दी की तुलना में संस्कृत संधि प्रिय एवं समासबहुला भाषा है और इस दृष्टि से मानस की तुलना मे वाल्मीकि रामायण की अल्पप्रसादात्मकता स्वाभाविक है, फिर भी सस्कृत के अन्य कवियो की तुलना मे वाल्मीकि का भाषा-सगठन सरल होने के कारण उनमे प्रसाद गुण प्रचुराश मे पाया जाता है । वाल्मीकि रामायण मे संधि प्राधान्य और समास बाहुल्य उस सीमा तक नहीं पहुँचे हैं जहा वे प्रसादात्मकता मे बाधक बन जाते हैं । संधि और समास के प्रति अधिक अभिरुचि होने के कारण सस्कृत के अनेक कवियो की वाक्ययोजना उलझ गई है और उसके परिणामस्वरूप उनके वाक्यो मे वर्णध्वनि-समवाय सहृदय की ग्रहण सामर्थ्य का उल्लघन कर गया है । इसके विपरीत वाल्मीकि रामायण मे वर्णध्वनि-योजना संधि-समास-बाहुल्य से मुक्त होने के कारण छोटे-छोटे वाक्याशो मे संघटित होने से साफ-सुथरी दिखलाई देती है । वह सहृदय-ग्राह्य ही नहीं, सहृदयरञ्जक भी है । वाल्मीकि ने वर्णध्वनि-समवाय को लघु वाक्य-खंडों मे सगठित करके अपनी भाषा की प्रसादात्मकता का निर्वाह किया है जिसका साक्ष्य वाल्मीकि रामायण में सर्वत्र मिलता है । यहाँ इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा ।

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाःशतशोऽभितः ।
बहुलाः बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः ॥[2]

उपर्युक्त उदाहरण इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण की प्रसादात्मक भाषा का प्रतिनिधित्व करता है कि उसमे सन्धि-समास के समावेश के बावजूद एक प्रकार की प्रवाहमय स्वच्छता बनी हुई है । वाल्मीकि रामायण मे वर्णध्वनि-योजना प्रायः सर्वत्र

---

[1] —मानस, ५/१८/२

[2] —वाल्मीकि रामायण, २/९४।२०

इसी प्रकार संधि-समासयुक्त होती हुई भी उलझने नहीं पाई है। फलत उसमें सुग्राह्यता और प्रवाहशीलता की रक्षा हुई है।

रामचरितमानस में भाषा की वियोगात्मक प्रकृति के कारण कवि के लिये प्रसादात्मकता की रक्षा करना अपेक्षाकृत सरल कार्य रहा है। तुलसीदासजी की भाषा में भी वाल्मीकि के समान छोटे-छोटे वाक्य खण्डों में वर्णध्वनि-संयोजन के परिणामस्वरूप भाषा प्रसादात्मक बनी रही है। वाल्मीकि रामायण के समान मानस में भी प्रसाद गुण आद्यन्त विद्यमान है। उसे खोजने की आवश्यकता नहीं है, कहीं से कोई भी पंक्ति उठाई जा सकती है, जैसे—

मनि मति नीच ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी।[1]

में 'मनि मति नीच', 'ऊँचि रुचि आछी,' 'चहिअ अमिअ' और 'जग जुरइ न छाछी' वाक्य-खण्डों के अन्तर्गत संघटित वर्णध्वनियों की परिमित संख्या के कारण भाषा सुथरी और सुग्राह्य बनी रही है। पद-दीर्घता से प्रसाद गुण के बाधित होने का प्रश्न तो मानस के सम्बन्ध में (संस्कृत पद्यों को छोड़ कर) कहीं उठता ही नहीं क्योंकि वहाँ संधि समास की ओर अधिक प्रवृत्ति नहीं रही है।।

माधुर्य की मात्रा भी मानस की तुलना में वाल्मीकि रामायण की भाषा में अल्पतर है जिसका कारण संस्कृत की अपनी प्रकृति है। संस्कृत में विभक्तियों और सन्धियों के कारण संयुक्ताक्षरों का आधिक्य स्वाभाविक है और संयुक्ताक्षरों का आधिक्य माधुर्यगुण का विरोधी है। मानस की भाषा कहीं अधिक माधुर्य-सम्पन्न है, फिर भी वाल्मीकि रामायण में जहाँ कोमल प्रसंगों की अवतारणा हुई है, वहाँ कवि संस्कृत भाषा की प्रकृतिगत सीमा के बावजूद कोमल वर्णध्वनियों के सहारे माधुर्य का निर्वाह करने में सफल हुआ है। सीताराम के चित्रकूट-विहार के अवसर पर राम के द्वारा वनवासादेश के औचित्यीकरण की अभिव्यक्ति के प्रसंग में कवि ने कोमल वर्णध्वनियों के संयोजन से माधुर्य की सृष्टि करते हुए उक्ति के अर्थ-प्रभाव को वर्णध्वनि प्रभाव से पुष्ट किया है—

अनेन वनवासेन मम प्राप्तं फलद्वयम्।
पितुश्चानृण्यता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा॥[2]

उपर्युक्त पद्य की श्रवण मधुरता कोमल वर्णध्वनि-चयन, ह्रस्व वर्णों की प्रधानता तथा छोटे छोटे शब्दों के ग्रहण पर निर्भर रही है। 'पितुश्चानृण्यता' आकार और

---

१ —मानस, १।७।४

२ —वाल्मीकि रामायण, २।९।१६

श्रव्य ध्वनि दोनो दृष्टियो से माधुर्ययुक्त नहीं है लेकिन समग्र श्लोक के प्रवाह मे उससे कोई बाधा नहीं पडती ।

सीता को राम का सन्देश देते समय हनुमान जब सीता-मुक्ति के लिए राम के भावी अभियान की घोषणा करते हैं तो उनकी शब्दावली ओजपूर्ण हो जाती है,[१] किन्तु जब वे सीता के प्रति राम के मधुर भाव की सूचना देते हैं तो उनकी शब्दावली कोमल वर्णध्वनियो के बल पर भावगत माधुर्य का साथ देने लगती है ।[२]

मानसकार माधुर्य की सृष्टि मे कहीं अधिक सफल रहा है । जिस समय मधुर प्रसग को सम्मूर्तित करने मे वह सलग्न होता है उस समय उसकी वर्णयोजना अद्भुत प्रभावकारी हो जाती है । भाव की मधुरता के साथ वर्णध्वनियों की मधुरता जैसे द्रवित होने लगती है । कोप-भवन मे कैकेयी को मनाते हुए दशरथ की शब्दावली में प्रसगानुकूल वर्णध्वनि-माधुर्य का संस्पर्श स्पष्ट दिखलाई देता है ।[३] वन मे साथ चलने से सीता को विरत करने का प्रयत्न करते समय राम की शब्दावली भी इसी प्रकार मधुर प्रभावोत्पादक वर्णध्वनियो से सम्पन्न है ।[४] वर्णध्वनियो की कोमलता हनुमान द्वारा सीता को दिये गये राम के सदेश मे चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई प्रतीत होती है जिसके परिणामस्वरूप उक्त स देश मे भावगत माधुर्य के साथ भाषागत माधुर्य के सन्निवेश से उसकी प्रभावशक्ति मे द्विगुणित वृद्धि हो गई है ।[५] ग्रामवधू प्रसग मे भी कवि ने मधुर भाव को मधुर वर्णध्वनियों से सन्निविष्ट रूप मे ही चित्रित किया है ।[६]

माधुर्य और और ओज के विरोध के सम्बध मे वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों जागरूक रहे हैं । वाल्मीकि रामायण की सीता-हनुमान वार्ता मे ओज और माधुर्य दोनो की एक ही अवसर पर सृष्टि कर कवि ने अपनी वर्णध्वनि-योजना विषयक निपुणता का अच्छा परिचय दिया है । सीता के उद्धार के लिये शीघ्र ही राम लका पर चढाई करेंगे—सीता को यह आश्वासन देते समय हनुमान की शब्दावली कठोर वर्णध्वनियो से युक्त होने के कारण उनके उत्साह को बहुत अच्छी तरह वहन कर

१—वाल्मीकि रामायण, ५।३६।३७
२—वही, ५।३६।४२ ४६
३—मानस, २।२५।२ ३
४—वही, २।६२।३-४
५—वही, ५।१४।१-४
६—मानस, २।११५।१-४

सकी है ।[1] ओज की सृष्टि के लिये वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो ने युद्ध-वर्णन के अन्तर्गत अपनी-अपनी वर्णध्वनि-योजना का चमत्कार दिखलाया है । युद्ध क्षेत्र में राम को राक्षसराज रावण का परिचय देते समय विभीषण जब उसका वर्णन करता है तो उसकी शब्दावली मे संयुक्ताक्षरो और कठोर वर्णों का ऐसा आधिक्य घिर आता है जिसके परिणामस्वरूप रावण के पराक्रम की कठोरता शब्द श्रवण से ही व्यक्त होने लगती है ।[2] युद्ध वर्णन मे भी वाल्मीकि ने इसी प्रकार कठोर वर्णों एवं संयुक्ताक्षरों के सघन बहुल्य द्वारा अभीष्ट प्रभाव (ओज) की सृष्टि की है[3] । ऐसे प्रसंगो मे कहीं-कहीं वाल्मीकि की सहज सरल भाषा एकाएक लम्बे समासों से आवृत होकर दीर्घ वाक्य-योजना द्वारा वर्णध्वनियों के दुर्ग्राह्य संयोजन से सहृदय को अभिभूत करती दिखलाई देती है ।[4]

मानसकार को भी जहां ओज की सृष्टि अभीष्ट रही है वहां उसने कठोर वर्णों और संयुक्ताक्षरों के आधिक्य द्वारा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न किया है । शिव-धनुष टूटने पर कवि ने शिव-धनुष की दुर्दमता के अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिये उक्त विधि अपनाई है ।[5] युद्ध-वर्णन के अवसर पर इस प्रकार की वर्णध्वनि योजना का बाहुल्य दिखलाई देता है । अरण्यकाण्ड मे खर-दूषण के साथ राम के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि ने ओजपूर्ण-शब्दावली का प्रयोगकर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न किया है,[6] किन्तु कठोर वर्णध्वनि-योजना का चरमोत्कर्ष राम रावण युद्ध के अवसर पर दिखलाई देता है ।[7]

इस प्रकार युद्ध-वर्णन के बीच-बीच मे तुलसीदास ने कठोर वर्णो एवं संयुक्ताक्षरों के बहुल प्रयोग से ओज की सफल सृष्टि की है जिससे यह सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी माधुर्य और ओज दोनो की यथावसर सृष्टि मे सिद्धहस्त थे. किन्तु वाल्मीकि के समान वे अधिक समय तक ओज का निर्वाह नहीं कर पाते । वाल्मीकि जिस समय युद्ध-प्रकरण आरम्भ करते हैं तो चाहे वीरो का परिचय हो, चाहे उस अवसर की भीषणता का चित्रण हो और चाहे युद्ध वर्णन हो, आद्यन्त वे ओजपूर्ण शब्दावली का प्रयोग करते हैं । सर्गों तक निरन्तर कठोर वर्णों, संयुक्ताक्षरो और

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ५।३६।३४-३५

[2] —वही, ६।५९।२३।२५

[3] —वही, ६।५९।१२७

[4] —वही, ६।६६।३३

[5] —मानस, १।२।६०, छंद

[6] वही, ३।१९ छंद

[7] —वही, ६।८० छंद, ६९० छंद

सामासिकता के समावेश से वर्णध्वनियों का घटाटोप-सा उत्पन्न कर देते हैं। मानसकार थोडी दूर चलकर ही ओज का पल्ला छोड देता है और अपनी सहज प्रसादमयी शब्दावली का प्रयोग करने लगता है। ओजपूर्ण शब्दावली की दृष्टि मे वाल्मीकि का काव्य जैसा सम्पन्न है वैसा तुलसी का काव्य नहीं, फिर भी उन्होंने बीच बीच में अवकाश निकाल कर युद्ध वर्णन को ओज का मस्पर्श प्रदान कर अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि की है।

पद-संघटन-चमत्कार

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो में पद-रचना सरल और सुसघटित है। एक ही अर्थ के घटक पदो मे प्राय निकटता और सुसम्बद्धता है। फलत. वाक्य-रचना मे अन्विति बनी रही है और वाक्य रचना की अन्विति के परिणामस्वरूप दोनो काव्य अर्थ-विघटन से बचे रहे हैं। दोनो काव्यो मे शब्द-चमत्कार को उस सीमा तक प्राय नहीं पहुँचने दिया गया है जहाँ वह अर्थोन्मीलन की ऋजुता मे बाधक बन सके। इसके विपरीत दोनो कवियो ने ऐसे चमत्कार की योजना की है जो अर्थ-सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करता है।

वाल्मीकि रामायण मे कही कही शब्द-क्रम का चमत्कारपूर्ण प्रयोग उक्त प्रयोजन मे साधक सिद्ध हुआ है। कवि ने पहले नदियों, बादलों, मत्त गजो, वनों विरहीजनो, मोरो और वानरो की वर्षाकालीन क्रियाओ का उल्लेख किया है और तदुपरान्त उसी क्रम से उन क्रियाओं के कर्त्ताओ को प्रस्तुत किया है। फलत. वह श्लोक यथासंख्य अलकार का बहुत ही सुंदर उदाहरण बन गया है—

वहन्ति वर्षन्ति नन्दन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीना. शिखिन प्लवगमाः ॥[1]

इसी प्रकार आवृत्तिदीपक[2] के रूप मे कवि ने चमत्कारपूर्ण पद-प्रयोग से अर्थ को उत्कर्ष प्रदान किया है। है। वर्षा वर्णन मे कवि ने निरंतर दो श्लोको मे आवृत्ति-दीपक की सयोजना की है—

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति ।

---

[1] वाल्मीकि रामायण, ४।२८।२७

[2] 'दीपकस्यावृत्तिरावृत्तिदीपकम्'--कविराज मुरारिदान, यशवंतभूषणम्, पृ० ४४०

हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
काता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥[१]

उपर्युक्त पद्य मे अभ्युपैति की बार-बार आवृत्ति अर्थ सौन्दर्य की वृद्धि मे सहायक हुई है। इसी प्रकार कवि ने जाता' की अर्थ सौन्दर्योपकारक आवृत्ति की है—

जाता वनान्ता शिखि सुप्रनृत्ता
जाता कदम्बा सकदम्बशाखा ।
जाता वृषा गोषु समान कामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा ॥[२]

वाल्मीकि ने शब्द चमत्कार के सहारे अर्थोत्कर्षक की सिद्धि के लिये तुल्ययोगिता अलकार का भी प्रभावशाली प्रयोग किया है—

नदीघनप्रस्रवणोदकानामतिप्रवृद्धानिलबर्हिणानाम ।
प्लवगाना च गतोत्सवाना ध्रुव रवा सम्प्रणष्टा ॥[3]

और इसी प्रकार कवि ने वर्षा काल मे मार्गावरोध तथा शत्रु भावावरोध दोनों को एक-सी अवस्था हो जाने की बात कह कर तुल्ययोगिता का अच्छा प्रयोग किया है—

वृत्ता यात्रा नरेन्द्राणां सेना पथ्येव वर्तते ।
वैराणि चैव मार्गाश्च सलिलेन समीकृता ॥[४]

मानसकार ने भी उक्त तीनों अलकारों का उपयोग अर्थ की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिये किया है। बालकाड के प्रारम्भ में ही कवि ने काव्य-सौन्दर्य पर विचार करते हुए उसकी काव्य रचना, कृति और आस्वादन के त्रिकोण को अन्य वस्तुओं के त्रिकोणात्मक सौदर्य के परिपार्श्व म इस प्रकार रखा है कि उन वस्तुओं के उद्भव का क्रम वस्तु क्रम के अनुसार रहा है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी । [५]

मानस मे आवृत्ति दीपक के रूप मे पद-संघटन का प्रयोग प्रायः किसी प्रभाव विशेष को बल प्रदान करने के लिये किया गया है। राजा दशरथ की मृत्यु के

१—वाल्मीकि रामायण, ४।२८।२५
२—वही, ४।२८।२६
३—वही, ४।३०।४३
४—वही, ४।२८।५३
५—मानस, १।१०।१

उपरान्त भरत के दुःखी होने पर उन्हें समझाते हुए वसिष्ठ राजा दशरथ के शोचनीय न होने की बात पर बल देने लिए शोचनीय व्यक्तियों की सूची उपस्थित करते समय बार-बार सोचिअ शब्द का जो प्रयोग करते हैं उसमें आवृत्ति-दीपक अलंकार का सौन्दर्य समाविष्ट है।[१]

अनेक बार पदों को एक क्रिया से सम्बंधित कर उनको एकान्वित रूप में प्रस्तुत करते हुए मानसकार ने तुल्ययोगिता-मूलक पद-संघटन-शक्ति का चमत्कार धनुभंग के अवसर पर दिखलाया है। धनुभंग के साथ ही कितनी वस्तुएँ भंग हुई इसका वर्णन कवि ने रूपक के आश्रय में तुल्ययोगिता के बल पर किया है—

सब कर संसय अरु अग्यानू । मंद महीपन्ह कर अभिमानू ॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई । सुर मुनि बरन केरि कदराई ॥
सिय कर सोच जनक पछितावा । रानिन्ह कर दारुन दुख दावा ॥
संभु चाप बड़ बोहित पाई । चढ़े जाइ सब संगु बनाई ॥[२]

इस प्रकार का चमत्कारपूर्ण पद-संघटन वाल्मीकि रामायण और मानस को सौन्दर्यसम्पन्न बनाने में सहायक अवश्य हुआ है किन्तु दोनों काव्यों में उनका प्रयोग सीमित मात्रा में ही हुआ है और सच बात यह है कि इस प्रकार का चमत्कार सीमित मात्रा में ही सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होता है, अति होने से पद-संघटन की स्वाभाविकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सहज रूप में दोनों के पदसंघटन में स्वच्छता स्पष्टता और प्रवाह है। अपने सहज रूप तथा चामत्कारिक प्रवृत्ति दोनों दृष्टियों से वाल्मीकि रामायण और मानस की भाषा का सौन्दर्य लगभग समान रीति से निखरा है।

अर्थव्यक्ति, परिकर और परिकरांकुर

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनों में शब्द-प्रयोग उनके स्रष्टाओं के असाधारण भाषाधिकार का सूचक रहा है। वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों का शब्द-प्रयोग इतना सधा हुआ है कि उससे अभीप्ट अर्थ का अव्यवहित बोध होता है। कवि का मन्तव्य अन्यथा समझे जाने की भ्रान्ति के लिए दोनों काव्यों में से किसी में भी अवकाश दिखलायी नहीं देता। रामायण एवं मानस अपनी सम्पूर्णता में कवियों के भाषाधिकार—निश्चित अर्थ सम्प्रेषक शब्दाधिकार—के साक्षी हैं।

कहीं-कहीं वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने विशेष अभिप्राय के द्योतन के लिये विशिष्ट अर्थगर्भित शब्दों का प्रयोग किया है। मानस में यह कौशल अपेक्षाकृत

१—द्रष्टव्य—इसी अध्याय में 'बल' विषयक प्रकरण पृ० ३२५

२—वाल्मीकि रामायण, ३।३९।१४

अधिक स्पष्ट रूप मे दिखलायी देता है, किन्तु वाल्मीकि रामायण मे भी उसका एकान्त अभाव नहीं है। वन मे साथ न चलने के लिए लक्ष्मण को समझाते हुए राम उनसे कहते हैं कि कदाचित् उनकी अनुपस्थिति में भरत कौसल्या और सुमित्रा का भली भाँति भरण-पोषण नही करेंगे।

न भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ।[1]

यहाँ भरण-पोषण से सम्बन्धित होने के कारण भरत शब्द साभिप्राय प्रयुक्त प्रतीत होता है और इस प्रकार उसके प्रयोग से अर्थ-सम्प्रेषण मे जो चमत्कार उत्पन्न हुआ है—जिसे भारतीय आचार्यों ने परिकरांकुर की संज्ञा दी है—उससे काव्य-सौन्दर्य की सिद्धि मे महत्त्वपूर्ण योग मिलना है।

मानसकार इस प्रकार के अभिप्राय गर्भित प्रयोगो मे सिद्धहस्त है। उसने अनेक स्थानों पर शब्दो का अभिप्राय-गर्भित प्रयोग किया है। डा० राजकुमार पाडेय का विचार है कि मानस मे 'लक्ष्मण' और 'लखन' का प्रयोग विभिन्न अभिप्रायो से गर्भित है—'लखन' एव 'लछिमन' शब्द के प्रयोग मे भी हमे कवि की ऐसी ही विशिष्ट योजना का हाथ दिखलाई देता है। रामचरितमानस के अन्तगत हमे कई बार इस तथ्य का पोषण होते देख पडता है कि कवि ने लखन शब्द के साथ उनको प्रखर बुद्धि एवं अन्तर्दृष्टि की विशेषता को भी संलग्न हो जाने दिया है किन्तु दूसरी ओर 'लछिमन' शब्द के प्रयोग मे स्पष्टतः इस वैशिष्ट्य की अवहेलना की गई है। बालकाड मे 'लखन लखेउ रघुबंस मणि ताकेउ हर कोदण्ड' 'लखन लखेउ प्रभु हृदय खभारू' (अयोध्याकाड) एवं अरण्यकाड मे 'लछिमन हूं यह मरम न जाना' के प्रयोग हमारी उक्त धारणा के पोषक कहे जा सकते हैं।"[2] 'डा० पाण्डेय की यह धारणा उक्त उदाहरणों से भली भाँति प्रमाणित नही होती। 'लखन लखेउ रघुबंस-मणि ताकेउ हर कोदण्ड' मे बुद्धि और अन्तर्दृष्टि की क्रिया नही, चर्मचक्षुओ की क्रिया घोषित की गई है और 'लछिमन हू न यह मरम न जाना' जैसे विरल प्रयोग से यह सिद्ध नहीं होता है कि 'लछिमन' से उनका अभिप्राय बुद्धिशून्य या अन्तर्दृष्टि शून्य लक्ष्मण से है। इसके विपरीत लछिमन शब्द का अन्तर्दृष्टि या बुद्धि सम्पन्नता-सूचक स्थलो पर प्रयोग मिलता है। जब लक्ष्मण राम के वन जाने का समाचार सुनते हैं तो वे व्याकुल होकर राम के समीप पहुँचते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि उन्हें भी साथ ले लें—

---

[1]—साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकरांकुरः।
—कविराजा मुरारिदान, यशवन्तभूषणम्, पृ० ४५०

[2]—डा० राजकुमार पांडेय, रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन, पृ० ३४६

समाचार जब लछिमन पाए । ब्याकुल बिलखि बदन उठि धाए ।।[१]

इसी प्रकार लखन शब्द का प्रयोग अन्तर्दृष्टि का अभाव सूचित करने वाले प्रसंग में भी मिलता है—

पुनि कछु लखन कही कटु बानी । प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी ।।[२]

इस प्रकार की खींच तान से कवि के भाषाधिकार और उसकी सौन्दर्य साधना के मूल्याङ्कन में भ्रांति उत्पन्न होती है अतएव कवि के साभिप्राय शब्द प्रयोग को पुष्ट प्रमाणों के आधार पर देखना आवश्यक है।

मानस में विशेषण रूप में शब्दों का अभिप्राय गर्भित प्रयोग—जिसे परिकर अलंकार की संज्ञा दी जाती है[३]—स्पष्ट दिखलायी देता है। उदाहरण के लिये—

हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू ।।[४]

में वन-गमन के संदर्भ में सीता के लिए 'हंसगवनि' विशेषणमूलक सम्बोधन वनगमन के लिये उनकी अयोग्यता के अभिप्राय से गर्भित है। इसी प्रकार—

बरबस रोकि बिलोचन बारी । धरि धीरजु उर अवनिकुमारी ।
लागि सासु पग कह कर जोरी । छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी ।।[५]

में अवनिकुमारी का प्रयोग धैर्यधारण की शक्ति के अभिप्राय से गर्भित है। रावण के मस्तक छेदन के लिये छोड़े गये बाणों के लिए कवि ने 'रावण सिर-सरोज' के सम्बन्ध से 'शिलीमुख' का श्लिष्ट प्रयोग अभिप्राय-गर्भित रूप में किया है—

रावन सिर सरोज बनचारी । चलि रघुबीर सिलीमुख धारी ।।[६]

शिलीमुख कमलवन में विचरण करने वाले भवरों का का अभिप्राय अपने में समेटे हैं।

इससे स्पष्ट है कि मानसकार अभिप्राय विशेष से गर्भित शब्दों के प्रयोग में सिद्धहस्त था। उसके काव्य में जहाँ इस प्रकार साभिप्राय शब्द प्रयोग हुआ है, वहाँ उसकी साभिप्रायता सुव्यक्त हुई है। उसे पहिचानने के लिए अटकलबाजी की आवश्यकता नहीं है। अटकलबाजी से काव्य-सौन्दर्य की क्षति होती है जबकि

---

[१] —मानस, २।६९।१
[२] —वही २।९२।२
[३] —'अलंकार परिकर साभिप्राय विशेषणे'—कर्णपूर कविराज, अलंकारकौस्तुभ, पृ० ३११
[४] —मानस, २।६२।३
[५] —वही, २।६३।३ ४
[६] —वही, ६।९१ ४

मानसकार के काव्यकौशल की भव्यता भास्वर रूप में सहृदय-हृदय को अनुरंजित करने में समर्थ है।

बल (Stress) और प्रभाव-सघनन

वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने कहीं-कहीं अपने किसी मन्तव्य पर बल देने के लिये शब्दों की कौशलपूर्ण आवृत्ति की है। यह विधि मानस में अधिक अपनायी गयी है, लेकिन वाल्मीकि ने भी कहीं-कहीं इस विधि का प्रयोग कर काव्य के प्रभाव में वृद्धि की है जो उनके काव्य-सौन्दर्य में साधक सिद्ध हुई है। वन में साथ चलने के आग्रह से सीता को विरत करने के राम के प्रयत्न में इस प्रकार की शब्दावृत्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है। राम सीता को समझाते हुए वन की भयंकरता का चित्र उपस्थित करते समय दुखमेवसदावनम्, दुखमतोवनम्, दुःखतरवनम् आदि शब्दों को बार-बार दोहराते हैं।[1]

मानस में भी इस विधि का प्रभावशाली प्रयोग किया गया है। अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिये भरत शपथें खाते हुए पातकी जनों की सूची उपस्थित करते समय बार-बार 'अघ' और 'पातक' शब्दों की आवृत्ति करते हैं जिससे उनकी पाप-वितृष्णा गहरा रंग ले लेती है। दुःखी भरत को समझाते हुए वसिष्ठ शोचनीय व्यक्तियों की सूची उपस्थित करते समय बार-बार सोचिअ शब्द का प्रयोग करते हुए जब अन्त में कहते हैं—'सोचनीय नहिं कोसल राऊ' तो समस्त प्रकरण 'सोच' पर बल होने से निखर उठता है। इसी प्रकार राम द्वारा वाल्मीकि से वास-स्थान के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसके समक्ष ऋषि द्वारा जो सूची प्रस्तुत की जाती है, उसके बीच-बीच में 'बसहु बंधु सिय सह रघुनायक', 'बसहु हियँ तासु' 'राम बसहु तिनके मन माहीं' 'तिन के मन मन्दिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ' 'मन मन्दिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात, तेहि उर बसहु सहित बैदेही', 'बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेह आदि रूपों में 'बसहु' की आवृत्ति से मोहक प्रभाव की सृष्टि की गई है।[1] इसके अतिरिक्त ठीक इसी शब्द की आवृत्ति न करते हुए भी 'तिनके हियँ तुम कहुँ गृह रूरे', 'तिनके मन सुभ सदन तुम्हारे, ''जिनके हृदय रहहु रघुराई', 'राम करहु तिनके उर डेरा' आदि समानार्थक उक्तियों[2] के प्रभाव से भी कवि ने अपने कथ्य को बल दिया है।

---

[1] —वाल्मीकि रामायण २।२७।६-१२. १४-२४

[2] —वही, २।१२७।१३०।४

भावा-व्यंजना-पद्धति

वाल्मीकि और तुलसीदास की भाव-व्यजना पद्धति मे उल्लेखनीय अन्तर है। वाल्मीकि ने अपने पात्रो की भावात्मक प्रतिक्रियाओं को प्राय उनकी विस्तृत उक्तियो के माध्यम से प्रकाशित किया है भावाभिव्यजन के लिये अग चेष्टाओं का चित्रण अपेक्षाकृत कम किया है। कहीं-कहीं उन्होंने अप्रस्तुत विधान का उपयोग भी भाव व्यजना के लिये किया है और कही कहीं अग चेष्टाओ के चित्रण एव अप्रस्तुत विधान के सश्लेषण से भाव व्यजना की है। मानसकार ने भी भाव व्यजना के लिये उक्त सभी विधियो को ग्रहण किया है किन्तु अग-चेष्टाओ के माध्यम से भाव-व्यजना करते हुए वे जिस प्रभाव की सृष्टि करते हैं उसमे अपूर्व सौदर्य-विधान क्षमता के दर्शन होते हैं।

अग-चेष्टाओं के माध्यम से भाव-व्यंजना

वाल्मीकि रामायण मे यद्यपि भाव व्यजना का प्रधान माध्यम पात्रों की उक्तियाँ हैं, फिर भी भावो की सघनता अग-चेष्टाओं से ही व्यक्त हुई है। निर्वासन आदेश सुनकर राम की भावात्मक प्रतिक्रिया उनकी मुख-चेष्टा से व्यक्त होने लगती है, जिसे लक्ष्यकर सीता कहती हैं—

अभिषेको यदा सज्ज किमिदानीमिद तव ।
अपूर्वोमुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते[1] ।।

अपहरण के उपरात अशोकवन मे रखी गई सीता की वेदना उनकी मुख चेष्टा से ही नहीं, उनकी सम्पूर्ण शारीरिक दशा से व्यक्त होती है—

बाष्पाम्बु परिपूर्णेन कृष्णवक्रा क्षिपक्ष्मणा ।
वदनेनाप्रसन्नेन निश्वसन्तीं पुनः पुन ।।
मलपकधरा दीना मण्डनार्हाममण्डिताम् ।[2]

कैकेयी के कोप-भवन में चले जाने का समाचार पाकर राजा दशरथ की व्याकुलता का चित्रण करते हुए कवि ने राजा की इन्द्रियो की व्यग्रता का उल्लेख किया है।[3] कैकेयी के वर मांगने पर उनकी व्याकुलता को व्यक्त करने के लिये कवि ने बार बार

१—वाल्मीकि रामायण २।२६।१८
२—वही, ५।१५।३६ ३७
३—वही,२।१०।२१ २२

उनके अचेत होने का उल्लेख करते हुए उनके दीर्घ निश्वासों का वर्णन किया है[१] तथा सुग्रीव की कृतघ्नता के बोध से क्षुब्ध लक्ष्मण जिस समय सुग्रीव को चेताने किष्किन्धा जाते हैं उस समय कवि ने उनके भावावेश को उनकी गति के माध्यम से व्यक्त किया है[२], फिर भी, वाल्मीकि ने अंग चेष्टाओं के माध्यम से जो, भाव-व्यञ्जना की है वह या तो संकेतपूर्ण है या अतिशयोक्तिपूर्ण, उसकी रेखाएँ बहुत गहरी नहीं जान पड़ती।

इसके विपरीत मानसकार ने भाव-व्यंजना के लिये अंग-चेष्टाओं के चित्रण का बहुत अच्छा उपयोग किया है। धनुष-यज्ञ के अवसर पर राजा जनक के अपमानपूर्ण शब्दों से उत्तेजित होने पर कवि ने उक्तियों से भी पूर्व-लक्ष्मण की अंगचेष्टाओं के चित्रण द्वारा उनका रोष व्यंजित किया है—

माखे लखन कुटिल भइँ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥[३]

इसी प्रकार चित्रकूट पर निवास करते समय भरत को आते देखकर जब लक्ष्मण कुपित होते हैं तो उनका कोप उक्तियों के साथ-साथ उनकी चेष्टाओं से भी व्यक्त होता है—

एतना कहत नीति रस भूला। रन रस बिटप पुलक मिस फूला॥[४]

× × ×

बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायकु हाथा॥[५]

पति के साथ वन जाने के लिये तीव्र इच्छा होने पर भी सास के समक्ष सीता के संकोचपूर्ण भाव-संवरण की स्थिति को भी कवि ने सीता द्वारा पैर के नाखून से धरती कुरेदने के रूप में व्यक्त किया है।[६] ग्राम-वधुओं से राम-लक्ष्मण के साथ सीता के सम्बन्ध के विषय मे प्रश्न किये जाने पर सीता के (उत्तर देने और न देने) दोनों ओर के संकोच की व्यञ्जना भी अंग-चेष्टाओं अत्यन्त मनोरम संयोजन के रूप मे की गई है—

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहु संकोच सकुचति बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥

१—वाल्मीकि रामायण २।१३।८२
२—वही, ४।३१।१४-१५
३—वही, १।२४१।४
४—वही, २।२२८।३
५—मानस, २।२२९।१
६—वही, २।५७।३ ।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नाम लखनु लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बरन बिधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि ॥[1]

स्पष्ट है कि मानसकार की प्रवृत्ति अंग चेष्टाओं के माध्यम से भाव व्यंजना की ओर अधिक रही है ।

अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से भाव-व्यंजना

वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो ने भाव व्यंजना के लिये अप्रस्तुत विधान का भी अच्छा उपयोग किया है । वाल्मीकि रामायण में अशोकवाटिका स्थित सीता की शोकपूर्ण स्थिति की व्यंजना के लिये विशद अप्रस्तुत योजना का उपयोग किया गया है—

संसक्तां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः
तां स्मृतीमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव ।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव ।
सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव ।
अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव ॥[2]

मानस में कहीं कहीं इस पद्धति का अवलम्बन ग्रहण किया गया गया है । कैकेयी के प्रति वचनबद्ध राजा दशरथ के समीप जब राम उनसे कष्ट का कारण पूछते हैं तब कवि ने राजा दशरथ की भावात्मक प्रतिक्रिया अप्रस्तुत विधान के सहारे बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त की है—

अस तन गुनइ राउ नहीं बोला । पीपर पात सरिस मन डोला ॥[3]

प्रस्तुत अप्रस्तुत संश्लेषण के माध्यम से भाव व्यंजना

दोनो कवियों को अधिक सफलता वहाँ मिली है जहाँ उन्होंने एक साथ प्रस्तुत रूप में अंग-चेष्टाओं के चित्रण के साथ अप्रस्तुत विधान को जोड़ दिया है । इस प्रकार व्यंजना में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के योग से दोहरा प्रभाव उत्पन्न हो गया है ।

वाल्मीकि ने राम के वनवास की माँग से दुःखी दशरथ की व्यथा की व्यंजना दीर्घनिश्वासों के वर्णन के साथ मंत्रों द्वारा अवरुद्ध महाविषैले सर्प के सादृश्य से की है—

१—वही २।११६।२ ४।
२—वाल्मीकि रामायण, ५।१५।३२ ३४
३—मानस २।५४।२

व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः ।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ।।
मंडले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः ।[1]

इसी प्रकार पुत्र के निर्वासन के समाचार से दुःखी कौसल्या की वेदना भी कवि ने उनके धूल में गिर जाने के साथ उपयुक्त अप्रस्तुतों के साहचर्य से की है—

सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने ।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ।।[2]

मानसकार ने भी राजा दशरथ और कौसल्या के शोकावेग की व्यंजना इसी प्रकार प्रस्तुत-अप्रस्तुत के योग से की है। दशरथ के शोक की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने एकाधिक बार इस विधि का प्रयोग किया है—

सुनि मृदु वचन भूप हियँ सोकू । ससि कर छुअत विकल जिमि कोकू ।।
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा । जनु सचान बन झपटेउ लावा ।।
बिबरन भयउ निपट नर पालू । दामिनि हनेउ मनहुँ तव तालू ।।
माथे हाथ मूँदि दुइ लोचन । तनु धरि सोच लागु जनु सोचन ।।[3]

× × ×

व्याकुल राउ सिथिल सब गाता । करिनि कलपतरु मनहु निपाता ।।
कठ सूख मुख आव न वान वानी । जनु पाठीन दीन विनु पानी ।।[4]

इसी प्रकार कौसल्या के शोकावेग के चित्रण के लिए कवि ने एक ओर उनकी आंगिक चेष्टाओं का आश्रय लिया है तो दूसरी ओर अप्रस्तुत-विधान के सहारे उसे अधिक मूर्त रूप दिया है।

सहमि सूखि सुनि सीतल बानी । जिमि जवास परें पावस पानी ।।
कह न पाइ कछु हृदय विषादू । मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू ।।
नयन सजल तन थर थर कांपी । माजहिं खाइ मीन जनु मापी ।।[5]

उक्तियों के माध्यम से भाव-व्यंजना

वाल्मीकि और तुलसी ने ही नहीं, सभी कवियों ने भाव-व्यंजना के लिए पात्र की उक्तियों का सर्वाधिक आश्रय लिया है। वाल्मीकि ने उक्ति-विस्तार के बल

१—वाल्मीकि रामायण, २।१२।४-५
२—वही, २।२०।३२
३—मानस, २।२८/३-४
४—वही, २।३४।१
५—वही, २।५३।१-२

पर भावों को सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप मे व्यक्त किया है जबकि तुलसीदासजी ने भाव को प्रभावशाली रूप मे व्यक्त करने के लिये उसके मर्म को ग्रहण किया है। इसलिये मानस के पात्रो की उक्तियो ने मार्मिक ढग से भाव व्यजना मे योग दिया है। राम द्वारा सीता को वन मे साथ चलने के आग्रह से विरत करने के लिये सीता की 'सुकुमारिता' की आड ली गई थी, उस तर्क के प्रति सीता का असतोष कवि ने उनकी इस उक्ति से व्यक्त किया है—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥[1]

राम के वियोग में मरणासन्न राजा दशरथ की तडप को कवि ने राजा दशरथ की राम-रटन के रूप मे अभिव्यक्त किया है—

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुर धाम॥[2]

और सेतु-बध विषयक राम की सफलता का समाचार सुनने पर रावण की बौखलाहट का चित्रण कवि ने रावण के मुख से समुद्र के विभिन्न पर्यायवाचियो के ससभ्रम कथन के रूप में बड़े प्रभावशाली ढग मे किया है—

बांध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कपति उदधि पयोधि नदीस॥[3]

मानस का वैशिष्टय

भावाभिव्यजना की दृष्टि से वाल्मीकि की तुलना मे मानस में तीन बातें विशेष रूप से दिखलाई देती हैं—(१) आरोपित भावो की कौशलपूर्ण व्यजना (२) भावों का मानवीकरण और (३) पशुओं के भावो की व्यजना।

वाल्मीकि की मथरा वस्तुत जो अनुभव करती है[4] वही कैकेयी से कहती है, किन्तु मानस की मथरा 'गढ़ि छोली' बातें बनाती है। मानस की मन्थरा कैकेयी के सामने जो भाव व्यक्त करती है वे आरोपित हैं। अतएव उनकी व्यजना एक कठिन समस्या रही होगी क्योकि कवि को एक ओर अपने सहृदयो को निरतर यह सकेत देना था कि उसकी बातें बनावटी थीं और साथ ही मथरा के आचरण से यह कहीं यह व्यक्त नहीं होने देना था कि वह बनावटी बाते कह रही थी—यदि यह व्यक्त हो जाता तो उसका सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता। इसके लिये कवि ने

१—मानस २।६६।४

२—वही, २।१५५

३—वही ६।५

४—द्रष्टव्य—डा० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, पृ० ७७

उसकी भाव व्यंजक चेष्टाओं का चित्रण करते हुए बीच बीच मे उसकी कुटिलता का उल्लेख कर दिया है। 'नारी चरित्र' और 'कारि जनु सापिनि' तथा 'पापिनि' के सन्निवेश से उसके भावो के आरोपित होने की व्यंजना हो जाती है।[1]

कहीं कही कवि ने भाव की प्रबलता व्यक्त करने के लिये उस भाव का ही मानवीकरण कर दिया है, जैसे—

तनु धरि सोच लाग जनु सोचन ॥[2]

× × × ×

सुनि बिलाप दुख हू दुख लागा। धीरज हू कर धीरज भागा ॥[3]

मानस की भाव व्यंजना मे तृतीय विशेषता यह भी पाई जाती है कि मानसकार ने मानव हृदय के भाव को ही नही, पशु-हृदय के भावो को भी अनुभाव-योजना के द्वारा प्रभावशाली ढग से व्यक्त किया है। राम को छोडकर जब सुमन्त्र रथ को लेकर अयोध्या लौटने लगते हैं तब मानसकार ने रथाश्वो के शोक की व्यञ्जना उनके तडफडाने, आगे न बढने, ठोकर खाकर गिर जाने तथा बार-बार पीछें मुडकर देखने के रूप मे की है—

चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे ॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे। राम बियोग बिकल दुख तीछे ॥[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों मे भाव-व्यंजना की असाधारण सामर्थ्य थी। मानसकार ने वाल्मीकि द्वारा अपनायी गई भाव व्यंजना पद्धतियों का तो सफल उपयोग अपने काव्य मे किया ही है, उनके अतिरिक्त अन्य विधियो से भाव व्यंजना मे भी उसे उल्लेखनीय सफलता मिली है।

बिम्ब-विधान

वाल्मीकि रामायण के बिम्ब-विधान की उत्कृष्टता के सम्बन्ध मे दो मत नहीं हैं, किन्तु मानस में आलम्बनगत वर्णनो और अप्रस्तुत-योजना दोनो रूपो मे उसके बिम्ब विधान की उत्कृष्टता पर आक्षेप किये गये है। डा० रामप्रकाश अग्रवाल का कथन है कि मानस मे भी इन (वर्णन विषयक शास्त्रीय) निर्देशो की पूर्ति तो

१—मानस, २।१२।३-४
२—वही, २।२८।४
३—वही, २।१५२।४
४—वही, २।१४२।३

हुई है, परन्तु उसमें प्रकृति चित्रण मे रमणीयता कम है और उपदेश अधिक।"[१] इसी प्रकार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानस की अप्रस्तुत-योजना के परम्परा पिष्ट रूप की आलोचना की है।[२] वस्तुत काव्यो मे बिम्बों के स्वरूप मे इतनी अनेकरूपता और उनके कार्य-सम्पादन मे इतनी जटिलता होती है कि किसी काव्य की सम्पूर्ण बिम्ब-योजना के सम्बन्ध मे निर्णायक रूप से एक ही निष्कर्ष निकालना प्राय. उचित नही होता। अतएव रामायण और मानस के बिम्ब बिधान की तुलना के लिये उनके रूपो और कार्य व्यापारो को दृष्टि मे रखना आवश्यक है और इस दृष्टि से सर्वप्रथम बिम्ब के दो प्रमुख भेदो- लक्षित बिम्ब और उपलक्षित बिम्ब—पर एक-एक कर विचार किया जा सकता है। तदुपरान्त समग्र बिम्बों का विवेचन किया जा सकता है।

लक्षित-बिम्ब

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों मे लक्षित बिम्बो की सृष्टि कही स्वयप्रयोज्य रूप मे हुई है तो कहीं अन्य-प्रयोज्य रूप मे। स्वयंप्रयोज्य रूप मे लक्षित बिम्ब-सर्जना के दर्शन रूप-वर्णन[३] प्राकृतिक दृश्य उपस्थापन[४] और प्रकृतीतर वर्णनो[५] मे होते है। दोनो मे जहाँ रूप, गति, प्राकृतिक दृश्य अथवा अन्य किसी वस्तु का वर्णन आलम्बन रूप मे अप्रस्तुत योजना से मुक्त रूप मे किया गया है वहाँ लक्षित बिम्बो का स्वयंप्रयोज्य रूप देखा जा सकता है। इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण से मानस की कोई समता नही हो सकती। वाल्मीकि ने रूप-चित्रण मे वैशिष्ट्य-बोध का जो निर्वाह किया है, प्राकृतिक दृश्य उपस्थापना के अन्तर्गत प्रकृति के सहज रूप, रमणीय दृश्य और दुर्लभ व्यापारो का जो सूक्ष्म अंकन किया है और प्रकृतीतर वर्णन मे नगर, यात्रा आदि का जो मूर्त रूप चित्रित किया है वह मानस मे दृष्टिगोचर नही होता तथापि मानस मे कहीं-कहीं स्थिर और गतिशील दोनो रूपो मे आश्चर्यजनक बिम्ब-योजना के दर्शन होते हैं। परशुराम का रूप चित्रण और राम द्वारा सीता के समक्ष वन-वर्णन स्थिर बिम्ब-विधान के अच्छे उदाहरण हैं। गतिशील बिम्बों की चमत्कारपूर्ण सृष्टि भी मानस मे कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है। प्रतापभानु के मृगया वर्णन मे इस प्रकार का एक बहुत अच्छा उदाहरण मिलता है—

१—डा० रामप्रकाश अग्रवाल वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० २९५

२—हिन्दी-साहित्य की भूमिका पृ० १०७

३—द्रष्टव्य—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, पृ० २८५ २९१

४—वही, पृ० २६३ २८४

५—वही, पृ० २८५ २९९

आवत देखि अधिक रवि बाजी । चलेउ बराह मरुत गति भाजी ॥
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना । महि मिलि गयउ बिलोकत बाना ॥
तकि तकि तीर महीप चलावा । करि छल सुअर सरीर बचावा ॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा । रिस बस भूप चलेउ सग लागा ॥[1]

इस प्रकार स्वय प्रयोज्य रूप मे लक्षित बिम्ब-सर्जना की दृष्टि से मानस वाल्मीकि की समता न कर पाने पर भी सर्वथा श्रीहीन नही है ।

दोनो काव्यो मे भाव-व्यजना के लिये अगचेष्टाओ का चित्रण अन्य-प्रयोज्य या साधन-रूप मे प्रयक्त लक्षित बिम्बो के अतर्गत आता है । दोनो कवियो ने अपनी लक्षित बिम्ब-सर्जना शक्ति के बल पर अगचेष्टाओ के माध्यम से भाव-व्यंजना प्रभावशाली ढग से की है । तुलनात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है कि भाव-व्यजक लक्षित बिम्बो की सृष्टि मे मानसकार अधिक सफल रहा है ।[2]

वातावरण के सम्मूर्तन के लिये लक्षित बिम्बो का प्रयोग भी अन्य प्रयोज्य लक्षित बिम्बो के अतर्गत ही आता है । वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो ने इस रूप मे लक्षित बिम्बो का प्रभावशाली उपयोग किया है । वाल्मीकि ने रावण के अन्त पुर के वातावरण को इस प्रकार के बिम्बो के आधार पर सम्मूर्तित किया है ।[3]

वाल्मीकि रामायण मे रावण के अत पुर-वर्णन के बीच-बीच अप्रस्तुत-योजना के रूप मे उपलक्षित बिम्बो का समावेश भी है, किन्तु यहाँ वे लक्षित बिम्बो के उपकारक मात्र हैं । समग्र वर्णन के रूप मे रावण के अत पुर का जो चित्र अकित किया गया है वह मुख्यतया प्रस्तुतो या लक्षित बिम्बो से घटित है । बीच बीच मे समाविष्ट अप्रस्तुत या उपलक्षित बिम्ब घटको के उपकारक मात्र रहे है । इसलिए घटित समग्र बिम्ब मे वे पीछे छूट गये हैं । यह समग्र बिम्ब रावण के अत पुर के विलासमय एवं सगीत नृत्यपूर्ण वातावरण का व्यजक है ।

राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त जब भरत अयोध्या लौटकर वहाँ की स्थिति देखते है तो उन्हे उस स्थिति के दर्शन मात्र से अप्रिय समाचार का पूर्वानुमान होने लगता है । वाल्मीकि ने इस प्रकार के अनुमान की उत्तेजना के लिये समुचित परिदृश्य उपस्थित किया है ।[4] इस प्रसग मे वाल्मीकि ने अयोध्या की दशा के सम्मूर्तन के माध्यम से नगर के शोकपूर्ण वातावरण की प्रभावशाली व्यजना की है ।

१—मानस, १।१५६।१-२
२—द्रष्टव्य—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, पृ० ३२६-३३१
३—वाल्मीकि रामायण, ५।१०।३६-४९
४—वाल्मीकि रामायण, २।६१।१९-३९

भावसम्पृक्त वातावरण की सृष्टि में मानसकार भी सिद्धहस्त है। मानसकार ने उपयुक्त अवसर पर अयोध्या के शोकाकुल वातावरण की मार्मिक व्यंजना संक्षिप्त वर्णन के बल पर की है—

खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला॥
श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए॥
नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब सम्पति हारी॥
पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवँहि जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं॥[1]

शोकाकुल वातावरण की व्यंजना कवि के बिम्ब विधान पर निर्भर रही है। नगर की तत्कालीन अवस्था को मूर्त करने के लिए कवि ने अनेक छोटे-छोटे बिम्बों के सग्रथन से एक समग्र बिम्ब संघटित किया है जिसमें घटक बिम्बों की वैयक्तिता विलीन हो गई है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस में लक्षित बिम्ब-योजना के स्वयं प्रयोज्य और अन्य प्रयोज्य दोनों रूप स्वभावोक्ति और कान्तिगुण की दृष्टि से भी उक्त काव्यों की सम्पन्नता के द्योतक हैं। रावण के अन्तःपुर के वर्णन में अन्तर्भूत अप्रस्तुत-योजना को छोड़कर शेष वर्णनों को स्वभावोक्ति और कान्ति गुण की दृष्टि से उत्कृष्ट कहा जा सकता है क्योंकि अभिन्न वर्णनों के अन्तर्गत वर्ण्य का स्वाभाविक[2] और यथातथ्य[3] चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से मानस की तुलना में वाल्मीकि रामायण अधिक समृद्ध है, फिर भी मानस की सम्पन्नता उपेक्षणीय नहीं है।

उपलक्षित बिम्ब और अप्रस्तुत-योजना

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस उपलक्षित बिम्बों से सम्पन्न हैं। दोनों में प्रकृति, प्रकृतीतर भौतिक वस्तु और पौराणिक सन्दर्भों अथवा मान्यताओं से अप्रस्तुत ग्रहण किए गए हैं।

वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थानों पर प्राकृतिक उपादानों और प्रकृति-व्यापारों का उपयोग अप्रस्तुत रूप में किया गया है। अशोक वाटिका में शोकार्त

१—वाल्मीकि रामायण, २/१५७/३—१५८

२ जाति क्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्॥—दण्डी, काव्यादर्श, २/१३

३—दण्डी का मत है कि जहाँ लौकिक अर्थ का अतिक्रमण नहीं किया जाता, और ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया जाए कि सारे जगत् को कमनीयता व्यक्त हो वहाँ कांति गुण होता है। —हिन्दी साहित्य कोष, पृ० २७२

सीता की स्थिति को मूर्त रूप देते हुए वाल्मीकि ने प्रकृतिगृहीत अप्रस्तुतों का अच्छा उपयोग किया है—

सा मलेन च दिग्धाङ्गी वपुषा चाप्यसंकृता ।
मृणाली पंकदिग्धेव विभाति न भाति च ॥[1]

वाल्मीकि ने प्रकृति-वर्णन के लिये भी प्रकृति से गृहीत सामग्री का उपयोग अप्रस्तुत रूप में किया है।[2] इसके अतिरिक्त सम्बन्ध ज्ञापन के लिये भी प्रकृति से गृहीत अप्रस्तुतों का प्रयोग वाल्मीकि में दिखलाई देता है। सीता के अपहरण के लिये आया हुआ रावण उनके रूप के प्रति अपने आकर्षण-सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये जल द्वारा नदी-तट के अपहरण-संबन्ध को प्रस्तुत करता है—

चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ।
मनोहरसि मे रामे नदीकूलमिवाम्भसा ॥[3]

मानस के रूप वर्णन के अंतर्गत उपमान रूप में कमल का इतना अधिक उपयोग किया गया है कि उसकी सहज सुन्दरता प्रयोगाधिक्य से नष्ट हो गई है। चन्द्रमा का प्रयोग भी बहुत अधिक होने से प्रभावशून्य-सा हो गया है। लेकिन कहीं-कहीं प्राकृतिक पदार्थों का अत्यन्त प्रभावशाली उपयोग भी अप्रस्तुत रूप में हुआ है। उदाहरण के लिये सीता के दृष्टिपात का वर्णन करते हुए कवि ने बाल-मृगनयनी के रूप में उनका उल्लेख करते हुए उनके दृष्टिक्षेप के रूप में श्वेत कमल-वृष्टि का जो उल्लेख किया है, वह बड़ा भव्य है—

जहँ बिलोक मृगसावक नैनी । जनु तहँ बरिस कमलसित नैनी ॥

संबन्ध-बोध के लिये भी मानसकार ने प्रकृतिगृहीत अप्रस्तुतों का जो कौशलपूर्ण प्रयोग किया है। उसमें उसे अपूर्व सफलता मिली है। लंका के परकोटे पर चढ़े हुए वानरों का चित्र कवि ने मेरु-आरोहित बादलों के सादृश्य से किया है—

कोट कँगूरन्हि सोहहिं कैसे । मेरु के सृंगनि जनु घन बैसे ॥[4]

कहीं-कहीं यह सम्बन्ध अधिक विस्तृत है। धनुष-यज्ञ के अवसर पर सीता की व्याकुलता और उसके अवरोध को कवि ने प्रकृतिगृहीत सम्बन्ध-योजना के सादृश्य के आधार पर मूर्त रूप प्रदान किया है—

---

[1] —वाल्मीकि रामायण, ५।५८।२५

[2] —द्रष्टव्य—वर्णन-सौन्दर्य-विषयक अध्याय में प्रकृति-वर्णन विषयक प्रकरण

[3] —वाल्मीकि रामायण, ३।४६।२१

[4] —मानस, ६।४०।१

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी । प्रगट न लाज निसा अवलोकी ॥[1]

यहाँ सीता की व्याकुलता, अभिव्यक्ति और अवरोध तीनों का एक दूसरे से सबन्ध भ्रमर, कमल और रात्रि के सम्बन्ध के सादृश्य से व्यक्त किया गया है । जहाँ यह सम्बन्ध-योजना कुछ और विस्तार से ग्रहण की गई है, लेकिन एक निश्चित सीमा के भीतर बनी रही है, वहाँ उनका सम्मूर्तन-सौन्दर्य बहुत निखरा है । चापारोपण के लिये राम के तत्पर होने का जो चतुर्मुखी प्रभाव पडता है उसका वर्णन कवि ने सूर्योदय के साथ विभन्न प्राकृतिक व्यापारो सम्बन्ध के आधार पर किया है—

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी । बचन नखत अवली न प्रकासी ॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने । कपटी भूप उलूक लुकाने ॥
भए बिसोक कोक मुनि देवा । बरसहिं सुमन जनावहिं सेवा ॥[2]

लेकिन जहाँ इस प्रकार की सबन्ध योजना का सविस्तार सहृदय की ग्राहिक कल्पना-शक्ति का अतिक्रमण कर गया है वहाँ समग्र बिम्ब नहीं उभर पाया है । सहृदय की वुद्धि विभिन्न बिम्बांगो को ही ग्रहण कर पाती है, बिम्ब की समग्रता को नही । मानस-रूपक और ज्ञान दीप-रूपक इस दृष्टि से सफल नही माने जा सकते । उनसे कवि के कथ्य की व्याख्या तो हो जाती है, कवि की महती धारणा-शक्ति भी प्रकाशित होती है, किन्तु सौन्दर्य बोध मे उनकी भूमिका अनुकूल नही रहती । वे सहृदय की ग्राहिका शक्ति के लिए बहुत भारी पडते हैं । इसके विपरीत मानस के मध्यम आकार के रूपक बिम्ब ग्रहण तथा अर्थ सम्प्रेषण दोनो ही दृष्टियों से बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं । अयोध्याकाण्ड मे ऐसे कई सुन्दर उत्प्रेक्षापुष्ट रूप हैं—

आगे दीखि जरत रिसि भारी । मनहुँ रोष तरवारि उघारी ॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई । धरी कूबरी सान बनाई ॥[3]

× × ×

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी । मानहुँ रोष तरंगिनि बाढी ॥
पाप पहार प्रगट भई सोई । भरी क्रोध जल जाइ न जोई ॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा । भँवर कूबरी बचन प्रचारा ॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला । चली बिपति बारिधि अनुकूला ॥[4]

× × ×

१—मानस, १।२५८।१
२ वही, १।२५९।१-२
3—वही २।३०।१-२
४—वही, २।३३।१-१२

क्षोभ कमान बचन सर नाना । मनहुँ महीप मृदु लच्छ समाना ॥
जनु कठोरपनु धरे सरीरू । सिखइ धनुष बिद्या बर बीरू ॥[1]

उपर्युक्त उदाहरणों में रूपक के भीतर उत्प्रेक्षा का अन्तर्भाव भी है, किन्तु समग्र बिम्ब रूपकात्मक ही है।

प्राकृतिक पदार्थों एवं व्यापारों के अतिरिक्त अन्य भौतिक पदार्थों और मानव-अनुभूतियों का उपयोग भी दोनों कवियों ने उपलक्षित बिम्ब-सृष्टि के लिये किया है। वाल्मीकि ने प्रकृति-वर्णन करते समय अन्य पदार्थों एवं मानव-जीवन से गृहीत अप्रस्तुतों का मार्मिक उपयोग किया है। वर्षा-वर्णन के अन्तर्गत बार-बार बिजली चमकने और बादल गरजने का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने सोने के कोड़े से पीटे जाते हुए आकाश के चीत्कार की कल्पना प्रस्तुत की है—

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम् ।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥[2]

शरद ऋतु के वर्णन मे भी कवि ने मानव-जीवन से गृहीत अप्रस्तुतों का उपयोग किया है। शरदकालीन नदियों की गतिमयता के सम्मूर्तन के लिये वाल्मीकि ने रात को प्रियतम के उपभोग में आने के कारण प्रातःकाल मन्थर गति से चलने वाली कामिनियों का सादृश्य उपस्थित किया है—

मीनोपसन्दर्शितमेखलानां
नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः ।
कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां
प्रभातकालेष्विव कामिनीनां ॥[3]

इसी सन्दर्भ में कवि ने धीरे-धीरे जल कम होने से नदी का पाट सिकुड़ने के कारण जलावृत भूमि के अनावृत होने के दृश्य के सम्मूर्तन के लिये प्रथम समागम के समय युवतियों द्वारा शनैः शनैः अपनी जाघों को उघाड़ने की कल्पना प्रस्तुत की है—

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसंगम सव्रीडा जघनानीव योषितः ॥[4]

---

[1] —वही, २।४०।१-२

[2] —वाल्मीकि रामायण, ४।२८।११

[3] —वही, ४।३०।५४

[4] —वाल्मीकि रामायण, ४।३०।५८

मानसकार ने प्रकृति वर्णन के प्रसग मे धर्म और नीति के उपदेश से समन्वित अप्रस्तुत-योजना का उपयोग किया है। उन्होंने वर्षा एव शरद ऋतुओं का वर्णन करते हुए प्रकृति तथा मानव-जीवन में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का निर्वाह किया है। ऐसे स्थलो पर वाल्मीकि रामायण जैसी सुसघटित बिम्ब सृष्टि नहीं हो सकी है, भाव-व्यजना के लिये मानसकार ने जहाँ भी अप्रस्तुतों का उपयोग किया है वहाँ उनकी बिम्ब योजना में अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है। राजा दशरथ से राम के अभिषेक का हर्षपूर्ण सामाचार सुनकर कैकेयी को जो वेदना हुई उसके सम्मूर्तन के लिये कवि ने पके बालतोडके छुजाने की अनुभूति प्रस्तुत की है —

दलकि उठेउ सुन हृदय कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू ॥[१]

और इस पर भी उसके द्वारा वेदना व्यक्त न की जाने पर कवि ने उसकी मनोवृत्ति के सम्मूर्तन के लिये चोर की पत्नी के चुपचाप रोने की कल्पना उपस्थित की है—

ऐसेउ पीर बिहसि तेहि गोई। चोर नारि जिमि प्रगट न रोई ॥[२]

पौराणिक अप्रस्तुतो का उपयोग भी दोनो काव्यो मे स्थान-स्थान पर हुआ है। वाल्मीकि ने किन्नरी, देवी, अप्सरा आदि पौराणिक अप्रस्तुतो की अवतारणा अपने काव्य मे की है। कोप भवन मे लेटी हुई कैकेयी के सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है कि वह स्वर्गभ्रष्ट किन्नरी, देवलोक से च्युत अप्सरा, लक्ष्यभ्रष्ट माया और जाल में बद्ध हुई हरिणी के समान दिखलाई देती थी—

किन्नरीमिव निर्धूतां च्युतमप्सरसं यथा
मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥[3]

पुत्र के निर्वासन-शोक से व्यथित कौसल्या के लिये भी वाल्मीकि ने ऐसे ही अप्रस्तुतों का उपयोग किया है—

पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ॥[४]

पौराणिक अप्रस्तुतों की इस प्रकार की अवतारणा सम्मूर्तन की दृष्टि से सफल नहीं मानी जा सकती क्योंकि उनकी सम्मूर्तन-शक्ति प्राय नगण्य है।

मानसकार ने पौराणिक अप्रस्तुतों का उपयोग अधिक कौशलपूर्ण ढग से किया है। बालकांड मे दो स्थलो पर पौराणिक अप्रस्तुतो का चमत्कारपूर्ण सयोजन

१—मानस, २।२६।२
२—वही २।२६।३
३—वाल्मीकि रामायण, २।१०।१५
४—वही, २।२०।३२

मानस मे दिखलाई देता है। सर्वप्रथम वे असत-वर्णन मे सुविख्यात पौराणिक व्यक्तियों को अप्रस्तुत रूप मे उपस्थित करते हैं। सुविख्यात होने से उनका आचरण अप्रस्तुत रूप में घनिष्ट प्रभाव की सिद्धि मे सहायक हुआ है —

हरि हर जस राकेस राहु से । पर अकाज भट सहसबाहु से ॥
जे पर दोष लखहिं सहसाखी । पर हित घृत जिनके मन माखी ॥
तेज कृसानु रोष महिषेसा । अघ अवगुन धन धनी धनेसा ॥
उदय केत सम हित सब ही के । कुम्भकरन सम सोवत नीके ॥
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं । जिमि हिम उपल कृषी बल गरहीं ॥
बदउँ खल जस सेष सरोषा । सहस बदन बरनइ पर दोषा ।
पुनि बदउँ पृथुराज समाना । पर अघ सुनइ सहस दस काना ॥
बहुरि सक्र सम विनवउँ तेही । सतत सुरानीक हित जेही ।
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा । सहस नयन पर दोष निहारा ॥[1]

सीता के सौन्दर्य वर्णन के लिए भी कवि ने पौराणिक अप्रस्तुतों का प्रभावशाली उपयोग किया है। उनके सौन्दर्य के प्रभाव के सम्मूर्तन के लिये पहले कवि ने उनके सौन्दर्य के समक्ष अनेक पौराणिक नारियों का तिरस्कार किया है जो प्रतीप अलकार का एक अच्छा उदाहरण बन गया है—

गिरा मुखर तन अरध भवानी । रति अति दुखित अतनु पति जानी ॥
बिष बारुनी बन्धु प्रिय जेही । कहिअ रमा सम किमि बैदेही ॥[2]

तदुपरांत सीता की समकक्षता के लिये लक्ष्मी मे जिस वैशिष्ट्य की कल्पना उन्होने की है उसमे सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना के परिणाम स्वरूप महती प्रभावक्षमता का समावेश हो गया है—

जौं छवि सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छप सोई ॥
सोभा रजु मन्दर सिंगारू । मथै पानि पङ्कज निज मारू ॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल ॥[3]

कहीं-कहीं मानसकार ने भाव-विशेष का मानवीकरण भी किया है जो बिम्ब-विधान

१—मानस, १।३२ ६
२—वही, १।२५८।१
३—वही, १।२४६-२४७

की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण न होने पर भी भाव की अतिशयता सूचित करने के कारण भाव-व्यंजना मे सहायक हुआ है ।[1]

वैपरीत्य-योजना

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों मे सम्मूर्तन के लिये वैपरीत्य (Contrast) का भी अत्यन्त प्रभावशाली उपयोग किया गया है । वाल्मीकि-रामायण मे वैपरीत्य-योजना का सम्बन्ध प्राय. बाह्य चित्रण से रहा है, इसलिये वहा वैपरीत्य सम्मूर्तन अधिक स्पष्ट रूप मे दिखलाई देता है जबकि मानस मे वैपरीत्य का सम्बन्ध प्राय अतर्जगत से रहा है—इसलिये वहाँ वह सूक्ष्म रूप मे अन्तर्निहित है ।

वाल्मीकि ने प्राय विडम्बना को अंकित करने के लिये वैपरीत्य का अवलम्बन ग्रहण किया है । इसलिये मथरा पर प्रसन्न होने पर कैकेयी के मुख से कुबड़ी की प्रशसा करवाते हुए उसकी कूबड को अलकृत करने की बात कहलवाई[2] । इस प्रसग मे कवि ने मथरा की कुरूपता को इस प्रकार चित्रित किया है मानो वह आत्यन्तिक सुदरता की अभिव्यक्ति हो और उसकी बाह्य कुरूपता के साथ उसकी आतरिक नीच प्रवृत्ति का उल्लेख भी कवि ने कैकेयी के मुख से इस प्रकार करवाया है मानो वही उसकी दृष्टि म एक बडा सद्गुण हो ।

ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीकि को विडम्बना को उभारने में बडा रस आता था । जहाँ भी कवि की दृष्टि विडम्बना पर पडी है वह चुटकी लिये बिना नहीं रहा है—चाहे वह विडम्बना राजा दशरथ के जीवन से ही सम्बन्धित क्यो न हो । तरुणी कैकेयी क प्रति वृद्ध दशरथ के प्रणय मे कवि दृष्टि ने जिस विडम्बना का साक्षात्कार किया उसे उसकी वाणी ने प्रभावशाली ढग से सम्मूर्तित किया है —

स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।।
अपाप. पापसंकल्पां ददर्श धरणीतले ।।[3]

राजा दशरथ और कैकेयी के युग्म की असमिलता को कवि ने बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों मे सम्मूर्तित कर वैपरीत्य के प्रभाव को घनीभूत कर दिया है ।

इस प्रकार के वैपरीत्य का और अधिक प्रकृष्ट रूप राम के प्रति प्रणयाकांक्षिणी शूर्पणखा के प्रणय-प्रस्ताव के अवसर पर शूर्पणखा और राम के युग्म की विलक्षणता के चित्रण म दिखलाई देता है—

१—द्रष्टव्य-इसी अध्याय में भाव-व्यंजना-विषयक प्रकरण

२—वाल्मीकि रामायण, २।९।४१-४९

३—वही, २।१०।२३-२४

सुमुखं दुर्मुखी राम वृत्तमध्य महोदरी ।
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा ।
प्रियरूप विरूपा सा सुस्वर भैरवस्वना ॥
तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी ।
न्यायवृत्त सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ॥[1]

मानस मे बाह्य वैपरीत्य की दृष्टि से शिवजी की बरात और नारद-मोह के प्रसग उल्लेखनीय हैं। शिवजी की बरात के वर्णन मे कवि ने दुल्हन और देवताओ के सौन्दर्य के वैपरीत्य मे शिवजी की भयकरता उपस्थित की है[2] और नारद के रूप का वैपरीत्य उसकी अपनी धारणा के साथ राजकुमारी की सुन्दरता से भी है। वे अपने आपको बहुत सुन्दर समझ कर सुन्दरी की वरमाला पाने के लिये बार-बार अपनी गर्दन आगे कर देते हैं और वह भयभीत होकर उधर भूलकर भी नहीं देखती। उसका यह आचरण उनके समग्र व्यक्तित्व के विपरीत है।[3] परशुराम के व्यक्तित्व के आन्तरिक वैपरीत्य की बाह्य अभिव्यक्ति को मानसकार ने ऋषित्व और वीरत्व के अन्तर्विरोधपूर्ण लक्षण के माध्यम से सम्मूर्तित किया है।

शिव स्वरूप और देवताओं की बारात तथा नारद और उसके कामुक आचरण के वैपरीत्य को कवि ने विनोदी भाव से अंकित किया है जब कि परशुराम के व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध का चित्रण अनासक्त भाव से किया है। मानसकार ने कहीं-कहीं वैपरीत्य को आक्रोशपूर्वक सम्मूर्तित किया है। देवताओ की उच्च स्थिति के विपरीत उनका नीचतापूर्ण आचरण कवि के आक्रोश का लक्ष्य बनकर व्यक्त हुआ है —

ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥[4]

इसी प्रकार राजा दशरथ के व्यक्तित्व मे प्रताप और स्त्रैणता के वैपरीत्य को भी कवि ने वाल्मीकि के समान विनोदपूर्ण ढग से चित्रित न कर आक्रोशपूर्ण ढग से अंकित किया है—

कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥
सुरपति बसइ बाँह बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥

---

[1] १—वाल्मीकि रामायण, ३।१७।९-११

[2] २—मानस, ३।९१।३-९२।१

[3] ३—वही, १।१३३।१-१३५।१

[4] ४—वही, २।११।३

सो सुनि तिय रिसि गयउ सुखाई । देखहु काम प्रताप बड़ाई ।।
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे । ते रतिनाथ सुमन सर मारे ।।[1]

लाक्षणिक मूर्तिमत्ता

सम्मूर्तन व्यापार मे दोनों कवियो की भाषा ने भी उल्लेखनीय योग दिया है। वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो ने अपने अपने काव्यों मे बीच-बीच मे लक्षणा शब्दशक्ति का अवलम्ब ग्रहण किया है, किन्तु वाल्मीकि की तुलना मे मानसकार की प्रवृत्ति लक्षणा की ओर अधिक प्रतीत होती है।

वाल्मीकि ने कहीं-कहीं लक्षणा का सहारा लेकर मनोभावों को मूर्त रूप दिया है। उन्होंने प्रसन्नता के हृदय मे न समानेकी बात कह कर उसकी प्रतिसूचित की है—

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परमा मुदा ।[2]

इसी प्रकार क्रोध से जलने की बात कहकर उसने मनोभाव को सम्मूर्तित किया है—

सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी[3]

तथा

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना ।।[4]

कौसल्या राम के वनवास का समाचार सुनकर इस आघात को सह लेने पर आश्चर्य प्रकट करती हुई अपने भाव को लक्षणा के सहारे मूर्त रूप प्रदान करती है—

स्थिरं नु हृदयं मन्ये ममेव यन्न दीर्यते ।[5]

× × ×

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं न भिद्यते यद् भुवि नो विदीर्यते ।[6]

लक्ष्मण राम के निर्वासन के प्रति उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए अपने खड्ग से विरोधी पक्ष को पीस डालने की जो घोषणा करते हैं। वह भी लाक्षणिक मूर्तता से सम्पन्न है—

खड्ग निष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा मे ।
हस्त्यश्वरथिहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ।।[7]

---

[1] —मानस, २।२४।१-२
[2] —वाल्मीकि रामायण, २।७।१०
[3] —वही, २।७।१३
[4] —वही, २।९।१
[5] वही, २।२०।४९
[6] —वही २।२०।५१
[7] —वही २।२३।३३।

और राम सुग्रीव की कृतघ्नता से खिन्न होकर उसे मारने की जो धमकी देते हैं उसमे 'मार्ग के संकुचित न होने' के रूप मे लाक्षणिक मूर्तता का योग है—

न स सङ्कुचित पन्था येन वाली हतो गत ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथम[1]

मानस मे इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों से सम्पन्न मूर्तता का प्राचुर्य है। अयोध्याकाण्ड मे तो लाक्षणिक प्रयोगो की झड़ी-सी लग गई है। इन प्रयोगो से अर्थ मूर्त रूप मे व्यक्त हुआ है। जब मथरा कहती है—

भामिनि भइहु दूध कइ माखी ।[2]

तो तिरस्कार की अभिव्यक्ति साकार हो जाती है, और जब वह कहती है—

जर तुम्हारि चह सवति उखारी[3]

तो उच्छेदन की आशंका इन्द्रियगोचर होने लगती है। मंथरा की नीचतापूर्ण पिशुनता से खीझकर उसे डाँट लेने के बाद कैकेयी जब आशंकित होकर उसके प्रति कौतूहल व्यक्त करती है तब मथरा अपने भय को व्यक्त करने के लिये भी लाक्षणिक मूर्तता का आश्रय ग्रहण करती है—

अब कछु कहब जीभ करि दूजी ।[4]

राजा दशरथ भी कैकयी के क्रोध के कारण को नष्ट करने का वचन देते समय लाक्षणिक मूर्तता के बल पर अपनी बात का अधिक प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करते हैं—

केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा ।[5]

और कैकेयी अपनी माँग को अपने स्तर के अनुरूप सिद्ध करने के लिये लाक्षणिक मूर्तता का अवलम्ब ग्रहण करती है—

जानेहु लेइहि माँगि चबेना ।[6]

शक्ति प्रहार से लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर लक्ष्मण को खोकर अयोध्या

१—वाल्मीकि रामायण, ४।३०।८१
२—मानस, २।१८।४
३—वही, २।१६।४
४—वही, २।१५।१
५—वही, २।२५।१
६—वही, २।२९।३

लौटने की चिन्ता करते हुए राम लाक्षणिक ढग से अपनी सभावित लज्जा को सम्मूर्तित करते हैं—

जैहउ अवध कौन मुँह लाई ।[1]

इसी प्रकार विभीषण प्रतिकूल वातावरण मे जीवनयापन की स्थिति के सम्मूर्तन के लिये गौणी लक्षणा के रूढ रूप का उपयोग करता है–

जिमि दसनन्हि माँहि जीभ बिचारी ।[2]

कही-कही कवि ने स्वय अपनी उक्तियो को लाक्षणिक प्रयोगो से सम्मूर्तित किया है जैसे—

मानहु लौन जरे पर देई ।[3]

कौसल्या के वात्सल्य और धर्म के अंतर्द्वन्द्व को मूर्त रूप देने के लिये कवि ने लाक्षणिक प्रयोग का ही सहारा लिया है—

भई गति साँप छुछुंदर केरी ।।[4]

उपर्युक्त उदाहरणो में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता प्राय मुहावरो के रूप मे व्यक्त हुई है। मानसकार ने लोकोक्तियो के रूप मे भी लाक्षणिक पद्धति से सम्मूर्तन-क्षमता का अच्छा परिचय दिया है। लोकोक्तियो के रूप मे कवि ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सत्य का सम्मूर्तित किया है, जैसे—

अन्तहु कीच तहाँ जहँ पानी ।[5]

× × ×

कारन तें कारज कठिन[6]

× × ×

लातहु मारे चढत सिर नीच को धूरि समान[7]

× × ×

अति संघरसन कर जो कोई । अनिल प्रकट चरन तें होई।[8]

---

[1] —मानस, ६।६०।६
[2] —वही, ६
[3] —वही, २।२९।४
[4] —वही, २।५४।२
[5] —वही, २।१८१।२
[6] —वही, २।१७१
[7] —वही १।२२९
[8] —वही, ७।१२०।८

बिम्ब संप्रयन

बिम्ब-सप्रयन की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे उल्लेखनीय अंतर दिखलाई देता है। वाल्मीकि रामायण मे लक्षित बिम्ब प्रायः सश्लिष्ट है जबकि मानस में सरल। वाल्मीकि वर्ण्य के अंगों को परस्पर सम्बद्ध रूप में हमारे बोध का विषय न बनाकर एक समग्र आकृति का रूप दे देते हैं। इसके विपरीत मानस के कवि की दृष्टि प्रायः अंगों को उनके स्वतन्त्र रूप मे ग्रहण करती है। फलतः अंगी का बोध न होकर अंग-सौन्दर्य का ही बोध होता है। यह प्रवृत्ति मानस के रूप-वर्णन और प्रकृति वर्णन-विषयक स्थलों पर स्पष्ट दिखलाई देती है।

इसी प्रकार उपलक्षित बिम्ब-सर्जना की दृष्टि से भी दोनों मे अंतर बहुत स्पष्ट है। वाल्मीकि रामायण मे अप्रस्तुत और प्रस्तुत कहीं एक दूसरे के सान्निध्य मे रहकर सम्मूर्तन मे योग देते हैं तो कहीं वे एक दूसरे मे विलीन होकर एक समग्र आकृति की सृष्टि भी करते हैं जबकि मानस मे प्रायः प्रथम प्रकार की बिम्ब-सृष्टि के ही दर्शन होते हैं। इस सम्बन्ध मे मानस के अप्रस्तुत-विधान की विशेषता को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उस ओर से कुछ समीक्षकों ने मानस की अप्रस्तुत योजना को परम्पराभुक्त कहकर उसका तिरस्कार किया है। वह विशिष्टता यह है कि मानस का अप्रस्तुत-विधान सम्बन्ध निर्भर है, अप्रस्तुत निर्भर नहीं। मानसकार अप्रस्तुतों के माध्यम से नहीं, अप्रस्तुतों के परस्पर सम्बन्ध के माध्यम से अपने कथ्य को सम्मूर्तित करता है। अतएव अप्रस्तुत परम्परभुक्त होने पर भी उनके सम्बन्ध की नूतनता मानस के उपलक्षित बिम्बों मे सौन्दर्य संक्रमित करती है। कुछ उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। मुख के लिये कमल की उपमा परम्परापिष्ट है और भ्रमरी (या भ्रमर) भी अनेक रूप मे कवियों के प्रिय उपमानों मे रही है, किन्तु मानसकार लज्जा मे मुख से वाणी न फूटने की स्थिति को रात्रि, कमल और भ्रमरी के सम्बन्ध-डोर के सहारे जब सम्मूर्तित करता है तो अप्रस्तुतों की परस्पर सम्बद्धता की नूतनता से प्रस्तुत भी खिल जाता है—

गिरा अलिनि मुख पङ्कज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।[1]

मानस की अप्रस्तुत-योजना के सौन्दर्य-बोध के लिये सम्बन्ध-चेतना इतनी आवश्यक है कि उसकी ओर ध्यान न देने पर कहीं-कहीं बिम्ब-विधान ही निरर्थक प्रतीत होने लगता है। धनुष टूटने पर राजाओं के श्रीहीन होने का चित्र तभी

---

[1] १—मानस, १।२५८।१

बोधगम्य हो सकता है जबकि उसके लिये प्रयुक्त अप्रस्तुत-योजना के सम्बन्धतत्व पर हम ध्यान दें। जब कवि कहता है—

श्री हत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे ॥[1]

तब यदि दीपक की कल्पना दिन के परिपार्श्व मे ग्रहण न की गई तो सम्पूर्ण अप्रस्तुत-विधान ही निरर्थक हो जाएगा।

मानसकार ने कहीं-कहीं इस सम्बन्ध-योजना को अत्यंत सघन रूप देकर बहुत प्रभावशाली बना दिया है। राज्य ग्रहण करनेका प्रस्ताव सुनकर भरत अपनी वेदना को अप्रस्तुत-विधान की सम्बन्ध-सघनता के माध्यम से अत्यंत प्रभावशाली रूप मे व्यक्त करते है—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार ॥[2]

उपर्युक्त दोहे मे एक के बाद एक अप्रस्तुत इस प्रकार संग्रथित हुए हैं कि समग्र रूप में जटिल बिम्ब की प्रतीति होती है, लेकिन मानस मे इस प्रकार का बिम्ब-विधान अधिक मात्रा मे दिखलाई नहीं देता। अधिकांशत मिश्र बिम्ब योजना के रूप मे ही मानसकार का कौशल व्यक्त हुआ है जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत एक दूसरे के निकट रहते हुए भी परस्पर एकाकार नही हो पाये हैं। अप्रस्तुतों का अन्तर्ग्रंथन भी प्राय: अधिक नहीं हुआ है। इसलिये मानस मे जटिल बिम्ब-विधान के दर्शन अपवाद रूप मे ही होते हैं।

इसके विपरीत वाल्मीकि की प्रवृत्ति बिम्ब-संगुम्फन की ओर अधिक रही है। अतएव वाल्मीकि रामायण मे विशेषकर प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी स्थलो पर जटिल बिम्ब-सृष्टि के सुन्दर उदाहरण दिखलाई देते हैं। वर्षा ऋतु मे बिजली चमकने और बादल गरजने के दृश्य के साथ सोने के कोड़ो से आकाश के पीटे जाने की कल्पना को गूँथ देने से समग्र रूप मे अत्यन्त प्रभावोत्पादक जटिल बिम्ब की सृष्टि हुई है—

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम्।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥[3]

तुलसीदास की मानस-रूपक और ज्ञान-दीपक की कल्पना मे जटिलता अवश्य है किन्तु वहाँ भी रूपक के एक एक अंग पर जो बल दिया गया है उसके परिणाम-

---

[1] —मानस, १।२६२।३
[2] —मानस, २।१८०
[3] —वाल्मीकि रामायण, ४।२८।११

स्वरूप रूपक के अंगो की समन्वय प्रतीति ही हो पाती है, समग्रता का बोध उतना प्रखर नही हो पाता। मानस के सभी साग रूपको मे यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। *बिम्ब-विधान की दृष्टि से उन्हे मिश्र बिम्ब मानना उचित होगा।*

अतएव यह कहना अधिक उचित होगा कि मानस की तुलना मे वाल्मीकि का बिम्ब-विधान संश्लेषण की दृष्टि से कहीं अधिक सफल रहा है, किन्तु लाक्षणिक मूर्तता की दृष्टि से तुलसीदास वाल्मीकि से भारी पड़ते हैं।

छंद-योजना का योगदान

काव्य-प्रभाव के सम्मूर्तन और सम्प्रेषण मे दोनो काव्यो की छन्द-योजना ने भी अनुकूल योगदान किया है। छन्दो की भिन्नता के बावजूद दोनो की छन्द-योजना मे कुछ महत्त्वपूर्ण समानताएँ हैं। इस सम्बन्ध मे डा० रामप्रकाश अग्रवाल ने दोनो के मुख्य छन्दो वाल्मीकि रामायण मे अनुष्टुप और रामचरितमानस मे चौपाई के आकार की *लघुता, सरलता, प्रसादात्मकता और प्रवाहशीलता की प्रबन्धोपयुक्तता* की जो प्रशंसा की है,[1] वह उचित ही है। यद्यपि, जैसाकि डा० अग्रवाल ने लक्ष्य किया है, उक्त छन्दो के भीतर भी वैविध्य का समावेश है अर्थात् अनुष्टुप और चौपाई के भी अनेक रूप क्रमशः रामायण और मानस मे दिखलाई देते हैं, तथापि वाल्मीकि मे ऐसे अनुष्टुप अपवाद रूप मे ही हैं जिनमे प्रत्येक चरण का पाँचवाँ अक्षर लघु, छठा दीर्घ और प्रथम तथा तृतीय चरणो का सातवाँ दीर्घ, द्वितीय और चतुर्थ चरणों का सातवाँ अक्षर लघु न हो। इसी प्रकार मानस मे भी ऐसी चौपाइयाँ बहुत थोड़ी हैं जिनमे १६ मात्राएँ न हों अथवा जिनमे अंत मे गुरु अक्षर न हो।

वाल्मीकि और तुलसीदास की छंद योजना का जो अपना अपना वैशिष्ट्य है, वह भी दोनो काव्यों के सौन्दर्योत्कर्ष मे भिन्न-भिन्न रूप मे साधक सिद्ध हुआ है। *वाल्मीकि का अनुष्टुप तुलसीदास की चौपाई की तुलना मे दीर्घाकार छंद है।* चौपाई मे प्रत्येक वाक्य प्रायः १६ मात्राओं के भीतर पूर्ण हो जाता है जबकि अनुष्टुप मे आठ आठ वर्ण वाले चार चरण होते हैं। इस प्रकार वाल्मीकि को बत्तीस वर्णों की वाक्य-रचना की सुविधा प्राप्त थी जो वाल्मीकि रामायण की मंथर गति मे साधक सिद्ध हुई है।

चौपाई में यद्यपि चार चरण होते हैं तथापि प्रत्येक चरण प्रायः अपने आप में एक वाक्य होता है। इसलिये कवि को अत्यंत सीमित आकार मे वाक्य-रचना करनी पड़ी है। *इसका परिणाम यह हुआ है कि मानस की उक्तियों मे वैसा संश्लेषण नहीं* है। जैसा वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देता है। मानस में प्रस्तुत और अप्रस्तुतो के

---

[1] —डा० रामप्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन, पृ० ४३९।

अंतर्विलीन हो पाने में भी उसकी इस छंद-योजना का हाथ हो सकता है और इसलिये मानस में जटिल बिम्बों का जो अभाव सा दिखलाई देता है, अथवा बड़े रूपकों में भी अंगों की जो स्वायत्तता बनी रही है और अंगीता की समग्रता नहीं उभर पाई है उसका कारण भी चौपाई के प्रत्येक चरण की स्वायत्तता हो सकती है। इसके विपरीत मानस में जो अजस्र प्रवाह दिखलाई देता है उसके पीछे चौपाई की क्षिप्र गतिशीलता है। इस गतिशीलता के मध्य ठहराव के लिये कवि ने बीच बीच में दोहों का उपयोग किया है और जहाँ उसे और अधिक ठहराव की आवश्यकता का अनुभव हुआ है वहाँ उसने अन्य किसी दीर्घाकार छंद को अपना लिया है और उसे केवल 'छंद' की संज्ञा दी है। मानस में प्रायः आठ आठ अर्द्धालियों (चार चौपाइयों या सोलह चरणों) के उपरांत दोहे रखे गये हैं, फिर भी कवि ने इस सम्बन्ध में कड़ाई से किसी नियम का पालन नहीं किया है। आवश्यकतानुसार गति और ठहराव का संतुलन बनाये रखने के लिये उसे जब जैसी सुविधा दिखलाई दी है उसने तदनुसार छन्द-योजना प्रस्तुत की है।

इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसीदास की छन्द-योजना उनकी अपनी-अपनी व्यापक काव्य-प्रकल्पना का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है जिसने काव्य की समग्रता में अपनी तदनुकूल भूमिका निभायी है।

प्रबंध-कल्पना

आदिकाव्य होते हुए भी वाल्मीकि रामायण ने प्रबन्ध-कल्पना का जो आदर्श प्रतिष्ठित किया वह भारत की समस्त काव्य साधना के लिये एक आलोक स्तम्भ बन गया। मानसकार ने जीवन का विराट् चित्रण वाल्मीकि में देखा होगा, किंतु इस बीच रामकाव्य का जो और विकास हो चुका था उससे भी-विशेषकर राम-विषयक नाटक साहित्य-से मानस का कवि बहुत प्रभावित हुआ और उसने राम कथा की यथातथ्य अभिव्यक्ति और नाटकीय विवृति को समन्वित करते हुए मानस का काव्य-रूप निर्धारित किया। मानसकार संभवतः इस सम्बन्ध में जागरूक था कि उसके काव्य में रामकथा का वाल्मीकि जैसा सविस्तार चित्रण नहीं हैं। अनेक स्थानों पर उसने वाल्मीकि जैसा विशद चित्रण न करते हुए भी कथा को पर्याप्त विस्तार के साथ ग्रहण किया है और अनेक स्थलों पर कथा गति को बड़ी तेजी से आगे की ओर धकेल दिया है। इस सम्बन्ध में तुलसीदासजी को संभवतः अपने आलोचकों के आक्षेपों का सामना भी करना पड़ा होगा, अन्यथा उन्होंने आत्मालोचन किया होगा अथवा अपनी दिव्य दृष्टि के बल पर संभावित आलोचना का अनुमान लगा लिया होगा। इसलिये काव्य समापन के निकट पहुँच कर उन्होंने कथा-वक्ता काकभुशुंडि के मुख से कहलवा दिया है—

कहेउ नाथ हरचरित अनूपा । ब्यास समास स्वमति अनुरूपा ।।[1]

फलतः मानस का प्रबन्ध-रूप आदिकाव्य से पर्याप्त भिन्न है । यह भिन्नता काव्य की अन्विति, विस्तार एव गति, मार्मिक स्थलो के उपयोग, स्थानीय रग, सवाद सौष्ठव धर्म तथा नीति के अन्तर्भाव और शैलीगत उदात्तता मे स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

अन्विति

वाल्मीकि रामायण मे अवान्तर कथाओ के बाहुल्य के कारण काव्य की अन्विति को बहुत आघात पहुँचा है जबकि मानसकार ने प्रासगिक कथाओ को काव्य की अन्विति मे बाधक नही बनने दिया है । उसने या तो मुख्य कथा आरम्भ होने से पूर्व ही पूर्वपीठिका के रूप मे अथवा हेतु-कथाओ के रूप मे अवान्तर कथाओ को स्थान दिया है अथवा आधिकारिक कथा समाप्त हो जाने के उपरान्त अवान्तर कथाएँ उठाई हैं । इस प्रकार मानस मे अवान्तर कथाएँ भूमिका या परिशिष्ट-रूप मे आई हैं जिससे आधिकारिक कथा की गति भग नही हुई है ।

स्वय आधिकारिक कथा के भीतर भी वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा मानस मे अन्विति अधिक रही है । वाल्मीकि रामायण मे कथा की सहजता पर बल होने से आरभिक अशो में (जो सभवतः प्रक्षिप्त हैं) कलात्मक सयोजन का अभाव दिखलाई देता है जबकि मानस की आधिकारिक कथा आरम्भ से ही निश्चित योजनानुसार आगे बढी है । मानस मे राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का बीज-वपन आरभ मे ही हो गया है और उत्तरोत्तर उसका विकास हुआ है ।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मानस की प्रबधात्मकता मे किसी प्रकार का व्यवधान नही आया है । बीच-बीच मे धर्म और नीति के उपदेशो[2] के परिणाम-स्वरूप मानस की कथा शृखला टूटी भले ही न हो पर टूटी सी प्रतीत अवश्य होती है । मानस मे सैद्धान्तिक उक्तियो का ऐसा बाहुल्य है कि शूर्पणखा भी नीति का उपदेश देती है[3] और रावण आध्यात्मिक ज्ञान का प्रवचन करता है ।[3] राम-विवाह का वर्णन भी मानस-कथा की अन्विति मे बाधक बना है, किन्तु मुख्यतया उपदेशात्मकता काव्य की सहज विवृति के लिये घातक सिद्ध हुई है । फिर भी समग्रत रामायण की तुलना मे मानस मे अन्विति की रक्षा अधिक हुई है ।

१—मानस, ७।१२२।१

२—द्रष्टव्य-मानस, ३।१४।१-१६।१, ३।३१।१-३६।१०, ४।१२।१ १७।१० तथा उत्तरकाण्ड मे राम के राज्याभिषेक के बाद के प्रसग

३—मानस, ३।२०४-६

४—वही, ६।७९।

विस्तार और गति

वाल्मीकि रामायण मे कथा का अद्वितीय विस्तार दिखलाई देता है। कवि छोटे-से छोटे ब्यौरे को भी छोडना नही चाहता है। इसलिये वह घटनाओ को उनकी सहज गति मे आलेखित करता हुआ धीरे-धीरे आगे बढता है। सार्थक कथाशो के चयन और कथा प्रभाव का समेट कर सघन बनाने मे उसकी रुचि नहीं है, कथा की यथार्थता की अधिकाधिक रक्षा करने मे वह सचेष्ट जान पडता है। इसलिये प्रसग के छोटे-छोटे अशो के लिये वह पूरे सर्गों की रचना कर डालता है। फलत उसके ब्यौरो मे सूक्ष्मता और गति मे मथरता है जिसके परिणामस्वरूप समस्त काव्य मे कान्ति गुण का निर्वाह हुआ है। इसके विपरीत मानसकार की प्रबन्ध योजना मे अद्भुत चयन-प्रतिभा और कथा को समेट कर उसके प्रभाव को सघन बनाने की अपूर्व क्षमता दिखलाई देती है। जिस बात के लिये वाल्मीकि ने पूरा सर्ग लिख डाला है उसे मानसकार ने कुछ ही पंक्तियो मे प्रभावशाली ढग से व्यक्त कर दिया है। इस प्रकार मानस की प्रबन्ध-योजना मे क्षिप्रता और लाघव के दर्शन होते हैं, किन्तु कहीं-कहीं यह क्षिप्रता प्रबंध-तारतम्य के लिये घातक भी सिद्ध हुई है। आसन्नमृत्यु बाली के हृदय की कोमलता, सुग्रीव की कृतघ्नता से कुपित लक्ष्मण के किष्किन्धा पहुँचने पर तारा द्वारा समझाए जाने की घटना, लका मे सीता की खोज मे हनुमान के भटकने का प्रसग—ये रामकथा के कुछ ऐसे अश हैं जो मानस की क्षिप्रता के कारण उभर नही पाये हैं।

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनों मे ही सभी काड एक जैसे आकार के न होने पर भी वाल्मीकि रामायण की काण्ड-योजना बहुत कुछ समानुपातिक है—उसमे काडो के आकारो में वैसा वैषम्य नही है जैसा मानस मे दिखलाई देता है फिर भी बालकाड और उत्तरकाड मे आधिकारिक कथा बहुत थोडे अशो मे है और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि वाल्मीकि मे भी कथा विकास सतुलित नही है, लेकिन यदि ये दोनो काड प्रक्षिप्त हैं, जैसा कि विद्वानो की मान्यता है,[1] तो वाल्मीकि के कथा-सतुलन पर आक्षेप करने के लिये अवकाश नही रहता।

मार्मिक स्थलो का उपयोग

वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने मार्मिक स्थलो का अच्छा उपयोग किया है, किन्तु दोनो से ही कुछ महत्त्वपूर्ण मार्मिक प्रसग छूट गये हैं। वाल्मीकि रामायण मे चापारोपण का प्रसग मार्मिकता से बहुत दूर है। फलत यहाँ बालकाण्ड का काव्यो-

---

१—द्रष्टव्य - डॉ० कामिल बुल्के, रामकथा : उद्भव और विकास, पृ० १२

रूप उजागर नही हो पाया है। इसके विपरीत मानसकार ने बालकाड की कथा तो बहुत मार्मिक बना दी है, किन्तु अयोध्याकाड मे लक्ष्मण की उद्दीप्ति, अरण्यकाड मे सीता के मर्म वचनो और लंकाकाड अग्नि-परीक्षा के तनावपूर्ण प्रसग पर आवरण डाल कर तथा सीता परित्याग का प्रसग छोड़ कर कुछ अत्यन्त मार्मिक प्रसगो की उपेक्षा की है। इसी प्रकार रावण-पक्ष के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त होने के कारण उसने न तो रावण की संवेदना को वाणी दी है और न उसकी मृत्यु पर मंदोदरी के विलाप का वाल्मीकि जैसा हृदय द्रावक वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त रूप वर्णन और प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी मानस अधिक प्रभावशाली काव्य नही बन पाया है। इन अभावो के बावजूद वाल्मीकि और तुलसी के काव्य मे मन्थरा का कुचक्र, कैकेयी का कोप, दशरथ की व्यथा, कौसल्या पर वज्रपात, दशरथ की मृत्यु, भरत की ग्लानि, चित्रकूट-यात्रा, सीता-हरण और राम का विलाप, रावण द्वारा सीता पर अत्याचार आदि मार्मिक प्रसगो का अत्यन्त प्रभावशाली उपयोग दोनो काव्यो मे हुआ है।

स्थानीय रंग

काव्य को स्थानीय रंग देने के लिये दोनों काव्यो मे वर्णनो का समावेश है। नगर, पर्वत और वन के वर्णनो के रूप मे स्थानगत विशेषताओं तथा ऋतु-वर्णन और सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि के वर्णनो के रूप मे कालगत विशेषताओं का समावेश दोनो काव्यो मे हुआ है, फिर भी मानस मे स्थानीय रंग वैसा प्रगाढ़ नहीं है जैसा वाल्मीकि मे क्योकि मानस के वर्णन वैसे विशिष्टता-सम्पन्न और पूर्ण नही हैं जैसे वाल्मीकि रामायण मे दिखलाई देते हैं। फिर भी काव्य-पीठिका को उभारने मे वे असफल नहीं रहे हैं।[1]

संवाद-सौष्ठव

पात्रो की भावनाओ के प्रकाशन मे दोनो काव्यों के विभिन्न सवादो का महत्वपूर्ण योगदान दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों मे परशुराम-सवाद, मथरा-सवाद, कैकेयी-दशरथ-सवाद, राम-कैकेयी-सवाद, राम कौसल्या-सवाद, सीताराम-सवाद, शूर्पणखा-राम-सवाद, शूर्पणखा-रावण सवाद, सीता-रावण सवाद, राम-हनुमान सुग्रीव-सवाद, हनुमान- रावण-सवाद अगद-रावण-सवाद, रावण-विभीषण-सवाद और मन्दोदरी-रावण- सवाद ने कथा और चरित्र-चित्रण की भूमिका प्रशस्त की है। वाल्मीकि रामायण मे राम-लक्ष्मण-सवाद, राम-कौसल्या संवाद और सीता-लक्ष्मण-सवाद में विशेष उद्दीप्ति दिखलाई देती है। मानस के सवादों पर नाटकीय प्रभाव विशेष रूप से

---

[1] १— द्रष्टव्य-वर्णन-सौन्दर्य-विषयक अध्याय।

पर्याप्त लक्षित होता है। लक्ष्मण-परशुराम संवाद में परशुराम के कुढ़ने और लक्ष्मण की छेड़छाड़ बहुत ही रोचक है। उसमें व्यंग्य और कटूक्तियां बहुत प्रभावशाली हैं। मंथरा कैकेयी-संवाद में मंथरा की व्यंजना गर्भित उक्तियों में अपूर्व जीवन्तता है। वह कैकेयी के एक-एक शब्द को पकड़ कर सटीक उत्तर देती है। कैकेयी पहले डाटते हुए उसे 'घर फोरी' कहती है और उसकी जबान खींचलेने की धमकी देती है,[1] किन्तु मन में संदेह अंकुरित हो जाने पर वह मंथरा से वास्तविकता के उद्घाटन का आग्रह करती है तो मंथरा उसी के शब्दों को पकड़ते हुए करारा उत्तर देती है —

एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करी दूजी ॥[2]
तुम्ह पूँछहु मैं कहत डेराऊँ। परेउ मोर घरफोरी नाऊँ ॥[3]

आरम्भ में ही अनमने होने का कारण पूछे जाने पर वह बड़ी चतुराई से कैकेयी की भावी सामर्थ्य हानि की ओर संकेत कर देती है–

कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गालु करब केहि कर बल पाई ॥[4]

मानस के अन्य संवादों में अंगद-रावण-संवाद भी नाटकीयता से परिपूर्ण है। उसका सौन्दर्य अंगद के प्रत्युत्पन्नमतित्व में सन्निहित है। वाल्मीकि के संवादों में भावोद्दीप्ति तो है, किन्तु ऐसी नाटकीय गति उनमें दिखलाई नहीं देती।

धर्म और नीति का अंतर्भाव

रामकथा प्रबल मूल्य-चेतना से सम्पन्न है। स्वभावतः ऐसी कथा को लेकर लिखे जाने वाले काव्य में आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों के अंतर्भाव के लिये बहुत अवकाश रहता है। वाल्मीकि द्वारा राम का चरित्र अत्यंत मानवीय रूप में अंकित किया गया है फिर भी अवतारवाद की प्रतिष्ठा होने पर उसमें अवतार-विषयक अंश जोड़ दिये गये जो वाल्मीकि द्वारा चित्रित राम के मानवीय चरित्र के साथ संगत प्रतीत नहीं होते। इस प्रकार के धार्मिक विश्वास वाल्मीकि रामायण में खप नहीं पाये हैं, विजातीय तत्त्वों के रूप में काव्य की मूल चेतना से अलग थलग पड़े रह गये हैं। सच तो यह है कि वाल्मीकि रामायण में 'धर्म' एक सामाजिक मूल्य है जिसमें नैतिक दायित्व समाहित है। पिता के आदेश पर लक्ष्मण के विरोध के बावजूद वन जाने के लिये आग्रह करते समय राम धर्म की महत्ता का जो उद्घोष करते हैं उसमें धर्म का सामाजिक पक्ष ही संकेतित है। इस रूप में धर्म का अभिप्राय

---

[1] — पुनि अस कबहुँ कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढ़ावहुँ तोरी ॥ मानस, २।१३।४
[2] — मानस, २।१५।१
[3] — वही, २।१६।२
[4] — वही, २।१३।१

मानव-धर्म है और वह कवि की मानवीय जीवन-दृष्टि का ही अंग है। सामाजिक दायित्व की चेतना के रूप मे धर्म का अन्तर्भाव करते हुए भी कवि ने सैद्धांतिक कथनो मे अधिक रुचि नहीं ली है और प्राय: अत्यन्त भावावेश के परिपार्श्व मे उसने सैद्धांतिक द्वन्द्व उपस्थित किया है। वनगमनोद्यत राम और पिता के अन्यायपूर्ण आदेश का प्रतिवाद करने वाले लक्ष्मण के जीवन-मूल्यो की टकराहट केवल दो सिद्धांतो की टकराहट नही है, यह एक ही परिस्थिति के प्रति दो व्यक्तियो की आवेशपूर्ण प्रतिक्रियाओं की टकराहट भी है, उसमे एक प्रबल सांवेगिक तनाव अंतर्भूत है। इस प्रकार सिद्धांत अनुभूति मे अंतर्विलीन हो जाने से धर्म-चेतना काव्योपकारी सिद्ध हुई है। अयोध्याकाण्ड का सौवां सर्ग राजनीतिक उपदेश से परिपूर्ण होने पर भी राम के कुशल-प्रश्न का एक अङ्ग है। अतएव उसकी सैद्धांतिकता काव्यानुभूति मे बाधक नही बनती। इसी प्रकार रावण को फटकारते हुए उसके प्रति शूर्पणखा का राजनति-विषयक उपदेश सांवेगिक उत्तेजना से परिपूर्ण होने के कारण अनुभूति-वेग से सम्पन्न है।

इसके विपरीत रामचरितमानस मे धार्मिक और नैतिक तत्त्व के अन्तर्भाव के सम्बन्ध मे अनेक आपत्तियाँ उठाई गई हैं। श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने इस विषय में लिखा है कि "तुलसीदास कृत रामायण मे सीता-हरण के उपरांत राम के विदग्ध विलाप को सुनकर हम कितने विह्वल हो जाते हैं। वृक्ष से, लता से, मोर से, हरिण से, किस आत्मीयता का अनुभव होता है। वे केवल राम के ही नहीं, हमारे भी सहचर-से बन जाते हैं। चराचर विश्व को करुणा से कम्पित करने वाले राम के हृदय द्रावक विलाप—

> हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

को सुनकर उनके प्राण-संशयमय विषाद के प्रति हमारा मानस कितना अनुकम्पित होकर व्यथित होता है। उसी समय ज्योंही हम सुनते हैं—

> ऐहि बिधि खोजत बिलपति स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी॥
> पूरन काम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥

त्योंही हमारी सारी अनुकम्पा, समस्त विषाद निराधार हो जाता है। हमारे मन का ताप निकल कर कवि के प्रति क्षोभ का प्रदर्शन करता है। धोखे मे किसी छद्मवेषी राजा को तुच्छ दान देकर मन में जिस प्रकार लज्जा का अनुभव होता है उसी प्रकार सर्वान्तर्यामी राम के प्रति अपनी करुणा का वैभव लुटाकर हम धोखा खा जाते हैं। रसानुभूति के लिये इस प्रकार का व्यतिक्रम बहुत अनुचित है।"[1]

१—लक्ष्मीनारायण सुधांशु, काव्य में अभिव्यंजनवाद, पृ० ९१-९२

मानसकार ने राम के प्रति अन्य पात्रों की प्रतिक्रिया अथवा राम के साथ उनका सम्बन्ध अंकित करते हुए प्रायः उन पर भक्ति भावना आरोपित की है जिसके परिणामस्वरूप कई स्थानों पर मानस के पात्र मुख्य रूप से अपने व्यक्तित्व के वाहक न रहकर कवि के भक्ति-विषयक आदर्श के वाहक बन गये है। इस बात को लक्ष्य कर डा० देवराज ने लिखा है–'वे जहाँ तहाँ राम से सम्पर्कित होने वाले बालक और वयस्क, युवा और वृद्ध अधिकांश पात्रों की मनोवृत्ति पर स्वयं अपने भक्त और साधक के व्यक्तित्व की भावनाओं का आरोप करते पाए जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उन पात्रों का आचरण अस्वाभाविक हो जाता है।'[1] डा. श्रीकृष्णलाल ने मानस की प्रबल भक्ति भावना का उदघाटन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि मानस के राम परब्रह्म परमेश्वर के रूप मे ही हमारे समक्ष आते हैं[2] और मानस के लगभग सभी अन्य पात्र भक्त हैं।[3] यह प्रतिपादित करते हुए उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भक्ति-भावना की प्रबलता से मानस का मानवीय धरातल आहत हुआ है।

मानस के सम्बन्ध मे डा श्रीकृष्णलाल के उक्त आक्षेप निराधार न होते हुए भी एकांगी और अतिरंजित प्रतीत होते हैं। मानस की धर्म दृष्टि की अपनी सीमाएँ हैं। वहाँ वाल्मीकि जैसे व्यापक अर्थ मे "धर्म" का उन्मीलन कम हुआ है और अध्यात्म रामायण के समान संकुचित अर्थ मे धर्म की प्रतिष्ठा अधिक हुई है। कुछ निश्चित विश्वासो को अंगीकार किये बिना मानस का काव्यास्वादन कदाचित् सम्भव नहीं होगा। अवतारवाद ऐसा ही मूलभूत विश्वास है जिसको यदि हम मानकर न चले तो मानस का एक भाग हमारे लिये निरर्थक हो जाएगा, फिर भी मानस मे ऐसा बहुत कुछ बच रहेगा जो सहृदय की सौन्दर्य चेतना को तुष्ट कर सके। इसी लिये मानस की आध्यात्मिक प्रकृति पर आक्षेप करते हुए भी डा. देवराज ने स्वीकार किया है कि 'मानवीय सहृदयता के सबल चित्र देने मे तुलसीदास अद्वितीय हैं।'[4]

मानस मे कुछ अंशो मे धर्म और काव्य में विरोध अवश्य दिखलाई देता है, किन्तु अधिकांशत धार्मिक प्रयोजन मानवीय संवेदना के साथ एकात्म हो गया है। जनकपुर मे स्त्री पुरुषो, बालक वृद्धो का राम के प्रति आकर्षण उनके व्यक्तित्व के सौन्दर्य और ईश्वरत्व के प्रति सहज मानवीय आकर्षण और भक्ति की समन्वित अभिव्यक्ति है, वन मार्ग मे ग्राम-वासियों का अनुराग मानवीय सहानुभूति और भक्ति-भावना का युगपत् प्रकाशन है। दशरथ, भरत, लक्ष्मण, आदि राम के लौकिक सम्बन्धी

---

[1] —डा० देवराज, प्रतिक्रियाएं पृ० ८५

[2] —द्रष्टव्य डा० श्रीकृष्णलाल, मानस दर्शन, पृ० २४

[3] —वही, पृ० १००

[4] —डा० देवराज प्रतिक्रियाएं, पृ० ८७

होने के साथ भक्त हैं, किन्तु उनके लौकिक सम्बन्धों के साथ भक्ति भावना की अन्विति बड़ी कुशलता से की गई है। इसके विपरीत राम के प्रति रावण कुम्भकर्ण और मन्दोदरी की भक्ति लौकिक सम्बन्ध के साथ नहीं मिल पाई है। रावण-वध पर मन्दोदरी की भक्ति का प्रकाशन काव्य सौन्दर्य के लिये विशेष रूप से घातक सिद्ध हुआ है। इस प्रकार जहाँ तक कवि लौकिक और धार्मिक सम्बन्धों मे अविरोध स्थापित कर पाया है वहाँ तक धार्मिकता उसके काव्य सौन्दर्य मे बाधक नहीं बनी है, किन्तु जहा अविरोध नहीं लाया जा सका है वहाँ काव्य-सौन्दर्य धार्मिक प्रयोजन से आहत हुआ है।

मानस के धर्म-प्रसंगों के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि कहीं कहीं वे वाल्मीकि के समान अत्यन्त तनावपूर्ण परिस्थिति से सम्पृक्त होने के कारण संवेदनशील बन गये हैं। धर्मरथ का रूपक इसी प्रकार का प्रसंग है। अद्वितीय सैन्य-बल-सम्पन्न रावण से धर्मबल-सम्पन्न राम का संघर्ष एक रोमांचक कल्पना है जिसे धर्म रथ के रूपक मे अत्यन्त भव्य रूप मे अंकित किया गया है। कहीं कहीं सांसारिक जीवन की भीषणता के उपरान्त धर्म-चर्चा से विश्रांति मिलती है। उदाहरण के लिये, निर्वासन के उपरान्त निषादराज के प्रति लक्ष्मण का धर्मोपदेश और सीता को अनुसूया की शिक्षा इस प्रकार के विश्रांतिपूर्ण स्थल हैं। कहीं-कहीं भव्य काव्य-शिल्प के प्रभाव से कवि ने धर्मोपदेश को उजागर किया है। ज्ञानदीपरूपक और मानस-रोग-प्रकरण मे रूपकात्मकता का सौन्दर्य धर्मोपदेश की नीरसता को सतुलित कर देता है। राम के वासस्थान के निर्देश के ब्याज से वाल्मीकि धर्मात्माओं की जो सूची प्रस्तुत करते हैं उसमे भी निवासस्थान विषयक मूर्तता के कारण सौन्दर्य-श्लेष दिखलाई देता है। इसके विपरीत जहाँ राम का परब्रह्मत्व कवि का उद्दिष्ट रहा है और जहाँ कवि स्तुतियों की अवतारणा मे प्रवृत्त हुआ है वहाँ मानस के काव्य-सौन्दर्य को अवश्य ही क्षति पहुँची है, लेकिन कथा के बीच-बीच मे जहाँ कवि ने बार-बार राम के ईश्वरत्व की याद चलते तौर पर दिलाई है, वहाँ प्रकरण की समग्रता में छोटे छोटे व्यवधान निरर्थक हो गये हैं क्योंकि समग्र की प्रतीति मे छोटे व्यवधानों का बोध ही नहीं होता।[1]

इस सम्बन्ध मे कवि के लक्ष्यभूत सहृदय का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। मानसकार की दृष्टि में आज के वैज्ञानिक युग के सहृदय तो थे ही नहीं, अपने युग में भी सभी लोगों को उसने अपने काव्य का अधिकारी नहीं माना था इसलिये अपने वक्तव्य मे उसने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार का पाठक उसे अभीष्ट रहा है—

1—R S Woodworth, *Contemporary Schools of Psychology*, p 121

हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की ।।[1]

और इसलिये—

प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहि कथा सुनि लागहि फीकी ।।[2]

फिर भी मानस का कवित्व अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के बावजूद व्यापक रूप से सहृदय-रंजन मे सफल हुआ है जिसका कारण स्पष्टत. यह है कि मानसकार धर्म-मूल्यों के प्रति ही नही, काव्य-मूल्यो के प्रति भी जागरूक था। और उक्त मूल्यों का निर्वाह उसने अधिकाशत इस प्रकार किया है कि उनकी विरोधी प्रकृति का प्रचुराश में परिहार हो गया है और दोनो के मध्य एक सीमा तक अविरोध स्थापित किया जा सका है जिससे उसके काव्य-सौन्दर्य की रक्षा हुई है।

मानस मे नीति-कथनों का समावेश अपेक्षाकृत अधिक सफल रहा है। जैसा कि श्री लक्ष्मीनारायण सुधाशु ने लिखा है, "कोई भी वस्तु हमारी सौंदर्य-भावना को तब तक जागरित नहीं कर सकती जब तक उसकी कोई आकृति स्थिर न हो जाए।"[3] इस दृष्टि से मानस मे वर्षा एवं शरद ऋतु-वर्णन के बीच मे कवि ने नीति-कथनो को ऐसे कौशल से पिरोया है कि नीति-विषयक उक्तियाँ निरंतर सम्मूर्तन-परिवेष्टित बनी रही हैं। इसी प्रकार संत असंत वर्णन विभिन्न आचरणो और अप्रस्तुतो के माध्यम से मूर्त रूप मे वर्णित है।

अनेक स्थान पर मानसकार ने विधि निषेध का सीधा कथन भी किया है और कहीं उसने ऐसे व्यक्तियो की सूची दी है जो शोचनीय हैं तो कही ऐसे लोगों की सूची भी उपस्थित की है जो प्रशसनीय हैं। निंद्य और श्लाघ्य कर्मों और वस्तुओं का प्रासंगिक उल्लेख तो मानस मे आद्यन्त स्थलो पर हुआ है, फिर भी नीतिपरक उक्तियों से प्राय उसके काव्य सौंदर्य की क्षति नहीं हुई है, प्रत्युत ऐसी उक्तियाँ शताब्दियों से सहृदय-रंजन करती आई हैं और आज भी उनका सौन्दर्य अक्षुण्ण है।

इसका कारण यह है कि अनेक बार नीति-विषयक उक्तियाँ हमारी युग चेतना से बड़ी दृढता से जुडी होती हैं और इसलिये उनसे हमारे समष्टि-अचेतन की किसी बड़ी महत्त्वपूर्ण माँग की पूर्ति होती है। इस पूर्ति का मूल यदि हमारे परम्परागत संस्कारो से गृहीत हो तो वह और भी प्रभावशाली हो जाती है। समालोचको ने

---

[1] —मानस, २।८।३।

[2] —वही, २।८।३।

[3] —श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ४२।

मानस के कलियुग वर्णन को तुलसी के समय की परिस्थितियो के रूप मे सिद्ध किया है[1] और रामराज्य को नये मूल्यो से सम्पन्न कल्पलोक (यूटोपिया) के रूप मे देखा है।[2] इसलिये मानस की नैतिक उक्तियाँ भी, जो मानसकार के जीवन-मूल्यो को की अभिव्यक्ति हैं, समष्टि अचेतन से घनिष्ट रूप मे सम्बधित जान पडती है। निश्चय ही मानस के नैतिक कथनो पर मुग्ध होने वाले मनों मे कोई ऐसा प्रभाव रहा होगा जो इन नैतिक उक्तियो से सात्वना पा सका।

मानस की नीतिपरक उक्तियो का सौन्दर्य बहुत कुछ कवि के प्रबन्ध-कौशल पर भी निर्भर रहा है। इस प्रकार की उक्तियाँ प्राय ऐसे स्थलो पर आई हैं जहाँ भावावेश अत्यन्त तीव्र है और नीति-सम्बन्धी उक्तियाँ रस भावावेश से सम्पृक्त होकर उसके साथ बहती चली गई हैं। वहाँ वे उक्तियाँ समग्र प्रकरण बिम्ब का एक अ ग बन गई हैं और इस प्रकार समस्त प्रकरण के अ गरूप मे सम्मूर्ति हुई हैं। कभी-कभी नैतिक उक्तियाँ ऐसे स्थलो पर भी आई हैं जहाँ कथा प्रवाह अपनी तीव्र गति के उपरात मन्थर गति से प्रवाहित होता है। ऐसे प्रस गो मे नीतिपरक उक्तियाँ वातावरण की प्रशातता मे सात्विक निर्मलता से प्रभावित करती हैं। कथा की समाप्ति के उपरात परिशिष्ट रूप मे भी मानसकार ने नैतिक उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं[3] जो समस्त काव्य की आरोह-अवरोहमयी अनुभूति की छाया मे कुछ निष्कर्षों पर पहुँचने की चेष्टा करती हैं।

जैसाकि डा. छैलबिहारी राकेश ने लिखा है, विचारपूर्ण अनुभूति का अपना सौन्दर्य होता है। जीवन की विषमता का प्रतिरूपण जब हमे साहित्य मे दिखलाई देता है तो वह हमारे मन मे मात्र संवेदना नहीं जगाता, अपितु उस विषमता के मूल में जो समस्या होती है, उस पर भी हम विचार करते हैं।[4] हम कृति मे

१—डा० राजपति दीक्षित, तुलसीदास और उनका युग,

२—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, मानस माधुरी, पृ० २५२

३—द्रष्टव्य-मानस-रोग वर्णन

4 *The fifth class is that of reflectional feelings or of the feelings which set us think about a problem connected with some aspect of life Poetry, drama, novel and short story all present before us varied pictures of the complex Phenomenon of humanity Relishable perception of literature easily acquaints us with the problems with which we meet at every step while trading on the uneven path of life, and very often we begin to reflect upon them*

—Rakesh, *Psychological Studies in Rasa, p 87*

सन्निहित विचार सौष्ठव एवं निष्कर्ष की नवीनता पर मुग्ध होते हैं।

मानस का उत्तरकांड कथा की समाप्ति के उपरांत आवेगशून्य अवश्य प्रतीत होता है किन्तु वह कवि के सन्देश का वाहक है–कवि के दार्शनिक चिंतन, की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। मानस के उत्तरकांड का महत्त्व भाव-संवेदन के कारण नहीं, अपितु जीवन-दर्शन की दृष्टि से है। उसका सौन्दर्य जीवन-सम्बन्धी उदात्त विचारणा मे निहित है, भावावेग मे नहीं।

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण की तुलना मे मानस मे धार्मिक प्रयोजन और नीति कथन की प्रबलता होने पर भी उसमे उक्त तत्त्वों को काव्य के भीतर कौशलपूर्वक समायोजित किया गया है। कतिपय स्थलो पर वे मानस के काव्य-सौन्दर्य मे बाधक सिद्ध हुए हैं, किन्तु अनेक स्थानो पर कवि काव्य और धर्म तथा नीति की अन्विति मे सफल रहा है और वहां नीति और धर्म के समावेश से काव्य-सौन्दर्य मे वृद्धि हुई है जबकि वाल्मीकि रामायण मे नीति-कथन तो काव्य के भीतर समायोजित हो गये हैं, किन्तु अवतार-कल्पना: जो कि सम्भवतः वाल्मीकि की अपनी कल्पना नही है, काव्य-सौन्दर्य मे अन्तर्भुक्त नही हो पाई है और स्पष्टतः एक विजातीय तत्त्व के रूप असंवित बनी रही है, लेकिन अवतार-कल्पना के समावेश के कारण उसमे वाल्मीकि रामायण के काव्य सौन्दर्य की कोई उल्लेखनीय क्षति नहीं हुई है।

शैलीगत उदात्तता

काव्य शैली की उदात्तता का विचार करते हुए लांजाइनस ने मनोवेगों की तीव्र अभिव्यंजना, विचार-वाहक एवं आलंकारिक आकृतियों की सृजन-कुशलता, उपयुक्त शब्दचयन तथा उक्ति-भंगिमा पर निर्भर शालीन अभिव्यक्ति और रचना-संगठन की विशालता एवं उत्कृष्टता की गणना की है।[१] वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो उक्त लक्षणो की दृष्टि से उदात्त शैली से सम्पन्न हैं। वाल्मीकि रामायण सूक्ष्म ब्योरो से युक्त विस्तारो से परिपूर्ण एक दीर्घाकार काव्य है। उसमे व्यक्त कवि कल्पना की विराटता सहृदय की चेतना की ग्रहण क्षमता के लिये दुर्धर्ष है। वाल्मीकि की तुलना मे मानस लघु आकार की रचना है, फिर भी निरपेक्षतः अथवा अन्य काव्यो की तुलना मे में वह एक वृहदाकार काव्य है और उसका भूमिका भाग, मानस रूपक, मिथिला प्रकरण, निर्वासन-प्रसंग, राम-रावण युद्ध तथा ज्ञानदीप-रूपक मे कवि की दुर्घष कल्पनाशक्ति की अभिव्यक्त हुई है। दोनों काव्यों में शब्दों का

---

[१] द्रष्टव्य—*T. A. Moxon, Aristotle's Poetics and Rehtorics, Also Donotius on Style, Longinus on the Sublime and other Essays, p 280.*

अत्यन्त उपयुक्त प्रयोग हुआ है,[1] लक्षित तथा उपलक्षित बिम्बो के रूप मे दोनों उक्ति-भगिमा और विचारवाहक आलकारिक आकृतियों का प्रभावशाली उपयोग हुआ है[2] कथा विधान, चरित्र-चित्रण, वर्णनो और सम्प्रेषण-कौशल के रूप मे दोनो कवियों की सृजन-कुशलता व्यक्त हुई है।[3] मनोवेगो की तीव्र अभिव्यजना से दोनो की रस-योजना सम्पन्न है। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण और मानस दोनों मे शैलीगत उदात्तता का प्राचुर्य है।

निष्कर्ष

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के सम्प्रेषण एव सम्मूर्तन-पक्ष मे स्थूलत. वर्णध्वनि, पद-योजना, वाक्य-विन्यास, अर्थोन्मीलन, लक्षित बिम्ब-विधान, अप्रस्तुत-योजना, लाक्षणिक मूर्तता, प्रबन्ध-कल्पना आदि सभी स्तरों पर प्रभूत सादृश्य दिखलाई देता है, फिर भी सूक्ष्मत: सभी स्तरो पर प्रवृत्तिगत एव मात्रागत अन्तर विद्यमान है।

दोनों मे जो अन्तर दिखलाई देता है उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण तो भाषागत भिन्नता मे निहित है। वाल्मीकि रामायण का शिल्प सस्कृत भाषा की अपनी संयोगात्मक प्रकृति से अनुशासित हुआ है। वाल्मीकि रामायण मे वर्णध्वनियों की आवृत्ति बहुत कुछ संस्कृत व्याकरण पर निर्भर रही है और पद-सघटन तथा वाक्य-विन्यास का स्वच्छ निर्मल प्रवाह सस्कृत की सामासिक और सधिबहुला प्रकृति से मर्यादित रहा है। मानसकार के समक्ष इस प्रकार की कोई अवरोधक शक्ति नहीं रही है, इसलिये उसका भाषा-सगठन अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे कमनीय और प्रसादगुण-सम्पन्न रहा है। भाषा की भिन्न प्रकृति के कारण मानस मे अनुप्रास की मात्रा भी अधिक है और उसका विन्यास भी अधिक मोहक है। मानसकार के शब्द-चयन और शब्दक्रम मे असाधारण सयोजन नैपुण्य के दर्शन होते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप मानस की पंक्तियां विपुल मात्रा मे नाद तत्त्व से सम्पन्न दिखलाई देती हैं।

अर्थोन्मीलन की दृष्टि से वाल्मीकि और तुलसीदास दोनो का शब्दार्थपरिज्ञान अप्रतिम है। अर्थ-शैथिल्य अथवा अपभ्रंश के लिये दोनो के ही काव्यों में अवकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत दोनों कवियो ने कहीं कहीं वाल्मीकि न कुछ कम, तुलसी ने कुछ अधिक— असाधारण शब्दाधिकार प्रदर्शित किया है।

---

[1] द्रष्टव्य—प्रस्तुत अध्याय में अर्थाभिव्यक्ति विषयक प्रकरण

[2] द्रष्टव्य—प्रस्तुत अध्याय में सम्मूर्तन विषयक प्रकरण।

[3] द्रष्टव्य—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में कथा विन्यास, चरित्र विधान तथा प्रस्तुत अध्याय।

दोनो काव्यों में परिकर और परिकरांकुर अलंकारो का साधिकार प्रयोग इसका साक्षी है।

दोनों काव्यो के बिम्ब-विधान मे किंचित् साम्य के बावजूद जो व्यापक अन्तर दिखलाई देता है, उसके मूल मे दोनो कवियो का प्रवृत्तिगत भेद है। वाल्मीकि की प्रवृत्ति काव्य-फलक को पूरे विस्तार मे ग्रहण करने की ओर है जबकि तुलसीदास की प्रवृत्ति चयन-कौशलपरक रही है। तुलसीदास प्राय काव्य-फलक के विस्तार को अधिक महत्ता प्रदान नही करते, वे उसके चामत्कारिक-प्रभावगर्भित-अंशो को अधिक महत्त्व देते हैं। बालकाड मे धनुष-यज्ञ-प्रकरण और अयोध्याकाड मे राम-निर्वासन तथा भरत की ग्लानि-विषयक प्रसगो के विस्तार के मूल मे सम्भवत. यही कारण रहा है। अरण्यकाड और किष्किधाकाड की द्रुति का कारण भी कदाचित् यही रहा है। कथा की यथातथ्यात्मकता की ओर वाल्मीकि के समान तुलसीदास की रुचि नही रही है, इसलिये मानसकार ने जहां विस्तारों को रूपायित किया है वहां भी वह वाल्मीकि की समता नही कर पाया है। वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के प्रबन्धाकार मे जो उल्लेखनीय अतर दिखलाई देता है उसके भीतर काव्य-प्रवृत्तिगत अंतर सन्निहित है। तुलसीदास ने विस्तारो से बचते हुए भी अपने काव्य की प्रभविष्णुता पर प्राय आंच नहीं आने दी है। कलात्मक सयोजन के बल पर प्रसंग-सक्षेपण द्वारा उसने प्रभाव को घनीभूत किया है और जिस प्रभाव को वाल्मीकि ने पात्रो की लम्बी वक्तृता के माध्यम से प्रकाशित किया है, उसे तुलसीदास ने कुछ उक्तियों, कुछ अग-चेष्टाओं (अनुभाव सात्विक भाव) और कुछ कवि कथनों से व्यंजित कर दिया है। तुलसीदास की अभिव्यक्ति भाषा की लाक्षणिकता से निरन्तर सम्पन्न रही है और लाक्षणिक प्रयोगों से मानस की भाषा ही सौन्दर्य-सम्पन्न नही हुई है, अपितु उससे काव्य की सम्मूर्तन-शक्ति को भी बल मिला है। वाल्मीकि के काव्य में लाक्षणिक प्रयोगो का अभाव तो नहीं है, किन्तु उनका वैभव मानस की समकक्षता का अधिकारी नहीं है।

वाल्मीकि मे प्राय प्रस्तुत का उत्कर्ष अधिक प्रभावित करता है—प्रकृति-वर्णन रूप वर्णन, स्थान वर्णन, गति चित्रण आदि मे व्यक्त वाल्मीकि की सूक्ष्म दृष्टि और उनके चित्राकन मे अन्तर्हित वर्णन-सामर्थ्य का प्रकाशन वाल्मीकि के काव्य की प्रभाव-शक्ति के प्रमुख स्रोत हैं। इसके विपरीत मानसकार के पास न तो वैसी सूक्ष्म दृष्टि रही है न वैसी वर्णन-प्रतिभा ही। मानस का सम्मूर्तन-सौन्दर्य वर्णनो पर निर्भर न होकर लक्षित रूप मे भाव-व्यजक चेष्टाओं के चित्रण में दिखलाई देता है और उपलक्षित बिम्बों के अतर्गत अप्रस्तुतों की नूतनता मे व्यक्त न होकर अप्रस्तुतों के सम्बन्ध-विधान मे निहित है। मानस में प्रयुक्त परम्परापिष्ट अप्रस्तुतों

मे भी सम्बन्धगत नूतनता के परिणामस्वरूप ताजगी दिखलाई देती है। इस सबन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि मानस का अप्रस्तुत विधान भावाभिव्यञ्जना के अवसरो पर जैसा निखरा है, वर्णनो के अवसर पर वैसा नही निखर पाया है। वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति और मानव-जीवन से गृहीत अप्रस्तुतो की योजना अत्यत भव्य रूप में हुई है जबकि पौराणिक अप्रस्तुतो की योजना अधिक प्रभावशाली नही है, किन्तु मानस मे प्रकृति या मानव-जीवन से गृहीत अप्रस्तुत-विधान का उत्कर्ष केवल भावपूर्ण स्थलो पर निखर सका है। पौराणिक अप्रस्तुतों के प्रयोग मे मानसकार वाल्मीकि की तुलना मे कही अधिक सफल रहा है। उसने प्राय: वैशिष्ट्यसम्पन्न पौराणिक अप्रस्तुत ग्रहण किये हैं। मानस मे कई स्थानों पर लम्बे-लम्बे रूपको—विशेषकर प्रारम्भ मे मानस-रूपक और अन्त मे ज्ञानदीप-रूपक—का विधान भी है, किन्तु ये रूपक सहृदय की ग्राहिका कल्पना-शक्ति का अतिक्रमण कर गये हैं और इसलिये सहृदय को अपनी विशालता से तो प्रभावित करते हैं, किन्तु समग्र बिम्ब के रूप मे बोधगम्य प्रतीत नही होते। इनकी तुलना मे मध्यम आकार के रूपक मानस मे अधिक सफल रहे हैं।

मानस के कवि की प्रवृत्ति प्राय जटिल बिम्बो की ओर नही रही है, अधिकाशत: मिश्र बिम्बो की सृष्टि ही मानस मे दिखलाई देती है—यहाँ तक कि मानस-रूपक और ज्ञानदीपक-रूपक मे भी रूपक के विभिन्न अगो का पर्यवसान अगी मे नहीं ही पाया है। इसके विपरीत वाल्मीकि जटिल बिम्बो की सृष्टि मे सफल रहे हैं। वाल्मीकि की विशद कल्पना-शक्ति, सस्कृत की सयोगात्मक प्रवृत्ति और अनुष्टुप छन्द की सापेक्षिक दीर्घता ने जटिल बिम्बो की सृष्टि मे योग दिया है। हिन्दी (अवधी) की वियोगात्मक प्रकृति के साथ चौपाई-छन्द की सापेक्षिक लघुता और उसके अतर्गत प्राय: प्रत्येक चरण की स्वायत्तता के कारण मानस का कवि जटिल बिम्ब-विधान की सुविधा से वचित रहा है।

दोनो कवियों का प्रबन्ध-कौशल भिन्न-भिन्न रूपो मे व्यक्त हुआ है। वाल्मीकि रामायण मे कथा के सन्तुलित संयोजन, विशद विस्तारो, सधी हुई गति, स्थानीय रंगों की प्रगाढता तथा मानवीय स्वाभाविकता के निर्वाह मे कवि की प्रबन्धपटुता व्यक्त हुई है जब कि मानसकार का प्रबन्ध-कौशल मुख्य रूप से कथान्विति, सार्थक कथाशो के प्रभावशाली उपयोग और सवाद-सौष्ठव मे प्रकट हुआ है। मार्मिक स्थलो की पहिचान दोनों कवियों को रही है और दोनो ने ही कुछ मार्मिक प्रसगो की उपेक्षा भी की है, किन्तु मानसकार का दृष्टिकोण एकागी होने से प्रतिपक्ष को उसकी सहानुभूति नही मिल पाई है, फलत: प्रतिपक्ष से सम्बन्धित अनेक हृदयद्रावक प्रसगों के उपयोग से उसका काव्य वचित रहा है। दोनों प्रबन्धों मे धार्मिक विश्वासों और नीति-कथनो का समावेश है, किन्तु रामायण मे उनको

मात्रा उतनी अधिक नहीं है जितनी मानस मे। रामायण मे नीति-कथन तो प्रबन्ध-योजना मे अंतर्भुक्त हो गये हैं, किन्तु अवतारवाद प्रबन्ध-गति से अलग-थलग पडा रहा है। मानस मे एक सीमा तक धार्मिक विश्वासों और नैतिक कथनो का का अन्तर्भाव कथानक की सहजता मे हो गया है, किन्तु कहीं-कही वे प्रबन्ध कल्पना मे अंतर्ग्रथित नही हो पाये हैं और उन स्थलो पर उनके कारण मानस के काव्य-सौन्दर्य की क्षति हुई है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का काव्य-शिल्प दोनों कवियों की अपनी-अपनी प्रवृत्ति, क्षमता और शैलीगत उदात्तता-उत्कृष्ट काव्य-शिल्प-से सम्पन्न है। दोनो के काव्य को भारतीय वाङ्मय मे जो शीर्षस्थानीय गौरव प्राप्त हुआ है, उसके मूल मे वाल्मीकि और तुलसीदास की तलस्पर्शी जीवन-दृष्टि के साथ उनकी उत्कृष्ट काव्य-शिल्प-प्रवणता भी है जिसके अभाव में कोई कवि महान् नहीं हो सकता।

७

उपसंहार

वाल्मीकि रामायण और मानस के मध्य रामकाव्य का विपुल विस्तार हुआ[1] और मानसकार ने अपने काव्य मे उसका यथावश्यकता उपयोग भी किया है, किन्तु मानस पर प्रवृत्तिगत प्रभाव वाल्मीकि रामायण का ही सर्वाधिक दिखलाई देता है। मानस के कवि ने अपने काव्य मे संस्कृत के राम-विषयक नाटको की नाटकीयता और अध्यात्म रामायण जैसी धार्मिक कृतियो के अलौकिक स्वर को भी ग्रहण किया है[2] किन्तु समग्रतः उसने रामायण की महाकाव्यात्मक कथा-विवृत्ति का ही अनुसरण किया है। रामायण की तुलना मे मानस का कथा-पट संक्षिप्त होते हुए भी मानसकार ने कथा-विस्तारो, चरित्र-सृष्टि, रस-योजना, वर्णन-समावेश और सम्प्रेषण-विधियों मे वाल्मीकि का आदर्श अपने समक्ष रखा है, फिर भी एक सच्चे कलाकार के समान तुलसीदास का काव्य किसी कवि अथवा परम्परा का अनुसरण-मात्र नहीं है।

मानस अपने स्रष्टा के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता का उद्घोष स्वय करता है। तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर रामायण से प्रभाव ग्रहण न कर अन्य काव्यो से प्रेरणा प्राप्त की है अथवा उनका आदर्श अपने समक्ष रखा है। मिथिला-प्रकरण मे मानस वाल्मीकि रामायण से बिलकुल प्रभावित नही है—वहाँ तुलसीदास संस्कृत के राम विषयक नाटकों प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक के आभारी हैं, भक्ति-भावना और भक्ति-निरूपण मे अध्यात्मरामायण और भागवत के आभारी है[3] तथा प्रकृति-वर्णन मे उनके समक्ष भागवत का आदर्श रहा है[4] इतना ही नहीं मानस के कतिपय प्रसगों मे वाल्मीकि रामायण के प्रति स्पष्ट प्रतिक्रिया लक्षित होती है। राम के निर्वासन-प्रसग मे मानसकार वाल्मीकि-निर्मित दशरथ-परिवार के चित्र को धोने मे प्रयत्नशील दिखलाई देता है।[5]

१—द्रष्टव्य—डा० कामिल बुल्के का शोध-प्रबन्ध 'रामकथा: उद्भव और विकास'।

२—द्रष्टव्य—डा० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका।

३—द्रष्टव्य—डा० सरनामसिंह शर्मा, हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव।

४—द्रष्टव्य—भागवत, दशम स्कंध, अध्याय २०,

५—द्रष्टव्य—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में 'कथा-विन्यास'-विषयक अध्याय।

दो स्वतन्त्र सौन्दर्य-सृष्टियाँ

मानसकार अपने काव्य की आधारभूमि—कथा-संयोजन के प्रति बहुत जागरूक रहा है और इस जागरूकता के परिणामस्वरूप वाल्मीकि रामायण की तुलना मे उसके काव्य का सौन्दर्य बहुत भिन्न दिखलाई देता है। तुलसीदास ने वाल्मीकि के काव्य को निरन्तर दृष्टि मे रखते हुए भी मानस मे एक स्वतन्त्र कल्पना-सृष्टि खडी की है। उनकी कल्पना-सृष्टि की स्वतन्त्रता बहुत कुछ उनके नूतन संयोजन पर निर्भर रही है। यह नूतन संयोजन कई रूपो मे दिखलाई देता है—(१)परिवेशचित्रण के माध्यम से मानसकार ने कथा की मानसिक पृष्ठभूमि बदलकर विभिन्न पात्रो का व्यवहार ही नये साँचे मे ढाल दिया है-उदाहरण के लिए मानस मे राजा दशरथ का सौहार्दपूर्ण परिवार वाल्मीकि के कलहपूर्ण दशरथ-परिवार के सर्वथा विपरीत है; अतएव राजा दशरथ की नीयत, मंथरा का प्रयोजन, लक्ष्मण की उत्तेजना, कौसल्या की उग्रता और राम की विवशता-सभी कुछ मानस मे वाल्मीकि से भिन्न है, (२) अभिव्यक्ति-संकोच और भाव-सघनता की रक्षा के लिये मानसकार ने प्राय: कथा-प्रसगो को आवश्यकतानुसार विस्तार प्रदान करते हुए भी वाल्मीकि के समान सूक्ष्म और यथातथ्यात्मक ब्योरे नही दिये हैं, प्रत्युत चयन-कौशल व्यक्त किया है-उसने अधिक सार्थक और व्यञ्जना-गर्भित उक्तियो मे अपने कथ्य को समेटा है और केवल सम्बद्ध ब्योरे दिये है जिससे मानस मे विस्तार और क्षिप्रतापूर्ण लाघव का सतुलन प्राय: बना रहा है और उसकी प्रभाव शक्ति मे सघनता उत्पन्न हो गई है, किन्तु कही-कही (उदाहरणार्थ तारा द्वारा लक्ष्मण को समझाए जाने और लंका मे हनुमान द्वारा सीता की खोज,अशोकवाटिका-विध्वंस आदि मे)कथा की त्वरित गति से उसकी मानसिक पीठिका उपेक्षित रह गई है। इस प्रकार क्षिप्रतापूर्ण लाघव ने मानस के काव्य-सौन्दर्य को प्राय: उत्कर्ष प्रदान करते हुए कही-कही उसे आघात भी पहुँचाया है। परिणाम जो भी हुआ हो, वाल्मीकि की तुलना मे तुलसीदास के कथा-सयोजन पर क्षिप्रता और लाघव का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनो के सौन्दर्य-विधानगत अंतर के मूल मे ऐसे कारण भी रहे हैं जिनका सीधा सम्बन्ध सौन्दर्य सृष्टि से नही है फिर भी जिनके कारण मानस का सौन्दर्य-विधान वाल्मीकि की तुलना मे बहुत भिन्न दिखलाई देता है। इस प्रकार के कारणों मे से एक का सम्बन्ध तुलसीदास की नैतिक दृष्टि से रहा है और दूसरे का सम्बन्ध उनकी धार्मिक भावना से। वाल्मीकि रामायण की यथार्थ दृष्टि की तुलना मे मानस मे आदर्शवाद का जो प्रबल स्वर ध्वनित हो रहा है उसके मूल मे कवि की यह नैतिक दृष्टि रही है। इस नैतिक दृष्टि के परिणामस्वरूप वाल्मीकि के भीरु तथा सत्य से पराङ्मुख राजा दशरथ की तुलना मे मानस के राजा दशरथ अत्यंत प्रतापी

तथा सत्यव्रती, वाल्मीकि की स्वकेन्द्रित कौसल्या मानस में अत्यंत धैर्यवती एवं नारिधर्म का पालन करने वाली, लोकभीरु और धार्मिक विवशता की चेतना से सम्पन्न वाल्मीकि के राम मानस मे अत्यन्त सिद्धान्तवादी वाल्मीकि के हठी भरत मानस मे अत्यन्त समर्पणशील और वाल्मीकि की उग्र सीता मानस मे प्रणयकातर रूप में दिखलाई देती हैं। इस प्रकार वाल्मीकि की कथा और चरित्रों मे जहां यथार्थ दृष्टि से अपूर्व जीवन्तता आ गई है वहां मानस की कथा तथा चरित्रों मे आदर्शवादजन्य शील के विश्वसनीय समावेश से अपूर्व गरिमा उत्पन्न हो गई है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के सौंदर्य विधान मे धर्म तत्त्व के समावेश से भी भिन्नता दिखलाई देती है। वाल्मीकि रामायण मे आध्यात्मिकता काव्य सौंदर्य मे विलीन नहीं हो पाई है। फलतः अवतारवाद एक विजातीय तत्त्व के रूप में काव्य की समग्रता से अलग थलग पड़ा रहा है और इससे उसके प्रक्षिप्त होने की सम्भावना पुष्ट होती है, दूसरी ओर मानस मे भक्ति भावना, जो अवतारवाद पर प्रतिष्ठित है, अधिकांशतः काव्य की समग्रता मे अन्तर्लीन हो गई है—कुछ प्रसंगों में (जैसे रावण, कुम्भकर्ण मन्दोदरी आदि की भक्ति-भावना) भक्ति भावना अवश्य ही आरोपित प्रतीत होती है। भक्ति-भावना के आग्रह से मानसकार की दृष्टि एकांगी हो गई है और वह प्रतिपक्ष के प्रति सहानुभूति नहीं रख सका है। इसीलिए मानसकार की सृष्टि मे वैसी पूर्वाग्रहरहित दृष्टि का उन्मेष दृष्टिगोचर नहीं होता जैसा वाल्मीकि रामायण में दिखलाई देता है।

मानस मे भक्ति भावना की प्रबलता का एक परिणाम यह हुआ है कि उसमे नवरसों मे से किसी की प्रधानता न होकर एक अन्य रस भक्ति रस की प्रधानता हो गई है। मानस मे भक्ति रस अंगीरस है जिसके अन्तर्गत विभिन्न रस अंगरूप मे व्यक्त हुए हैं। मानस मे भक्तिरस की व्यञ्जना भक्ति-सम्बन्धों की विभिन्नता के अनुसार वैविध्यपूर्ण दिखलाई देती है। इसके विपरीत वाल्मीकि रामायण मे कथा का निश्चित प्रयोजन न होने से किसी रस को अंगीरस का स्थान नहीं मिला है, किंतु अंगी न होने पर भी वीर रस रामायण का प्रधान रस है। अन्य रसों में दोनों कवियों की रस-योजना-विषयक स्वतन्त्र दृष्टि के साथ उनका रसांगसंयोजन विषयक सूक्ष्म ज्ञान स्पष्ट परिलक्षित होता है।

काव्य शिल्प की भिन्नता

दोनों कवियों के काव्य शिल्प मे भी प्रभूत अन्तर परिलक्षित होता है। वाल्मीकि की कला मे विस्तार तो बहुत है, किन्तु अन्विति की दृष्टि से मानस की कला कुछ अधिक निखरी हुई है। वाल्मीकि ने जहां अन्तर्कथाओं को भी पूरे विस्तार में ग्रहण किया है वहां मानसकार ने केवल प्रासंगिक कथाओं को ही उचित

विस्तार प्रदान किया है और अवांतर कथाओं की ओर प्रायः संकेत करके ही संतोष कर लिया है। वाल्मीकि की कथा जीवन की निरुद्देश्यता की अनुगामिनी है जब कि मानस की कथा एक निश्चित उद्देश्य की दिशा मे निश्चित प्रयोजन से अग्रसर हुई है।

दोनो कवियो की कला की यह भिन्नता उनकी सम्मूर्तन-प्रवृत्ति मे भी अंतर्निहित है। वाल्मीकि ने वर्ण्य को उसके वस्तुगत रूप मे विस्तारपूर्वक सम्मूर्तित किया है। उनके वर्णनो मे सर्वांगीणता और सूक्ष्मता के दर्शन होते हैं जबकि तुलसीदास ने वर्णनो मे विशेष रुचि नहीं ली है। उनका प्रकृति-वर्णन प्रायः मानव-जीवन की सापेक्षिकता मे मूर्तित हुआ है और अन्य वर्णन सामान्यता से ऊपर नहीं उठ सके हैं। उनकी अप्रस्तुत-योजना का चमत्कार भी वर्णनों मे उद्भासित नहीं हो सका है जबकि वाल्मीकि के वर्णनों मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्मिलन से अत्यन्त प्रभावशाली बिम्बो की सृष्टि हुई है।

इसके विपरीत भाव-व्यंजना और वैचारिक व्याख्या के अवसरो पर मानसकार की बिम्ब-योजना अपूर्व रूप से सफल रही है। मानस की बिम्ब-योजना में भाव-व्यंजना की असाधारण शक्ति है। तुलसीदास की बिम्ब-सृष्टि अधिकांशतः उत्प्रेक्षा-पुष्ट मध्याकारीय रूपकों मे बहुत निखरी है। यद्यपि मानस की ख्याति अपने बृहदाकार रूपकों (मानस रूपक और ज्ञानदीप रूपक) के नाते भी बहुत है, किन्तु ऐसे रूपकों मे भी जटिल बिम्बों की सृष्टि नहीं हो पाई है। इनमें रूपक की समग्रता के स्थान पर रूपकांगों का सम्बन्ध बोध ही प्राधान्य पा गया है और इस कारण इनका स्वरूप बहुत कुछ मिश्र बिम्बों का रहा है। मानस मे अप्रस्तुत-विधान का सौन्दर्य अप्रस्तुतों की नवीनता पर नहीं, बल्कि उनकी सम्बन्ध-योजना पर निर्भर रहा है, जबकि वाल्मीकि रामायण मे वर्णनो के अंतर्गत प्रस्तुत और अप्रस्तुत के संग्रथन से बिम्बों की संश्लिष्ट समग्रता हमे प्रभावित करती है।

काव्य के नाद-तत्त्व को दोनों कवियो ने समुचित मान दिया है। आनुप्रासिक प्रवृत्ति दोनो काव्यों मे दिखलाई देती है। वाल्मीकि की सानुप्रासिकता प्रायः विभक्तियों और क्रिया रूपों अथवा कृदन्तों की आवृत्ति पर निर्भर रही है जबकि मानस के अनुप्रास-सौन्दर्य का आधार निश्चित क्रम मे अक्षरो की आवृत्ति से सम्पन्न शब्दो का चयन रहा है। नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से वाल्मीकि की तुलना मे मानस की उत्कृष्टता असंदिग्ध है। संभवतः इसलिये तुलसीदास ने अपनी सैद्धांतिक उक्तियों में वर्णों की चर्चा बहुत की है।[1]

---

[1] १—(क) वर्णानामर्थसंघानां-मानस, बालकांड, मंगलाचरण
(ख) आखर अरथ अलंकृति नाना-वही, १।१८।५
(ग) कबिहि अरथ आखर बल साँचा, वही, २।२४०।२

पदावली की कोमलता और स्वच्छता के प्रति दोनो कवि अवधानवान रहे हैं, किन्तु संस्कृत में अनुनासिकों और संयुक्ताक्षरों के अपरिहार्य प्रयोग तथा संधि-समास की सहज प्रवृत्ति के कारण रामायण मे वैसे मार्दव का निर्वाह नही हो सका है जैसाकि मानस की वियोगात्मक भाषा के कोमल शब्द-चयन मे अन्तर्निहित है। ओज गुण की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण अधिक सम्पन्न प्रतीत होती है। लाक्षणिक मूर्तता का समावेश दोनो काव्यो मे है, किन्तु इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण मानस की समता की अधिकारिणी नही है।

रामायण और मानस के अध्येताओं ने उनमे भाषागत भिन्नता के बावजूद दोनों के प्रमुख छन्दों में कुछ समानताएँ भी खोजी है जिनमे आकार की लघुता और प्रवाहशीलता उल्लेखनीय हैं[1]। वस्तुस्थिति यह है कि दोनो के छन्दो मे समानता की अपेक्षा भिन्नता अधिक रही है। मानस में चौपाई का प्रत्येक चरण प्राय: अपने आप मे पूर्ण वाक्य होता है, अतएव कवि को अपनी वाक्य-रचना की संक्षिप्तता के अनुसार भाव या कथ्य को छोटे-छोटे शब्द समूहों से व्यक्त करने के लिये बाध्य होना पड़ा है जिससे उसकी वाक्य-रचना तो सरल रही है, किन्तु उसकी बिम्ब-योजना मे विभिन्न बिम्बांगो की स्वायत्तता उभर गई है और बिम्बांग समग्र बिम्ब मे अन्तर्लीन नही हो पाये हैं। इसलिये मानस की बिम्ब-योजना प्राय: मिश्र बिम्बो से आगे नहीं जा सकी है। दूसरी ओर वाल्मीकि को अनुष्टुप के चारों चरणो मे वाक्य-विस्तार की सुविधा प्राप्त हुई है जिसके कारण उनकी बिम्ब-योजना मे कहीं अधिक संश्लिष्टता परिलक्षित होती है।

फिर भी, वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के सौन्दर्य-विधान के अन्तर के लिये दोनो कवियो की भाषागत भिन्नता अथवा उनका छन्द-चयन बहुत थोड़े अंशो मे उत्तरदायी है। दोनों काव्यो के सौन्दर्य-विधान के अन्तर का मूल कारण रचना-प्रक्रिया विषयक भिन्नता मे निहित है।

सौन्दर्य-बोध एवं रचना-प्रक्रिया-विषयक अन्तर

वाल्मीकि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे न तो कोई बहिस्साक्ष्य उपलब्ध है और न उनकी कोई प्रामाणिक जीवनी ही, फिर भी रामायण के आरम्भ मे क्रौंच-वध-विषयक जो कथा दी गई है, उससे रामायण की रचना-प्रक्रिया और कवि-व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकाश बिन्दु उपलब्ध होता है जिसकी पुष्टि उनके काव्य से होती है। क्रौञ्च वध विषयक कथा तथ्यपूर्ण न होकर कल्पित हो तो भी रामायण की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे, उसमे जो सत्य उद्घाटित होता है वह यह है कि उसकी रचना एक सम्प्रतीति (Vision) का परिणाम है।

---

[1] —डा० रामप्रकाश अग्रवाल, वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन, पृ०४३९।

क्रौंचवध से क्षुब्ध होकर निषाद को शाप देने के उपरान्त वाल्मीकि की ध्यानावस्थिति और ब्रह्मा के आदेश पर राम-कथा का योगावस्था में साक्षात्कार यह संकेत करता है कि वाल्मीकि ने रामायण की रचना ध्यानावस्था में की थी। रामायण के अनेक श्लोकों में ध्यानावस्था की चरम स्थिति संकेतित है।[1] इसके साथ ही वहाँ इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सर्जना के क्षणों में वाल्मीकि ने ध्यानस्थ होकर रामकथा का हस्तामलकवत् दर्शन किया था— उन्हें रामकथा की सम्प्रतीति हुई थी अथवा रामकथा उनकी सहजानुभूति में उद्बुद्ध हुई थी—

रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च ।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत् प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥
हसितं भाषितं चैव गतिर्यावच्च चेष्टितम् ।
तत् सर्वं धर्मवीर्येण यथावत् सम्प्रपश्यति ॥
स्त्रीतृतीयेन च तथा यत् प्राप्तं चरता वने ।
सत्यसन्धेन रामेण तत् सर्वं चान्ववीक्षत ॥
तत पश्यति धर्मात्मा तत् सर्वं योगमास्थितः ।
पुरा यत् तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा ॥
तत सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महामतिः ।
अभिरामस्य, रामस्य तत् सर्वं कर्तुमुद्यतः ॥[1]

रचना-प्रक्रिया-विषयक उक्त उल्लेख की सत्यता (तथ्यता नहीं) स्वयं काव्य से प्रमाणित होती है। वाल्मीकि के काव्य में कवि-दृष्टि की व्यापकता, सूक्ष्मता और यथातथ्यात्मकता सर्वत्र विद्यमान है। कथा प्रसार, प्रसंग-विस्तार, ब्यौरों की परिपूर्णता, चरित्रों की मनोवैज्ञानिक जटिलता और सूक्ष्मता,[2] वर्णनों की विशिष्टतापूर्ण सजीवता, बिम्बविधान की मूर्तता आदि में अन्तर्निहित कवि-दृष्टि की सम्प्रतीत्यात्मकता स्वतः व्यक्त हुई है। सम्प्रतीत्यात्मक या सहजानुभूतिपरक व्यक्तित्व की विशेषता ही यह होती है कि वह द्रष्टा और भविष्यद्वक्ता[3] होता है और रामायण में उस की रचना प्रक्रिया का उल्लेख इसी रूप में हुआ है।

मानस में भी यद्यपि सम्प्रतीति की ओर कवि ने संकेत किया है—

---

[1] द्रष्टव्य—वाल्मीकि रामायण, १।३।३-७

[2] द्रष्टव्य—डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा, रामकाव्य की भूमिका, आदिकाव्य का मनोवैज्ञानिक धरातल।

[3] *Belonging to intuitive type are prophets and seers.*

—W. E Sargent *Psychology*, *p. 106*

श्रीगुर पद नख मनि गन ज्योती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती ॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू । बड भाग उर आवइ जासू ॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के । मिटहिं दोष दुख भव रजनी के ॥[1]
सूझहिं राम चरित मनि मानिक । गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक

फिर भी कवि ने अपने काव्य में भक्ति की प्रेरणा के समावेश का स्पष्ट उल्लेख किया है—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई । सुमिरत सारद आवत धाई ॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ । सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ ॥
कवि कोविद अस हृदयँ विचारी । गावहिं हरि जस कलिमल हारी ॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥
हृदय सिंधु मति सीप समाना । स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू । हो कवित मुकुतामनि चारू ॥[2]

इसके साथ ही कवि ने अपनी रचना-प्रक्रिया की चेतनता का उल्लेख भी स्पष्ट शब्दों में किया है। उसने कवित्व रूपी मुक्ता-मणियों को युक्तिपूर्वक रामचरित में पोने की बात कही है—

जुगति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग ।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग[3] ॥

और वह अपने काव्य के लोक-कल्याणकारी पक्ष के प्रति भी आरम्भ से ही जागरूक रहा है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥
राम सुकीरति भनिति भदेसा । असमंजस अस मोहि अँदेसा ॥[4]

कवि न होने की बात कहते हुए भी मानसकार ने मानस-रूपक में विभिन्न काव्यांगों के संयोजन की चैतन्य अभिव्यक्ति की है। पूर्ववर्ती काव्य से प्रभाव ग्रहण करने की बात कहने के साथ उससे अपनी रचना की भिन्नता की घोषणा करके भी उसने अपनी जागरूकता का परिचय दिया है।[5]

१—मानस, १।०।३ ४
२—मानस, १।१०।२ ५
३—वही, १।११।१०
४—वही, १।१३।४-५
५—द्रष्टव्य—प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रथम अध्याय

उपर्युक्त विवेचन से मानस की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे दो बातें अत्यंत स्पष्ट हो जाती हैं—(१) मानस की रचना भक्ति भावना से अनुप्रेरित रही है और (२) मानस चैतन्य मन की सृष्टि है।

भक्ति-भावना की अनुप्रेरणा कवि के आवेग-प्रेरित व्यक्तित्व की ओर सकेत करती है। इस प्रकार का व्यक्ति वस्तुगत दृष्टि को महत्व नही देता, प्रत्युत् वह वस्तुओं को अपनी भावना के सम्बन्ध से देखता है। किसी सिद्धान्त के प्रति उसकी अनुरक्ति भी उसकी तर्कसम्मति के कारण न होकर 'स्वान्त. सुखाय' के रूप मे होती है।[1] मानस की एकाग्रिता और भक्ति के प्रति उसकी आस्था—जो तर्क पर प्रतिष्ठित न होकर आग्रह पर आधृत है[2] मूलत. कवि के सावेगिक व्यक्तित्व की उपज है। इसी प्रकार मानस मे भावात्मक स्थलों पर जो अपूर्व उत्कर्ष दिखलाई देता है उसका मूल भी कवि की की सावेगिक प्रकृति मे है। यही कारण है कि मानस मे वर्णनात्मक स्थलो पर वैसा सौन्दर्य दिखलाई नही देता जैसा भावुकतापूर्ण स्थलो पर दिखलाई देता है।

इसी प्रकार मानस में रचना-प्रक्रिया की जागरूकता का प्रभाव भी स्पष्ट दिखलाई देता है। युंग ने जागरूक रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध मे लिखा है कि गद्य और पद्य दोनो मे ऐसी रचनाएं भी होती हैं जो पूर्णतया लेखक के मंतव्य को लेकर कुछ न-कुछ प्रभाव डालने की दिशा मे अग्रसर होती हैं। ऐसी अवस्था मे किसी प्रभाव पर विशेष बल देता हुआ साहित्यकार उसमे कुछ जोडता और उसमें से कुछ घटाता हुआ, यहाँ एक रग और वहाँ दूसरा भरता हुआ, उसके सभावित प्रभावों को बडी सावधानी से तोलता हुआ और सुन्दर रूप तथा शैली के नियमो का सतत ध्यान रखते हुए अव्यवहित और सोद्देश्य योजना के अनुसार सामग्री का प्रयोग करता है।[3] मानस मे राम के नरत्व में ब्रह्मत्व के प्रतिपादन के उद्देश्य को निरंतर अपने समक्ष रखकर कवि ने सावधानीपूर्वक 'भगति निरूपन' किया है और व्यापक रूप से सशोधन करते हुए उसने पूर्ववर्ती सामग्री ग्रहण की है। उक्त दोनो बातो से

१—*He is less able to estimate the objective value of things, because he is more concerned with his feeling reactions to them and more occupied with projecting his feeling to them than with seeing them in a detached way. His interest in a theory is not whether it is logical and reasonable, but whether it gives satisfaction or dissatisfaction, whether it offers pleasure or displeasure.*—W.E. Sargent, *Pychology. P. 105.*

२—द्रष्टव्य—डा० श्रीकृष्णलाल, मानस दर्शन, पृ० १५

३ C. G Jung, *Contributions to Analytic Psychology, 235-36*

उसकी सोद्देश्य रचना-प्रवृत्ति और अभीष्ट प्रभाव के प्रति सचेतनता व्यक्त होती है।

इस प्रकार मानस की रचना-प्रक्रिया वाल्मीकि रामायण से सर्वथा भिन्न रही है और रचना प्रक्रिया की इस भिन्नता ने दोनो काव्यो के सौन्दर्य विधान को दूर तक प्रभावित किया है।

निष्कर्ष

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के सौन्दर्य-विधान के विभिन्न पक्षो और रचना-प्रक्रिया की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनो काव्यो का सौन्दर्य स्थूल विपर्यय के स्थान पर सूक्ष्म अंकन पर अधिक निर्भर रहा है। दोनो काव्यो की विषयगत एकता के बावजूद कवि-दृष्टि की भिन्नता से दोनो के सौन्दर्य-विधान मे व्यापक अन्तर दिखलाई देता है। मानसकार ने यद्यपि प्राचीनो का आभार स्वीकार किया है और वाल्मीकि के प्रति वह विशेष रूप से श्रद्धावनत रहा है, फिर भी उसके काव्य की सौन्दर्य सृष्टि वाल्मीकि के काव्य से बहुत भिन्न रही है—वाल्मीकि रामायण की तुलना मे मानस स्पष्टतः एक स्वतन्त्र कला-रचना सिद्ध होती है।

वाल्मीकि के काव्य का सौन्दर्य दृष्टि-निर्भर है। जबकि मानस का सौन्दर्यसृष्टि-निर्भर। यही कारण है कि वाल्मीकि रामायण का अध्ययन करते समय हम उसके रचयिता की व्यापक, सूक्ष्म, यथार्थ और उदार दृष्टि से प्रभावित होते हैं जबकि मानस का अध्ययन करते समय पूर्ववर्ती साहित्य से गृहीत सामग्री के अन्तर्भाव, संशोधन और संयोजन मे व्यक्त कवि-कौशल के साथ अभीष्ट प्रभाव की सिद्धि के लिये प्रयुक्त युक्तियो, भाषा के लाक्षणिक प्रयोगो, सम्बन्ध-निर्भर रूपक-रचना और नादमय शब्द-चयन एवं छन्द-योजना से अधिक प्रभावित होते हैं। वाल्मीकि रामायण अपनी सहज यथार्थता से हमे प्रभावित करती है तो मानस मे अद्भुत योजन-संयोजन पर हम मुग्ध होते हैं।

सौन्दर्य-विधान की इस भिन्नता के कारण दोनों काव्य अपने पाठको को भिन्न-भिन्न ढंगो से प्रभावित करते हैं-दोनो केसौन्दर्य-विधान के विभिन्न पक्षो की प्रभाव-क्षमता मे भी न्यूनाधिक अंतर है, फिर भी अपनी समग्रता मे दोनो की प्रभाव-क्षमता विपुल है जिसके परिणामस्वरूप वे भारतीय मानस को दीर्घ-काल से सौन्दर्य-निमज्जित करते आये हैं। युग बदलते हैं और युग-मूल्य भी, किन्तु वाल्मीकि और तुलसीदास की सौन्दर्योपलब्धि का मूल्य शाश्वत है।

संदर्भ-ग्रंथ

(अ) आधार ग्रन्थ

वाल्मीकि रामायण—वाल्मीकि, गीता प्रेस, गोरखपुर (महाभारत' पत्रिका, १९६० मे प्रकाशित) ।

रामचरितमानस—तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर, स २०१४ ।

रघुवश—कालिदास, (कालिदास-ग्रथावली मे सकलित, स प सीताराम चतुर्वेदी) ।

अध्यात्म रामायण—स मुनि लाल, गीता प्रेस, गोरखपुर, स १९८६)

प्रसन्नराघव—जयदेव मास्टर खेलाडी लाल एण्ड सस वाराणसी, १९४७ ।

हनुमन्नाटक—मधुसूदन मिश्र क्षेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, स १९८६ ।

(आ) सहायक ग्रन्थ

अभिनव भारती—स आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली १९६० ।

आधुनिक समीक्षा—डॉ देवराज, राजपाल एण्ड सस, दिल्ली, १९५४ ।

उर्वशी—रामधारीसिंह दिनकर, चक्रवाल प्रकाशन, पटना, १९६४ ।

औचित्यविचारचर्चा—क्षेमेन्द्र ।

औचित्य सम्प्रदाय—डा चन्द्रहस पाठक, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी १९६७ ।

कामसूत्र—वात्स्यायन, अनुवादक कविराजा विपिनचद्र बघु, १९६१ ।

कामायनी का प्रतिपाद्य : मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—डॉ जगदीश शर्मा, चिन्मय प्रकाशन जयपुर, १९६७ ।

काव्य मे उदात्त तत्त्व—लाजाइनस, अनु डॉ नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन, राजपाल एण्ड सस दिल्ली, १९५८ ।

काव्य-बिम्ब—डॉ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, १९६७ ।

काव्यशास्त्र—डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी, (प्रधान सम्पादक), भारती साहित्य-मन्दिर दिल्ली, १९६६ ।

काव्य-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र—डॉ, जगदीश शर्मा, भारतीय शोध-सस्थान, गुलाबपुरा, १९६८ ।

काव्यात्मक बिम्ब—अवीगी ब्रजनदन प्रसाद, ज्ञानालोक प्रकाशन पटना, १९६५ ।

काव्यादर्श—दण्डी।

काव्यालंकारसूत्र—सं आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

गोस्वामी तुलसीदास—पं रामचन्द्र शुक्ल, *नागरी प्रचारिणी सभा*, काशी, सं १९८० ।

चिन्तामणि, भाग १—पं रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लि प्रयाग, १९५३।

तुलसीदास—डॉ माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग, १९५३।

तुलसीदास—चन्द्रबली पाण्डेय, शक्ति कार्यालय, इलाहाबाद, सं २००५।

तुलसीदास और उनका युग—डॉ राजपति दीक्षित, ज्ञानमण्डल लि बनारस, सं २००९।

तुलसी की काव्य-कला—डॉ भाग्यवती सिंह, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, १९६२।

तुलसी-दर्शन-मीमांसा—डॉ उदयभानु सिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ, सं २०१८।

तुलसीदास और उनकी कविता, भाग-२—रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी-साहित्य मन्दिर, प्रयाग १९३७।

ध्वन्यालोक—आनन्दवर्द्धन।

नहुष—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन, चिरगाँव, सं २०२३।

नाट्यशास्त्र—भरतमुनि, सं रामकृष्ण कवि, गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज, बडौदा, १९३४।

पातंजल योग-दर्शन—सं हरिकृष्ण गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं २०१७।

प्रतिक्रियाएँ—डॉ देवराज, राजकमल, प्रकाशन, दिल्ली, १९६७।

बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य—डॉ कृष्ण देव झारी, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

भागवत, दशम स्कंध (पूर्वार्द्ध)—सं वीरराघवाचार्य, आनन्द प्रेस, मद्रास, १९१०।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका—डॉ फतहसिंह नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६७।

भाषा-विज्ञान—डॉ. *भोलानाथ तिवारी*, *किताब महल*, इलाहाबाद।

मनोविश्लेषण—सिगमण्ड फायड, (अनु देवेन्द्र कुमार वेदालंकार) राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५८।

मानस की रामकथा—परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, १९५३।

मानस की रूसी भूमिका—प्रो ए पी वारान्निकोव, अनु डा० केसरीनारायण शुक्ल।

मानस-दर्शन—डा० श्रीकृष्ण लाल, आनन्द पुस्तक भवन, बनारस कैंट सं० २००६।

मानस-माधुरी—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, साहित्यरत्न भण्डार, आगरा, १९५८।

यशवन्तभूषणम्—कविराजा मुरारिदान, जोधपुर, सं० १९६४।

यौन मनोविज्ञान—हेवलाक एलिस, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५९।

रसगंगाधर—पंडितराज जगन्नाथ, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।

रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र—डा० निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६७।

रामकथा : उद्भव और विकास—डा० कामिल बुल्के, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग १९६२।

रामकाव्य की भूमिका—डॉ० जगदीश शर्मा, ग्रन्थम्, कानपुर, १९६८।

रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—डॉ० राजकुमार पांडेय अनुसन्धान-प्रकाशन, कानपुर, १९६३।

रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—डा० जगदीश शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद, १९६४।

रामायणी कथा—प्रो० दीनेशचन्द्र सेन, अनु० भगवानदास हालना तथा प० बदरीनाथ शर्मा वैद्य, १९२२।

रामायणकालीन समाज—शान्तिकुमार नानूराम व्यास, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, सं० २०१५।

वक्रोक्ति जीवितम्—कुन्तक।

वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन—डा० रामप्रकाश अग्रवाल, प्रकाशन-प्रतिष्ठान, मेरठ, १९६६।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस—डॉ० विद्या मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ, १९६२।

साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ।

साहित्य-सिद्धान्त—डा० रामअवध द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९६३।

सिद्धान्त और अध्ययन—डा० गुलाबराय, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५५।

सौन्दर्य-तत्त्व—डा सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, भारती भंडार, इलाहाबाद, सं० २०१३।

सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त—डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३।

सौन्दर्य-मीमांसा—इमैनुअल कान्ट, अनु० रामकेवल सिंह, किताबमहल, इलाहाबाद, १९६४।

सौन्दर्यशास्त्र—डा० हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, १९५३।

सौन्दर्यशास्त्र की पाश्चात्य परम्परा—राजेन्द्रप्रतापसिंह, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६२।

सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व—डा० कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६७।

सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्त्व—क्रोचे, अनु० श्रीकान्त खरे, किताब महल, इलाहाबाद, १९६७।

हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९५४।

हिन्दी साहित्य-कोश—डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा (प्र स), प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, सं॰ २०१५।

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव—डॉ॰ सरनामसिंह शर्मा, रामनारायण अग्रवाल, इलाहाबाद, १९५० ।

A Modern Book of Aesthetics—Melvin Rader (ed), Holt Rinehort and Winston Newyork, 1962

An Introduction to Psychology—G Murphy, 1951.

Aristotle s Poetics and Rhetorics etc —T.A Noxon.

Character and the Conduct of Life—W. McDougall.

Comparative Aesthetics, Vol II—Dr. K C. Pandey, Chawkhambha Sanskrit Series Banaras 1956

Contributions to Analytic Psychology—C. G. Jung, Harcourt, Broce & Co , Newyork, 1928

Contemporary Schools of Psychology—R. S Woodworth, Mathuen and Co , London 1960

Introduction to Social Psychology—W. McDougall, Mathuen and Co , London, 1912

Lectures on the Ramayan—V.S. Srinivas Sastri, Madras Sanskrit Academy, 1952

Literature and Psychology—F L Lucas, Cassel and Co , London, 1951

Oxford Lectures on Poetry—A C Bradley, Macmillan and Co. London, 1950

Personality—G Murphy, Harper and Brothers, Newyork, 1937.

Psychological Studies in Rasa—C.B. Rakesh, Aligarh, Ist edition.

Psychology—W B Sargent, The British Universities Press, London, 1958.

Psychology—N.L Munn.

Psychology, the Study of Behavior—W. McDougall Willioms and Norgate, London, 1912

The Sense of Beauty—George Santayna, Dover Publications, Newyork

Understanding Human Nature—A Adler, 1954

(इ) पत्रिकाएँ

विश्वम्भरा—वर्ष ३, अंक १—सं॰ विद्याधर शास्त्री, हिन्दी विश्वभारती अनुसंधान-परिषद्, बीकानेर।

समालोचक (सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक)—सं॰ डॉ॰ रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।